महायोग विज्ञान

★

योगेन्द्र विज्ञानी

वक्तव्य

भारतवर्ष में योग की महिमा सदा से ही चली आयी है। हमारे पूर्वज योग के ज्ञाता ऋषि, मुनि, योगियों ने इस विषय पर कई एक ग्रन्थ लिखे हैं जो अद्यावधि हम लोगों के व्यवहार में आते हैं। योग का विषय जटिल होने से भिन्न २ आचार्यों द्वारा विभिन्न प्रकार से लिखा गया है, इसलिये उन ग्रन्थों से किसी अनुभवी योगी की सहायता के बिना योग को समझना, सीखना और करना सर्व साधारण के लिये सहज साध्य नहीं है तथापि योग के विषय में लोगों की महान् उच्च धारणा है कि योग ही सर्वोपरि विज्ञान और परम कल्याण का प्रशस्त पथ है। वास्तविक हो योग का विज्ञान सर्वोपरि होने पर भी उसका यथातथ्य निहित गूढ़ रहस्य लोग जानने नहीं पाते कि योग कैसे करना चाहिये, योग का फल क्या है और कैसे मिलता है ? इस समस्या को सुलझाने के लिये महायोग के प्रवर्त्तक परम कारुणिक पूज्यपाद श्रीमद् गुरुदेव की इच्छा थी कि महायोग के वास्तविक विज्ञान को ग्रन्थ रूप से प्रकाशित किया जाये ताकि [illegible] जिज्ञासु लोग समझ सकें कि योग क्या और कैसा है।

अतः उनकी आज्ञानुसार उनकी ही परम कृपा से इस ग्रन्थ की रचना हुई है। इस महायोग के विज्ञान के विषय को लिखने के पूर्व इसके साधन करने वाले साधकों को इस विषय में जो आवश्यक उपदेश दिया जाता था, साधकों के आग्रह से उसे अन्य साधकों के लाभार्थ प्रचलित प्रणाली के अनुसार ग्रन्थ रूप में प्रकाशित करने का विचार हुआ परन्तु इस महायोग के विज्ञान के समग्र विषय क्रम-वार किसी एक ही ग्रन्थ में न होने

के कारण यह कार्य सहज साध्य नहीं था, क्योंकि जितने भी आर्ष ग्रन्थ हैं, उन सब ही में महायोग का निहित तत्त्व (गुप्त विषय) सांकेतिक रूप से मिलता है। उसको साधारण लोग तो समझ ही नहीं सकते, संस्कृत की अच्छी योग्यता वाले अनुभव रहित विद्वान् पुरुषों के लिये भी समझना और समझाना सहज नहीं है। तथापि गुरुदेव की आज्ञा और साधकों की इच्छा के वशवर्ती होकर यथामति योग के [illegible]ों को वेद उपनिषद्, दर्शन तथा तंत्र पुराणादि ग्रन्थों से संग्रह कर इस ग्रन्थ में क्रमबद्ध किया गया है ताकि हरेक जिज्ञासु महायोग के रहस्यमय विज्ञान को सरलता से समझ सके।

साधारणतया इस ग्रंथ में जितने भी प्रमाण दिये गये हैं वे सब वेद, उपनिषद, दर्शन, मंत्र, तंत्र, इतिहास पुराणादि आर्ष ग्रन्थों के ही हैं उनमें कोई परिवर्तन नहीं किया गया है। परन्तु पूर्वापर की विषय संगति मिलाने के लिए श्लोकों को ज्यों का त्यों कहीं कहीं आगे पीछे जोड़ दिया गया है। सब श्लोक उपरोक्त शास्त्र ग्रन्थों से उद्धृत किये गये हैं जिनका नाम सहित उल्लेख श्लोकों के प्रारम्भ में ही कर दिया गया है।

इस ग्रन्थ में श्लोकों के शब्दार्थ की अपेक्षा विशेष करके भावार्थ को ही ग्रहण करने की चेष्टा की है सं[illegible]क संस्कृत जानने वाले पाठक इसे पसन्द न करें तथापि [illegible]श्य से प्रेरित होकर वास्तविकता को ही समझने और समझाने का प्रयत्न किया गया है, अतएव विज्ञ पाठक गण इससे थोड़ा बहुत लाभ उठा सकेंगे समझेंगे तो ईश्वर कृपा से लेखक का परिश्रम सार्थक होगा। इति ओम्। योगेन्द्र विज्ञानी।

गुरुवार, आषाढ़ शुक्ल पक्ष, गुरु पूर्णिमा सं० २०१४

११ जौलाई सन् १९५७ ई०

सूची-पत्र

विषय पृष्ठाङ्क

वक्तव्य

मङ्गलाचरण

प्रथम प्रकाश

१ मनुष्य की प्रभुता १

२ ईश्वरज्ञान की आवश्यकता २

३ तुम्हारे कोटि २ जन्म हो गये ३

४ कल्प की गणना ३

५ ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर के समय की संज्ञा ... ६

६ देवताओं की आयु का अनुमान ... ७

७ असंख्य लोकों में सप्त लोक प्रधान हैं ... ८

८ पुण्य कर्म से देवत्व ... ९

९ बिना ज्ञान के शान्ति नहीं ... १०

१० ब्रह्म की सोलह कला का प्रदर्शन ... ११

११ मनुष्य, देव, सिद्ध और अवतार का अर्थ एवं सामर्थ्य १३

१२ अवतारी पुरुष भी अष्ट प्रहर ब्रह्म में संलग्न नहीं रहते १६

१३ तुम मध्य में हो, अपना कर्तव्य विचारो ... १७

द्वितीय प्रकाश

१४ यह शरीर ही ब्रह्माण्ड है २०

विषय			पृष्ठाङ्क
१५ पिण्ड ब्रह्माण्ड की एकता	...	...	२१
१६ शरीर में चतुर्दश भुवन और उनके स्थान		...	२३
१७ शरीर में सप्त द्वीप सप्त सागर	...	...	२५
१८ शरीर में अष्ट कुलाचल पर्वत	...	...	२६
१९ शरीर में सर्वतीर्थ और देवताओं के स्थान		...	२७
२० शरीरस्थ प्रयाग तीर्थ का वर्णन	...	...	३०
२१ प्रयाग तीर्थ का माहात्म्य	...	...	३२
२२ शरीर में षड्चक्र ही महातीर्थ हैं	...	...	३३
२३ मोक्ष मार्ग के द्वार पर कुण्डलिनी शक्ति		...	३७
२४ कुण्डलिनी के उद्‌बोधन से मोक्ष का द्वार खुलता है			३९
२५ ज्ञातव्य तत्त्व सब तुम्हारे में ही हैं	...	...	४०
२६ ध्यान का अर्थ मन को निर्विषय करना		...	४१
२७ वास्तविक ध्यान का स्वरूप	...	...	४५

तृतीय प्रकाश

२८ कल्याण के तीन मार्ग	...	...	४८
२९ मनुष्य जन्म महा दुर्लभ है	...	...	५१
३० अष्टांग योग का उपदेश	...	...	५२
३१ चार श्रेणी के मनुष्य	...	...	५७
३२ गुणदोष कथन	...	...	५९
३३ द्रव्य कथन	...	...	६०
३४ देश, काल का कथन	...	...	६१

विषय			पृष्ठाङ्क
३५ शुद्धाशुद्धि विवेक	...	...	६२
३६ गुण दोष का भेद कल्पित है	...	...	६५
३७ विषयासक्ति का परिणाम	...	...	६६
३८ मनुष्य जन्म की सफलता	...	...	६७
३९ यम, नियम, षट् संपत्ति आदि के लक्षण		...	६८

चतुर्थ प्रकाश

४० तत्त्व विचार	...	...	७३
४१ पुरुष	...	...	७५
४२ प्रकृति	...	...	७६
४३ तत्त्वों की संख्या	...	...	७७
४४ श्री भगवान का अभिमत	...	...	७९
४५ प्रकृति पुरुष का भेद	...	...	८०
४६ भेदाभेद का मूल कारण	...	...	८३
४७ सांख्य योग सृष्टि क्रम	...	...	८५
४८ लय क्रम	...	...	८८
४९ मन की गति विधि गुणों के अधीन है		...	९०
५० गुणों की वृत्तियां	...	...	९१
५१ काल (समय)	...	...	९३
५२ क्रिया कर्म	...	...	९५
५३ फल	...	...	९६

विषय पृष्ठाङ्क

पञ्चम प्रकाश

५४ भारत में ज्ञान मार्ग के संप्रदाय ९७
५५ वेदान्त मार्ग ९७
५६ योग मार्ग ९९
५७ मन्त्र मार्ग १०१
५८ तन्त्र मार्ग १०२
५९ भक्ति मार्ग १०३
६० ज्ञान, योग और भक्ति की एकता १०४
६१ जगत् की पूर्ति नहीं होती १०५
६२ सिद्ध प्रद मार्ग १०६
६३ ज्ञान के लिये शरीर पक्का होना चाहिये ... १०८
६४ महायोग ११२
६५ तप ही मेरी प्राप्ति का मुख्य साधन है ... ११३
६६ प्राण यज्ञ ... ११४
६७ गुरु की आवश्यकता ११७
६८ प्राणायाम की विधि ११९
६९ प्राणायाम का फल १२०
७० मनुष्य जन्म की महिमा १२४

षष्ट प्रकाश

७१ श्री महेश्वर कथित महायोग १२५
७२ महायोग की परम्परा १२८

विषय पृष्ठाङ्क

७३ शैव पाशुपत धर्म १३५
७४ पाशुपत महायोग द्वारा ज्ञान प्राप्ति ... १३८
७५ तत्त्व शुद्धि १३९
७६ धारणाज, ध्यानज और समाधिज प्रज्ञा, विद्योत्पत्ति १४०

सप्तम प्रकाश

७७ योग साधन से प्राप्त आत्मज्ञान दो प्रकार का है योग और ज्ञान का अर्थ विज्ञान है १४५
७८ प्राणायाम से असाध्य कुछ नहीं है, कुण्डलिनी शक्ति जाग उठेगी १४८
७९ आत्म शक्ति के जागने से आश्चर्यजनक अनुभव होंगे १५०
८० प्राणायाम की अवधि नहीं है १५२
८१ शक्ति जागरण से महायोग स्वतः होगा ... १५३
८२ मनुष्य मात्र ज्ञान के अधिकारी हैं, कर्म, जाति अवस्था का भेद तपस्या में नहीं है १५९
८३ कुण्डलिनी गुरु के बिना भी जाग सकती है ... १६०
८४ योग का फल प्रत्यक्ष है १६१
८५ मन के दुष्ट संस्कार बाधा देंगे १६२
८६ कुण्डलिनी शक्ति मन, प्राण और शरीर को सङ्गठित करती है १६३
८७ महायोग की चार अवस्थायें १६३
८८ आरम्भ अवस्था १६४

विषय			पृष्ठाङ्क
८९ घटावस्था	...	...	१६४
९० परिचयावस्था	...	...	१६५
९१ निष्पत्ति अवस्था	...	...	१६८

अष्टम प्रकाश

९२ सम्प्रदाय में दीक्षा की विधि	...	...	१६८
९३ दीक्षा का अर्थ	...	...	१७०
९४ दीक्षा के प्रकार	...	...	१७२
९५ नाम, क्रिया, भेद से दीक्षा के भेद	...	...	१७३
९६ वेदान्त मार्ग में शाम्भवी दीक्षा	...	...	१७५
९७ योग मार्ग में योग दीक्षा तथा शाक्ती दीक्षा		...	१७६
९८ मन्त्र मार्ग में मान्त्री तथा आणवी दीक्षा		...	१८०
९९ आणवी दीक्षा	...	...	१८१
१०० तन्त्र मार्ग में वेध दीक्षा	...	...	१८२
१०१ वशिष्ठ मुनि का गुरुत्व और शक्तिपात के लक्षण			१८५
१०२ अधिकारी भेद से शक्तिपात के फल में तारतम्य			१८७
१०३ भक्ति मार्ग में भी शक्तिपात है	...	...	१८९
१०४ ज्ञान के बीज का गर्भ	...	...	१९१
१०५ दीक्षा का फल मोक्ष है	...	...	१९३

नवम प्रकाश

१०६ कुण्डलिनी शक्ति की स्थिति और स्वरूप		...	१९६

विषय पृष्ठाङ्क

१०७ वेद में महायोग २००
१०८ दीक्षा रहित ज्ञान निष्फल है २०२
१०९ कुण्डलिनी जागरण के लिए दीक्षा की आवश्यकता २०२
११० दीक्षा के लिए सामर्थ्यवान गुरु होना चाहिए ... २०५
१११ असत् शिष्य के लक्षण २११
११२ सत् शिष्यों के लक्षण २१६
११३ असद् गुरु के लक्षण २२०
११४ सद्गुरु के लक्षण २२७
११५ गुरु साक्षात् शिवरूप है २३०

दशम प्रकाश

११६ दीक्षा का स्थान २३५
११७ दीक्षा का समय २३६
११८ दीक्षा ग्रहण की विधि २३९
११९ शिष्य का कर्त्तव्य २४०
१२० गुरु दक्षिणा २४३
१२१ गुरु का कर्त्तव्य २४९
१२२ योग साधनार्थ आसन स्थापन २५५

एकादश प्रकाश

१२३ दीक्षा योग प्रत्यक्ष प्रमाण है २५८
१२४ गुरु दीक्षा २६१

विषय			पृष्ठाङ्क
१२५ सद्गुरु कृपा	...	...	२६४
१२६ नाड़ी शुद्धि की क्रियाय	...	...	२७५
१२७ स्वर विक्रिया	...	...	२७७
१२८ आसन	...	...	२७७
१२९ बंध आदि मुद्रायें	...	...	२७९
१३० प्राणायाम	...	...	२८१
१३१ नौ रस	...	...	२८३
१३२ ये सब क्रियायें अर्थ शून्य नहीं हैं	...	...	२८५
१३३ योग क्रिया द्वारा कर्म निवृत्ति	...	...	२८७

द्वादश प्रकाश

१३४ दीक्षा द्वारा कुण्डलिनी शक्ति की मंत्र सृष्टि		...	२८९
१३५ स्वतः सिद्ध प्रणव	...	...	२९१
१३६ प्रणव नाम ॐ लक्ष्यार्थ है	...	...	२९६
१३७ दिव्य रूप दर्शन	...	...	२९९
१३८ दिव्य दर्शन के प्रकार	...	...	३०१
१३९ दिव्य शब्द नादोत्पत्ति	...	...	३०४
१४० दिव्य नाद के प्रकार	...	...	३०६
१४१ दिव्य नाद श्रवण का फल	...	...	३०६
१४२ दिव्य स्पर्श ज्ञान	...	...	३०८
१४३ दिव्य रस	...	...	३१०
१४४ दिव्य रस के प्रकार	...	...	३११

विषय पृष्ठाङ्क

१४५ दिव्य रस के गुण ३१२

१४६ दिव्य गंध ३१२

त्रयोदश प्रकाश

१४७ ब्रह्म के तीन शरीर ३१४

१४८ कला रूप ब्रह्म ज्योति दर्शन ३१६

१४९ बिन्दु रूप ज्योति दर्शन ३१७

१५० आत्म रूप ब्रह्म ज्योति दर्शन ३१८

१५१ नव चक्र में विभिन्न रूप ब्रह्म ज्योति दर्शन ... ३२१

१५२ आकार रूप ब्रह्म ज्योति दर्शन ३२३

१५३ व्यवहार दशा में ब्रह्म ज्योति दर्शन ... ३२५

१५४ शक्तिपात के प्रकार और फल ३२७

१५५ योग साधन गुप्त रखना चाहिये ३३०

१५६ योग का रहस्य अप्रकाश्य है ३३३

१५७ योग साधन के अन्तराय ३३५

१५८ योग विघ्न का प्रतिकार ३३७

१५९ योग सिद्ध का उपाय ३३९

चतुर्दश प्रकाश

१६० षट्चक्र ज्ञान ३४१

१६१ षट्चक्र के नाम और उनके स्थान ३४२

१६२ षट्चक्र में पंच महाभूत ३४४

१६३ षट्चक्र के अधिष्ठातृ देवता ३४५

विषय पृष्ठाङ्क

१६४ अधिष्ठातृ देवताओं के स्थान ३४७
१६५ षट्चक्र विज्ञान ३४८
१६६ मूलाधार चक्र वर्णन ३४९
१६७ मूलाधार के ज्ञान-ध्यान का फल ३५२
१६८ स्वाधिष्ठान चक्र के ज्ञान-ध्यान का फल ... ३५४
१६९ मणिपूर चक्र के ज्ञान-ध्यान का फल ... ३५५
१७० अनाहत चक्र के ज्ञान-ध्यान का फल ... ३५७
१७१ विशुद्ध चक्र के ज्ञान-ध्यान का फल ... ३५९
१७२ आज्ञा चक्र के ज्ञान-ध्यान का फल ... ३६०
१७३ सहस्रार चक्र के ज्ञान-ध्यान का फल ... ३६३
१७४ षोडशाधार ३६७
१७५ षोडशाधार साधन का भेद ३७१
१७६ त्रिलक्ष ३७९
१७७ लक्ष्य योग आदि मध्य अन्तर्लक्ष ३८१
१७८ पंच व्योम ३८५

पंचदश प्रकाश

१७९ सिद्धि उत्पन्न होने के पांच प्रकार ३८८
१८० दो प्रकार की सिद्धि ३९०
१८१ योग मार्ग में सिद्धियां स्वयं आती हैं ... ३९३
१८२ सिद्धियों से सिद्धों का परिचय ३९५
१८३ सिद्ध पुरुष जीवन मुक्त होता है ३९६

विषय			पृष्ठाङ्क
१८४ सिद्धियों से ईश्वरत्व की संप्राप्ति		...	३९७
१८५ सिद्धियों की प्राप्ति का उपाय	...	...	४०१
षोडश प्रकाश			
१८६ अष्टाङ्ग योग	...	...	४१३
१८७ यम के दश प्रकार	...	...	४१३
१८८ नियम के दश प्रकार	...	...	४२८
१८९ आसन	...	...	४२९
१९० प्राणायाम	...	...	४३४
१९१ प्रत्याहार, धारणा	...	...	४३६
१९२ ध्यान	...	...	४३७
१९३ समाधि	...	...	४३८
१९४ शरीर में नाड़ियां और प्राण वायु का संस्थान		...	४४३
१९५ प्राण के दश नाम और स्थान	...	...	४४४
१९६ पंच भूत के गुण-कर्म	...	...	४४५
१९७ आत्म तत्त्व, विद्यातत्त्व, शिव तत्त्व		...	४४६
१९८ योग चतुष्टय	...	...	४४८
१९९ साधक चतुष्टय	...	...	४५०
२०० मंत्र योग	...	...	४५३
२०१ लय योग	...	...	४५५
२०२ हठ योग	...	...	४५७
२०३ राज योग	...	...	४५८

विषय			पृष्ठाङ्क
२०४ विश्व व्यापी प्राण	...	...	४५६
२०५ प्राण वायु नहीं है	...	...	४६०
२०६ प्राण ही महाशक्ति है	...	...	४६२

सप्तदश प्रकाश

२०७ मंत्र की आवश्यकता	...	...	४६३
२०८ मंत्र शक्ति प्रत्यक्ष है	...	...	४६६
२०९ मंत्र का अर्थ	...	...	४६७
२१० मंत्र का स्वरूप	...	...	४६९
२११ मंत्र के गुरु	...	...	४७२
२१२ शिव गुरु का ज्ञान-ध्यान	...	...	४७६
२१३ मंत्र प्रदाता गुरु के लक्षण	...	...	४८२
२१४ मंत्र जप का स्थान	...	...	४९६
२१५ सिद्ध पीठ	...	...	४९८
२१६ मंत्र जप में भोजन	...	...	५०१
२१७ मंत्र जप के लिये आसन	...	...	५०३
२१८ मंत्र के प्रकार	...	...	५०४
२१९ मंत्र के दोष और नाम	...	...	५०७
२२० मंत्र के संस्कार	...	...	५०९
२२१ मंत्र चैतन्य और कुण्डलिनी जागरण		...	५१३
२२२ मंत्र के साथ योग साधन	...	...	५१६
२२३ प्राण योग	...	...	५१७

विषय			पृष्ठाङ्क
२२४ मंत्र सिद्ध योग	...	...	५२०
अष्टादश प्रकाश			
२२५ तंत्र शास्त्र में तत्त्वज्ञान	...	...	५२५
२२६ दिव्य कुलाचार	...	...	५२९
२२७ अष्टादश विद्या	...	...	५३६
२२८ ज्ञानी पुरुष के शास्त्र	...	...	५३८
२२९ देवता के दर्शन	...	...	५४२
२३० भगवान श्रीकृष्ण की तपस्या	...	...	५४६

शक्तिपात विद्या के चरित्र-नायक ब्रह्मलीन श्री गुरुओं की परम्परा और उनके उत्तराधिकारी

- स्वामी गंगाधरतीर्थ जी (ब्रह्मलीन सन् १८८९)
  - स्वामी नारायणतीर्थ देव जी (ब्रह्मलीन सन् १९३५)
    - स्वामी शंकर पुरुषोत्तमतीर्थ जी (ब्रह्मलीन सन् १९५८)
      - स्वामी लोकनाथतीर्थ जी (ब्रह्मलीन–१९५४)
        - सन्त गुलवणी जी पूना (महाराष्ट्र)
      - स्वामी नारायणतीर्थ जी बनारस व उत्तरकाशी (उ.प्र.)
    - सन्त योगेन्द्र विज्ञानी (ब्रह्मलीन सन् १९५९)
      - स्वामी विष्णुतीर्थ जी (ब्रह्मलीन–१९६९)
        - स्वामी शिवोऽमतीर्थ जी देवास (म० प्र०) व ऋषिकेश (उ०प्र०)
      - सन्त उपाध्याय जी (ब्रह्मलीन–१९५२)
      - माता रमाबाई जी (ब्रह्मलीन–१९६८)
      - ठाकुर मानसिंह जी लश्कर–ग्वालियर (म.प्र) (ब्रह्मलीन–)
        - ठाकुर कृपालसिंह

महायोग-प्रवर्तक—

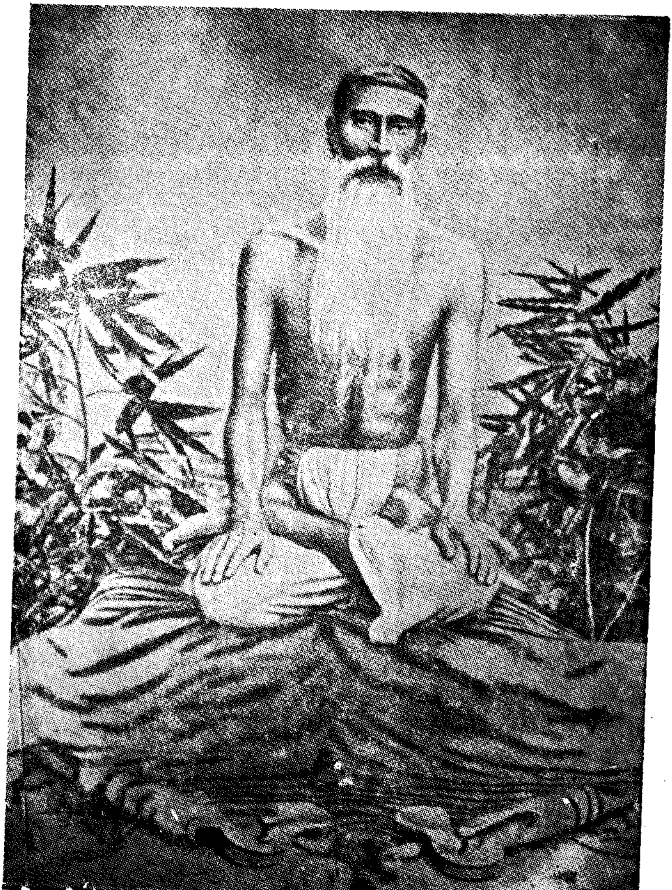

ब्रह्मलीन श्री श्री १००८

श्रीमद् गुरु नारायण तीर्थ देव, योगाचार्य

परब्रह्मणे नमः

अथ महायोग विज्ञान प्रारम्भः

* मगंलाचरणम् *

शिवं नत्वा शिवां चापि शिवसुनुं पुनः पुनः ।
शिवं कुर्वन्तु सर्वेऽपि सर्वदा सदनुग्रहाः ॥
यतो जातानि भूतानि जीवन्ति यदनुग्रहात् ।
यस्मिन्नेव लयं यान्ति तस्मै चिद्ब्रह्मणे नमः ॥
चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षुषः सूर्योऽजायत ।
यद्विभूतिर्जगत्सर्वं तस्मै चिद्ब्रह्मणे नमः ॥
शङ्करं शङ्कराचार्यं केशवं बादरायणम् ।
सूत्र भाष्य कृतौ वन्दे भगवन्तौ पुनः पुनः ॥
नित्यं शुद्धं निराभासं निराकारं निरञ्जनम् ।
नित्यबोध चिदानन्दं गुरुब्रह्म नमाम्यहम् ॥

देव गुरु वन्दनम्

यो भक्त विघ्नौघ विनाश शील:
सत्सिद्धि सम्पादन भूरि लील: ।
श्रेयो निमित्त विनयेन नित्यम्,
तं भावये योगिजनै: समित्थम् ॥१॥

यो देवदेव: शमिलोक सेव:
जागर्ति संसार हिते सदैव ।
तं योगिगम्यं भुवनैक नम्यं
नमामि भक्तया भव नाम धन्यम् ॥२॥

शक्तया सनाथं यतिलोक नाथं
गङ्गाधरं भावित योग पाथम् ।
सिद्धेश्वरं लोक हितैषिवर्य्यं
नमामि भक्तयाभ्दुत साधु चर्य्यम् ॥३॥

नारायण योग कला प्रदानं
शान्त स्वभाव कलितात्मभानम् ।
भक्त प्रियं दिव्य गुणावतारं
वन्देगुरुं तं परमार्थ सारम् ॥४॥

सिद्धेश्वरा ये भुवनोपकार
वितन्वते योग गतिप्रसारम् ।
तांल्लोक कल्याण विधान लग्नान्
सश्रद्धमीडे शिव भक्ति मग्नान् ॥५॥

* ॐ तत्सत् *

अथ महायोग विज्ञान

—★—

प्रथम प्रकाश

मनुष्य की प्रभुता

भागवत, एकादश स्कन्ध, अध्याय ७-६

एक द्वित्रि चतुष्पादो बहु पादस्तथाऽपदः ।
बह्व्यः सन्ति पुरः सृष्टास्तासां मे पौरुषी प्रिया ॥२२॥

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयात्मशक्तया ।
वृक्षान्सरीसृप पशून्खगदंशमत्स्यान् ॥
तैस्तैरतुष्ट हृदयः पुरुषं विधाय ।
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः ॥२८-६॥

श्री भगवान् ने कहा कि मैंने एकपाद, द्विपाद, त्रिपाद, चतुष्पाद एवं बहुपाद तथा अपाद रूप से नाना प्रकार के प्राणियों के शरीरों की रचना की है, परन्तु उन सब में मनुष्य शरीर ही मुझे अधिक प्रिय है। श्री भगवान् ने अपनी अजेय आत्मशक्ति माया से वृक्ष योनि तथा सरक के चलने वाले सर्प, छिपकली, कीड़े-मकोड़े, मक्खी-मच्छर एवं पशु-पक्षी आदि स्थलचर जीव-जन्तु और जलचर मत्स्य, मकर, ग्राह आदि नाना प्रकार की

योनियां रचीं। परन्तु उनसे सन्तुष्ट न होकर फिर भगवान् ने ब्रह्म दर्शन की योग्यता वाले इस मनुष्य शरीर को रचा। धर्म अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त करने के सामर्थ्य वाला तथा सब योनियों के भोक्ता इस पुरुष शरीर कों रच कर भगवान् अत्यन्त प्रसन्न हुये। इसलिये, हे मनुष्यों ! परमात्मा ने तुम्हारे ही उपभोगार्थ जगत् में सब कुछ बनाया है। पशु-पक्षी, जीव-जन्तु, चर-अचर इत्यादि सब के तुम स्वामी हो। जगन्नियंता ने तुम्हें दिव्य ज्ञान के लिये बल, बुद्धि, तेज युक्त सुन्दर शरीर दिया। तुम्हारे ही बुद्धि बल से सद्विद्या, सत् शास्त्र अज्ञात को ज्ञात कराते हैं। तुम ही ईश्वर के ज्ञान की सारी सामग्री हो। ईश्वर का क्रीड़ा-स्थान सर्वत्र होने पर भी तुम्हारे मनुष्य शरीर से भगवान अपना भाव प्रकट करते हैं।

ईश्वर ज्ञान की आवश्यकता

तुम्हें स्मृति होगी कि इस सृष्टि का आधिपत्य किसी व्यक्ति विशेष के लिये नहीं है, परन्तु तुम्हारे ही परस्पर कर्मफल भोगार्थ है। अतएव जिनकी शासन-सत्ता से सारा ब्रह्माण्ड स्वयं कार्य कर रहा है, जिनकी शासन सत्ता सब को ही माननी पड़ती है, ऐसे ब्रह्माण्डाधिपति परमेश्वर की महिमा तुम्हें जाननी चाहिये। उनके अनुग्रह के बिना तुम त्राण नहीं पा सकते। जन्म-मरण रूप दुःख भोगते-२ तुम्हारा वास्तविक ज्ञान विकृत हो गया है। ऐसे संशय युक्त विपरीत ज्ञान से तुम अपना अभीष्ट—धर्म, काम और मोक्ष कुछ नहीं पा सकते। तुम्हें सावधान होकर, सत् असत् का विचार करके, सत् का ग्रहण और असत् का त्याग करना चाहिये।

तुम्हारे कोटि कोटि जन्म हो गये

जब से सृष्टि हुई है तब से आज तक तुम ईश्वर से नहीं मिल सके। प्रलय में तुम ईश्वर से मिलोगे, परन्तु अज्ञान रूप से ही मिलोगे। ऐसे मिलने से क्या लाभ ? जैसे किसी व्यक्ति को क्लोरोफार्म करके चाहे कहीं ले जायं या कुछ भी करें उसे उनका भान नहीं होता, तद्रूप प्रकृति तुम्हें प्रलयकाल में अपने में लेकर ईश्वर में लीन होगी। उस अवस्था में तुम्हारा ज्ञान अन्धकारमय, कर्मफल से आवृत होगा, सो कल्पारम्भ में पुनः सुख दुःख भोगने के लिए तुम्हारे शरीर बनते रहेंगे। इसी तरह जन्म मरण (आवागमन) का चक्कर काटते-२ तुम्हारे कोटि-२ जन्म हो गये और होते रहेंगे। आज तक तुमने जितने शरीर धारण किये हैं उनका हिसाब लगा के देखोगे तो तुम्हें आश्चर्य होगा कि तुम हो कहां ?

कल्प की गणना

शिवपुराण, वायवीय संहिता पूर्वार्द्ध, अध्याय ८

पूर्वं कृतयुगं नाम ततस्त्रेता विधीयते।
द्वापरञ्च कलिश्चैव युगान्येतानि कृत्स्नशः ॥१२॥

चत्वारि तु सहस्राणि वर्षाणां तत्कृतं युगम्।
तस्य तावच्छती सन्ध्या सन्ध्यांशश्च तथाविधः ॥१३॥

इतरेषुससन्ध्येषु सन्ध्यांशेषु च त्रिषु।
एकापायेन वर्त्तन्ते सहस्राणि शतानि च ॥१४॥

एतद्द्वादश साहस्रं साधिकञ्च चतुर्युगम् ।
चतुर्युग सहस्रंयत् स कल्प इति कथ्यते ।।१५।।

जितने समय में पलक लगता है उतने समय को निमेष कहते हैं। पन्द्रह निमेष की काष्टा होती है। तीस काष्टा की एक कला होती है, तीस कला का एक मुहूर्त्त, तीस मुहूर्त्त का एक दिन-रात होता है। पन्द्रह दिन-रात का एक पक्ष, दो पक्ष का एक मास होता है। एक मास का पितरों का दिन रात-शुक्ल पक्ष पितरों का दिन और कृष्ण पक्ष रात्रि है। छः महीने का एक अयन और दो अयन का एक वर्ष होता है। मनुष्यों के एक वर्ष का देवताओं का एक दिन रात होता है, उसमें उत्तरा-यण देवताओं का दिन और दक्षिणायन रात्रि है। मनुष्यों के तीस वर्ष में देवताओं का एक मास होता है और मनुष्यों के ३६० वर्ष में देवताओं के बारह मास का एक दिव्य वर्ष होता है। उस दिव्य वर्ष के प्रमाण से शास्त्रों में युग संख्या कही गई है।

शास्त्रकार विद्वानों ने सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि नाम के चार युग माने हैं। इनमें ४००० दिव्य वर्षों का सतयुग, ४०० दिव्य वर्षों की उसकी सन्ध्या और ४०० दिव्य वर्षों का सन्ध्यांश होता है। युग के प्रथम भाग में सन्ध्या और अन्त में सन्ध्यांश होता है। परन्तु सतयुग के बिना दूसरे युगों के सन्ध्या और सन्ध्यांश एक-एक पाद कम होते हैं अर्थात् त्रेतायुग ३००० दिव्य वर्ष और उसकी सन्ध्या ३०० वर्ष, तथा सन्ध्यांश ३०० वर्ष द्वापर २००० दिव्य वर्ष, उसकी सन्ध्या सन्ध्यांश दो-दो सौ वर्ष, कलियुग की आयु १००० दिव्य वर्ष तथा सन्ध्या और सन्ध्यांश एक-एक सौ वर्ष। इस प्रकार चारों युग सन्ध्या और सन्ध्याशों

सहित १२००० दिव्य वर्षों के होते हैं। चारों युग की संख्या मिल कर १२००० दिव्य वर्षों की एक चतुर्युगी होती है। हजार चतुर्युगी का एक कल्प कहलाता है।

युगों की आयु के प्रमाण में मनुष्यों के मानवीय वर्षों की संख्या नीचे लिखे अनुसार है :—

युगों के नाम	मानवीय वर्ष	पूर्व संध्या के वर्ष	पर संध्या के वर्ष	योग
सतयुग	१४४००००	१४४०००	१४४०००	१७२८०००
त्रेतायुग	१०८००००	१०८०००	१०८०००	१२९६०००
द्वापरयुग	७२००००	७२०००	७२०००	८६४०००
कलियुग	३६००००	३६०००	३६०००	४३२०००

इस हिसाब से एक चतुर्युगी में देवताओं के १२००० दिव्य वर्ष होते हैं और मनुष्यों के ४३२०००० मानवीय वर्ष होते हैं और ऐसी ७१ चतुर्युगियो का एक मन्वन्तर होता है। एक कल्प में १४ मन्वन्तर या मनु होते हैं। इस प्रकार हजारों मन्वन्तर और कल्प बीत गये, उन्हें कोई नही जान सकता न उनकी संख्या हो सकती है। एक कल्प में ब्रह्मा का एक दिन होता है और उतनी ही बड़ो रात्रि होती है, इस प्रमाण से सौ वर्ष की ब्रह्मा की आयु मानी गई है। उसमें ब्रह्मा जी के ५० वर्ष बीत चुके हैं, इक्यावनवे का आरम्भ हो रहा है। इस कल्प में जब सृष्टि आरम्भ हुई है यह अट्ठाईसवां कलियुग चलता है। १७२८००० वर्षों का सतयुग, १२९६००० वर्षों का त्रेतायुग, ८६४००० वर्षों का द्वापरयुग और ४३२००० वर्षों का कलियुग

होता है। उसमें भी इस कलियुग के ५०५५ वर्ष व्यतीत हुये हैं— इस संख्या को मिलाकर देखोगे तो पता चलेगा कि तुम्हें जन्म लेते और मरते कितने लक्ष लक्ष वर्ष व्यतीत हो चुके हैं तथापि तुम्हें अभी तक विश्राम नहीं मिला। यदि इस मनुष्य जन्म में भी तुमने अपने कल्याण का कोई उपाय न किया तो तुम्हारा और कोई ठिकाना नहीं है।

ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वर के समय की संज्ञा

शक्ति तंत्रे

चतुर्युगसहस्राणि दिनमेकं पितामहम्।
पितामहसहस्राणि विष्णोश्च घटिका स्मृता॥
विष्णोरेक सहस्राणि पलमेकं महेश्वरम्।
महेश्वरसहस्राणि शक्तेरर्द्धपलं भवेत्॥

एकादश स्कन्ध, अध्याय १०

लोकानां लोकपालानां मद्भयं कल्पजीविनाम्।
ब्रह्मणोऽपि भयं मत्तो द्विपरार्द्ध परायुषः॥३०॥

इस प्रकार सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुग नाम के चार युगों की एक चतुर्युगी होती है, ऐसी हज़ार चतुर्युगी का ब्रह्मा का एक दिन होता है। ब्रह्मा के दिन में सृष्टि उत्पन्न होकर रहती है और उसी हिसाब से ब्रह्मा की रात्रि में यह सृष्टि पुनः लय हो जाती है। इतने बड़े ब्रह्मा के एक दिन के हिसाब से पक्ष, मास, संवत्सर का हिसाब लगाया जाय तो अंक भी हार मानते हैं। ऐसे सौ वर्ष की ब्रह्मा की आयु है। ब्रह्मा की समाप्ति के

साथ यह दृश्य अदृश्य सारा ब्रह्माण्ड नष्ट हो जाता है। ऐसे हजार ब्रह्मा हो जाते हैं तब विष्णु की घड़ी होती है। ऐसे हजार विष्णु हो जाते हैं तब महेश्वर का एक पल होता है और जब हजार महेश्वर हो जाते हैं तब कहीं मेरी शक्ति का आधा पल होता है। इसी कालक्रम से ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वर आदि सभी चले जायेंगे क्योंकि काल का भय मात्र मनुष्यों को ही है ऐसा नहीं है किन्तु लोक, कल्पजीवी लोक, लोकपाल और बड़ी लम्बी आयु वाले ब्रह्मा को भी मुझ कालरूप से मृत्यु का भय है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर और महाशक्ति की आयु के हिसाब से मनुष्यों की आयु तो नाममात्र भी नही गिनी जा सकती तथापि, हे मनुष्यों ! तुम अपने को न जाने क्या समझते हो ?

देवताओं की आयु का अनुमान

यह तो हुई तुम्हारे ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वर के समय की संज्ञा, परन्तु उनसे नीचे देवता हैं कि जिनकी आयु का अनुमान भी पुराणकर्त्ताओं ने लगाया है। जिस लोक में तुम निवास करते हो उसका नाम भूलोक है। इसमें रहने वाले मनुष्य मर्त्यलोक वासी कहलाते हैं क्योंकि यहां पर मरने के लिये हो जन्म होता है। यहां का रहन सहन, मरना जीना तुम जानते हो। परन्तु यहां से ऊपर के जो लोक हैं उनको तुम शास्त्र से या अनुमान से जान सकोगे अथवा तपस्या करके अनुभव से भी जान लोगे। वहां वालों की प्रकृति तुम्हारी प्रकृति से भिन्न है तथापि तुम्हारी आयु की तरह ऊपर वाले अमर देवताओं की आयु भी निर्दिष्ट है।

असंख्य लोकों में सप्तलोक प्रधान हैं

एकादश स्कन्ध, अध्याय २४

भूर्भुवः स्वर्महश्चेति जनश्चैव तपस्तथा ।
सप्तमः सत्यलोकस्तु सप्त लोका इति स्मृताः ॥
सोऽसृजत्तपसा युक्तो रजसा मदनुग्रहात् ।
लोकान्सपालान्विश्वात्मा भूर्भुवः स्वरिति त्रिधा ॥११॥

देवानामोक आसीत्स्वर्भूतानां च भुवः पदम् ।
मर्त्यादीनां च भूर्लोकः सिद्धानां त्रितयात्परम् ॥१२॥

इस दृश्य ब्रह्माण्ड में कोटि-२लोक हैं। आकाश में जितने तारे हैं, वे सब लोक ही हैं उन सब लोकों में देवादि प्राणी वास करते हैं। वे भी काल पाकर समय में प्राप्त होंगे। ब्रह्माण्ड में जितने लोक हैं, उन असख्य लोको में सप्त लोक, भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्य लोक मुख्य कहे हैं। सृष्टि के आरम्भ में विश्वात्मा ब्रह्मा ने तपस्या की और मेरे अनुग्रह से रजोगुण द्वारा लोकपालों सहित भूः, भुवः, स्वः, इन तीनों लोकों की रचना की एवं हर एक प्राणी के कर्मानुसार सब का वास स्थान नियत किया। स्वर्ग लोक देवताओं का निवास स्थान है, भुवर्लोक भूतगणों के लिये है और भूः लोक मृत्यु लोक वासी मनुष्यादि प्राणियों के लिये है। सिद्धों के रहने के स्थान इन तीनों लोकों से ऊपर महर्लोक, जनलोक, तपलोक आदि हैं।

अधोऽसुराणां नागानां भूमेरोकोऽसृजत्प्रभुः ।
त्रिलोक्यां गतयः सर्वाः कर्मणां त्रिगुणात्मनाम् ॥१३॥

योगस्य तपसश्चैव न्यासस्य गतयोऽमलाः ।
महर्जनस्तपः सत्यं भक्ति योगस्य मद्गति ॥१४॥

मया कालात्मना धात्रा कर्म युक्तमिदं जगत् ।
गुणप्रवाह एतस्मिन्नुन्मज्जति निमज्जति ॥१५॥

जगत् प्रभु ब्रह्मा ने असुर और नागों के लिये भूर्लोक से नीचे के लोक बनाये हैं। तीनों लोकों में त्रिगुणात्मक कर्मानुसार सब प्राणियों की गतियां होती हैं। इसलिये हर एक प्राणी अपने अपने सात्विक, राजसिक और तामसिक कर्मानुसार ऊपर, मध्य में और नीचे जाते आते रहते हैं। योग, तप और संन्यास से महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोक आदि उत्तम लोकों की प्राप्ति होती है, परन्तु भक्तियोग से मेरा परमधाम मिलता है। इसी तरह मुझ काल रूप विधाता की प्रेरणा से यह जगत कर्मकलाप में पड़ा हुआ गुणों के वेग से कभी उछलता है और कभी डूबता है। सत्वगुण प्रधान एवं शुद्ध सत्त्व वाले देवादि प्राणी ऊपर के लोकों में वास करते हैं। उनको और उनके लोकों को तुम अपनी स्थूल दृष्टि से नहीं देख सकते। ऐसे ही नीचे पाताल आदि लोकों में रहने वाले असुर, नाग आदि तमोगुण एवं घोर तमोगुण वाले प्राणियों और उनके लोकों को भी तुम नहीं देख सकते हो। इनको देखने के लिये ज्ञानमयी दिव्य दृष्टि चाहिये।

पुण्य कर्म से देवत्व

एकादश स्कन्ध, अध्याय १०

इष्ट्वेह देवता यज्ञैः स्वर्लोकं याति याज्ञिकः ।
भुञ्जीत देववत्तत्र भोगान्दिव्यान्निजार्जितान् ॥२३॥

तावत्प्रमोदते स्वर्गे यावत्पुण्यं समाप्यते ।
क्षीणपुण्यः पतत्यर्वागनिच्छन्काल चालितः ॥२६

तुम यहां अच्छे पुण्य कर्म करके देवता हो सकते हो। यहां पर, मृत्युलोक में, जो लोग सुख भोगने की इच्छा से कामना करके यज्ञ, दान, जप, तप, योग साधन आदि सत्कर्म करते हैं, वे ही सकामी लोग मरने के बाद यहां से ऊपर स्वर्ग आदि लोकों में जाते हैं एवं वहां के उपयुक्त शरीर धारण कर दिव्य भोग भोगते हैं। वहां वालों की आयु यहां वालों की अपेक्षा अपने पुण्य कर्मानुसार शतगुण, सहस्रगुण, लक्षगुण एवं कोटिगुणा अधिक होती है। जिनका जैसा प्रबल पुण्य कर्म होता है, उन्हें वैसा ही स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक आदि की प्राप्ति होती है और लोकानुसार अधिकाधिक सुख एवं आयु भी पाते हैं। यहां तक कि ब्रह्मा तक की आयु तक ब्रह्म लोक में सुख भोगते हैं और पुण्य क्षीण होते ही मृत्यु लोक में आते हैं। इस तरह देवत्व पाकर भी तुम्हारा आवागमन से निस्तार नहीं है।

बिना ज्ञान के शान्ति नहीं

अतएव पूर्ण ब्रह्म परमात्मा के ज्ञान को नहीं पाकर कोई भी चिर सुखी नहीं हो सकता। शास्त्र कथनानुसार तुम अपनी आयु; बल, बुद्धि का अनुमान लगा सकते हो और अपने पुरुषार्थ से आवागमन रूप भव-व्याधि मिटाकर परम सुखी हो सकते हो। कल्प की गणना की स्मृति करने से यह उचित है कि तुम्हें निश्चिन्त नहीं रहना चाहिये। ज्ञान के लिये प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि ज्ञान प्राप्त करना ही परम कर्त्तव्य है।

ब्रह्म की सोलह कला का प्रदर्शन

परमात्मा परिपूर्ण है। वह अव्यक्त है, अतीन्द्रिय है, सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म है और महान् से भी महान् है। उसका कोई पारावार नहीं। ब्रह्म अंश और कला रूप से सारे ब्रह्माण्ड में प्रकाशित होता है। ऊर्ध्व स्थित सूर्य, ब्रह्म का साक्षात् विष्णु रूप अंश—आदित्य मण्डलान्तर्गत पुरुष, ईश्वर रूप से मनुष्यों को बल, बुद्धि, तेज देकर पालन करता है। सूर्य ही सब प्राणियों का जीवन है। साक्षात् परमात्मा की प्रत्यक्ष विभूति भास्कर भगवान को तुम नित्य देखते हो। वह सोलह कला वाला पूर्ण ब्रह्म ही सर्वत्र है, परन्तु सब की दृष्टि में नहीं आता। उसको देखने के लिये दिव्य चक्षु चाहिये।

ब्रह्म की स्थूल कला का अवलम्बन करके सूक्ष्म को देखने वाले समदर्शी महात्मा पुरुषों का कथन है कि सोलह कला में पूर्ण ब्रह्म होता है। जैसे सोलह आने में एक रुपया होता है। एक रुपये में बारह आने, दस आने, आठ आने, छः आने, चार आने और दो आने के हिसाब से पूरे रुपये की शक्ति अंश रूप में बट जाती है और मूल्य में अल्पाधिकपना आ जाता है। ठीक तद्रूप ब्रह्म सोलह कला का होते हुए भी "पादोऽस्य विश्वानि भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि:" इत्यादि श्रुति कथनानुसार ब्रह्म का सामर्थ्य विभाजन करके समझाया जाता है।

पूर्ण ब्रह्म निराकार का कोई पारावार नही है, तो भी वही अंश और कला रूप से चराचर जीव-जीन्तु में प्रकाशित हो रहा है। उसका प्रकाश किस योनि में, किस वस्तु में, किस परिमाण से अर्थात् दो-चार-छ: आने की तरह कैसा प्रकाशित होता है,

यह उसकी शक्ति का निश्चय करना तुम्हारी स्थूल बुद्धि के ज्ञान से परे की बात है, तो भी मनुष्य अपनी २ योग्यता अनुसार बुद्धि से या युक्ति से, अनुमान लगाते ही हो। इसी तरह मङ्गलमय परमेश्वर की प्रकाश शक्ति का अनुमान करके अपने अभीष्ट की सिद्धि कर सकते हो।

जगत् में जो कुछ दीखता है, उसमें स्थावर परमात्मा की एक कला की शक्ति के सूचक हैं। जङ्गम में कीट पतङ्ग आदि परमात्मा की चार कला की शक्ति के प्रकाशक हैं। पशु-पक्षी परमेश्वर की छः कला के सामर्थ्य को प्रकट करते हैं। छः से ऊपर सात, आठ कला वाले मनुष्य ईश्वर की आधी शक्ति की महिमा को पाते हैं। ईश्वर का आधा सामर्थ्य तुम में है, इसलिये जगत् में तुम सब प्राणियों के स्वामी और श्रेष्ठ हो क्योंकि तुम्हारे ही भोगार्थ जगत् है। जब तुम्हें अपनी शक्ति का वास्तविक बोध होगा तब तुम समझ सकोगे कि तुम्हारे लिये जगत् में कोई कार्य असाध्य नहीं है। तुम से ऊपर ईश्वर की आठ से दश कला की महिमा प्रकाशित करने वाले अलौकिक ऐश्वर्य युक्त देवता हैं और उन देवताओं ही की श्रेणी में परमात्मा की दश से बारह कला की शक्ति रखने वाले अणिमादि महाऐश्वर्य युक्त, काम चारित्वादि सिद्धि-सम्पन्न सिद्ध कहलाते हैं। बारह से ऊपर सोलह कला तक तुम्हारे ही सङ्कट उद्धार के लिये भगवान् अवतार संज्ञा में आते हैं। इसी तरह ब्रह्म की शक्ति, कला और अंश रूप से, प्रकाशित होती है।

मनुष्य देव सिद्ध और अवतार का अर्थ एवं सामर्थ्य

तुम मनुष्य ही अपने गुण-कर्म से देव सिद्ध और अवतार हो सकते हो। तुम में जब शास्त्र कथित दिव्य गुणों का आविर्भाव होगा, तब इसी शरीर से देव कहलाओगे और दिव्य गुण का फल दैवी शक्ति का विकास रूप ऐश्वर्य अनुभव करने से सिद्ध होंगे। जब तुम मनुष्य ही देव और सिद्ध संज्ञा में पहुँचोगे तब तुम्हारे में अलौकिक अद्भुत सामर्थ्य आ जायगा एवं इस सृष्टि में वैषम्य घटाने की शक्ति हो जायेगी। तब तुम परमात्मा की दश कला की शक्ति विकास करने वाले देव और बारह कला के सामर्थ्य वाले सिद्ध कहलाओगे। और जब तुम अधर्म का उच्छेद करके धर्म की स्थापना करोगे, दुष्टों का दमन और शिष्टों का पालन कर जिस काल में जैसी आवश्यकता हो अपनी आत्म-शक्ति से सम्पादन करोगे, तब बारह कला से ऊपर ईश्वर का अवतार कहलाओगे।

जैसे देवता कहने से तुम्हें आकाश की ओर देखना पड़ता है, वैसे ही अवतार कहने से राम, कृष्ण, बुद्ध, शङ्कराचार्य आदि की स्मृति होती है क्योंकि अवतार के नाम से राम, कृष्ण की ही प्रधानता समझी जाती है। परन्तु शब्दार्थ से स्पष्ट होता है कि दिव्य गुणयुक्त शक्ति वाले देव और अणिमादि ऐश्वर्य, संङ्कल्प-सिद्धि संपन्न सिद्ध होते हैं। वे चाहे आकाश में रहें या मृत्यु लोक में ही रहें, उसमें कोई हानि लाभ नहीं। क्योंकि तुम मनुष्य ही अच्छे कर्म से देव होगे, बुरे कर्म से पशु होगे और यदि जगत् में कोई महान् कार्य करने की तुम्हारी प्रबल वासना होगी तो अवतार होगे। जो कार्य तुम्हारी शक्ति से असाध्य

है, यदि आवश्यकता हुई तो, भगवान स्वयं करेंगे । वह भी तुम्हारे मनुष्य शरीर से ही सम्पादित होगा। अतएव दैत्य, दानव, देव, सिद्ध और अवतार तुम ही होगे। तुम्हारे ही लिये इस पृथ्वी पर बड़े-बड़े उत्पात होते हैं और जब तक तुम यहां रहोगे, होते ही रहेंगे। तुम्हारे ही निमित्त यह जगत् बना है।

पुराण कर्त्ताओं ने मनुष्य में परमात्मा की सामान्य और विशेष शक्ति का प्रकाश देखकर शक्तिमान् को अवतार संज्ञा दी है। ये अवतार तुमसे विशेष शक्ति वाले पुराण में चौबीस कहे हैं। उनमें से दश बड़े और उन दश में भी दो—राम और कृष्ण को प्रधान माना है जो कुछ भी हो, मानना न मानना तुम्हारी इच्छा पर है। जो अवतीर्ण होता है वही अवतार है माता के उदर से उत्पन्न हुए सब ही अवतार शब्द के अर्थ में आ जाते हैं, परन्तु पुराण का मत है कि उसमें शक्ति विकास का तार-तम्य है। जो सामर्थ्य रखते हैं वे ही अवतार भगवान पदवाच्य होते हैं। वैसे अवतीर्ण हुए—जन्म लिया, इसलिये अवतार शब्द का अर्थ आने में सार्थक होता है, परन्तु देखना है कि अवतार होते हैं किस कार्य के लिये ?

राम, कृष्ण, बुद्ध, शङ्कर की आलोचना तुम सब ही करते हो। इन चार पुरुषों ने धर्म की रक्षा की थी, अधर्म का उच्छेद किया था, अपने आत्म-बल से सबको अपनी इच्छा पर चलाया था, इसलिये अवतार कहलाये। परन्तु जगत् में धर्माधर्म बढ़ने में देर भी नहीं लगती। वर्षा का जल नदियों में आ जाता है और नदियां मैला जल समुद्र में पहुंचा देती हैं। हर साल वर्षा काल में ऐसा ही होता रहता है। इसी तरह अवतार का

भी आवागमन समय विशेष में होता रहता है। अवतीर्ण कोई आकाश से नहीं होता, इसलिए लोग झगड़ा मचाते हैं कि अवतारी पुरुष का सामर्थ्य देखकर अवतार मानना चाहिए, और वह सामर्थ्य है परमात्मा की कला शक्ति का विकास। सो भगवान् के जितने अवतार हुए हैं उनमें सभी अंश और कला रूप से हुए हैं। परन्तु पुराण में श्री कृष्ण को पूर्ण ब्रह्म कहा है— "एते चांश कलाः पुँसः कृष्णस्तु भगवान स्वयं" श्री कृष्ण पूर्ण ब्रह्म हुए थे। उनका कहा हुआ गीता का ज्ञान तुम्हारे लिए महा-कल्याण-प्रद है। गीता का कथन है कि वह तो स्वयं भगवान् हैं—माया को अधीन करके जन्म लेते हैं। तुम जीव माया के अधीन हो कर जन्म लेते हो। तुम में और उनमें आकाश-पाताल का अन्तर है। माया उनके अधीन है, तुम माया के अधीन हो। जब तुम अवतार संज्ञा में आओगे तो भी उनके सदृश्य नही हो सकते, क्योंकि उनका कार्य तुम्हारी शक्ति का नही है।

श्री राम भी अवतार थे और परशुराम भी अवतार थे। एक समय दोनों मिल गये। परस्पर को न पहचानने के कारण दोनों में झगड़ा हो गया था। परशुराम ने क्षत्रियों का नाश किया था। श्री राम क्षत्रिय थे, उन्होंने राक्षसों का नाश किया था। इसी तरह अवतार के विषय की समस्या तुम्हारे लिये बड़ी हीं विवादास्पद है। परन्तु तुम्हें मान लेना चाहिये कि भगवान के लिये कोई कार्य असाध्य या असम्भव नही है। चाहे वह स्वयं पूरा करें अथवा औरों से करावें, उसमें तुम्हें हानि-लाभ

नहीं है। परन्तु परमाथ का दृष्टि से ब्रह्म की शक्ति को सीमा-बद्ध नहीं कर देना चाहिए।

अवतारी पुरुष भी अष्ट प्रहर ब्रह्म में संलग्न नहीं रहते

महाभारत, अश्वमेध पर्व—१६–६

अर्जुन उवाच

यत्तु तद् भवता प्रोक्तं पुरा केशव सौहृदात् ।
तत्सर्वं पुरुष व्याघ्र नष्टं मे व्यग्र चेतसः ॥

श्री भगवानुवाच

श्रावितस्त्वं मया गुह्यं ज्ञापितश्च सनातनम् ।
न च माद्यंपुनर्भूयः स्मृतिर्मे संभविष्यति ॥
न शक्यं तन्मया वक्तुमशेषेण धनञ्जय ।
परं हि ब्रह्म कथितं योग युक्तेन तन्मया ॥

भगवान् श्री कृष्ण ने अर्जुन से अपने पूर्ण ब्रह्म होने का पूरा परिचय देकर भी कहा था कि शरीर धारी अवतारी पुरुष भी सर्वदा काल पूर्ण ब्रह्म भाव में नहीं रहते। जब महाभारत का युद्ध समाप्त हो गया और महाराज युधिष्ठिर का राज्याभिषेक हो गया, तब भगवान् श्री कृष्ण अर्जुन से कहने लगे कि कहो अर्जुन और कोई बात बाकी है? तब महाराज अर्जुन ने कहा कि भगवन् आपके अनुग्रह से हम युद्ध जय कर सके हैं और हमारा राज्य हमें पूर्ववत् प्राप्त हो गया है, यह तो

तो व्यवहार है। परन्तु, हे केशव ! आपने कृपा करके युद्ध क्षेत्र में मुझे जो गीता का ज्ञान कहा था, वह चित्त की व्यग्रता के कारण मेरा सब नष्ट हो गया है। अतएव कृपया वह पुनः कहिये। तब श्री कृष्ण भगवान् बोले कि हे अर्जुन ! तमने बड़ी भूल की जो उस ज्ञान को अच्छी तरह याद न रख सके। वह परम सनातन गुह्य ज्ञान मैंने उस समय योगावलम्बन करके तुमको दिया था। ऐसा उस समय कहा हुआ दिव्य ब्रह्मज्ञान अब मैं नहीं कह सकूँगा। आज उसका स्मरण मुझे नहीं है, इसलिए समग्र नहीं कहा जा सकता तथापि अब भी जो मैं कहूंगा उसमें भी तुम्हारा मङ्गल होगा। इसके बाद भगवान् श्री कृष्ण ने अर्जुन के प्रति अनुगीता कही। अतएव इससे ही तुमको समझ लेना चाहिये कि अवतारी पुरुष भी अष्ट प्रहर योग में संलग्न नहीं रहते। इसी तरह तुम भी सर्वदा काल ब्रह्म में निमग्न नहीं हो सकते। जब तक शरीर के साथ तुम्हारा सम्बन्ध है, तब तक तुमको आवश्यकतानुसार सभी कर्म करने पड़ेंगे।

तुम मध्य में हो—अपना कर्त्तव्य विचारो

ब्रह्म की स्थिति सब कर्मों से परे है, शेष उसको ही प्राप्त करना है। तुम मनुष्य परमात्मा की आधी-शक्ति के मध्य में हो तुम्हारे ऊपर देव, सिद्ध और अवतार हैं तथा नीचे पशु, पक्षी, कीट पतङ्ग आदि हैं। तुम्हारे ऊपर वाले मात्र सुख ही भोग रहे हैं और नीचे दुःख ही भोग रहे हैं। तुम मनुष्य ही एक ऐसे हो जो सुख और दुःख दोनों एक साथ ही भोगते हो। यदि तुम चाहो तो नीचे पशु पक्षी भी हो सकते हो और

चाहो तो देव, सिद्ध अवतार भी हो सकते हो। ऊपर वाले बड़े सुखी होने से क्या होगा ? उन्हें कर्म करने का अधिकार नहीं है, इसलिए जो कमाई यहां की थी वही निःशेष कर रहे हैं। कर्म-फल पुण्य समाप्त होते ही यहां आवेंगे। जैसे ऊपर वाले सुख भोग कर यहां फिर कमाने आवेंगे, तैसे ही नीचे वाले पशु-पक्षी आदि भी दुःख भोगकर क्रम से क्रमानुसार कभी यहां ही आवेंगे। बीच में आकर खड़े होने के लिये ऊपर से भी आवेंगे और नीचे से भी आवेंगे। सदा बिश्राम करने के लिये तुम्हारा मनुष्य जन्म ही उत्तम और श्रेयस् का साधक है। इस लिए अब तुम अपनी बुद्धि से नीचे, ऊपर दृष्टि करके देख लो कि क्या करना है, कहां जाना है ? ठीक कर लो।

यदि तुम्हें नीचे जाना है। तो खाओ, पीओ, मौज करो, ईश्वर रहो न रहो, तुम्हें तो सुख के लिये धन ही चाहिये। वह चाहे न्याय से हो, चाहे अन्याय से। नीचे आने में बाधा या कष्ट नही है। पहाड़ से नीचे उतरने में देर नहीं लगती। इसी तरह यदि तुम अपने भाग्य को नष्ट करना चाहो तो कर सकते हो परन्तु पीछे तुम्हें महा अनुताप करना पड़ेगा। यदि तुम ऊपर जाना चाहो तो तुम्हे सत्य-मिथ्या, न्याय-अन्याय, धर्म-अधर्म के बड़े-बड़े विचार करने पड़ेंगे। पर्वत के ऊपर चढ़ने में क्लेश तो है ही, परन्तु क्लेश का फल सुख भी मिलेगा। यदि तुम सब क्लेशों के दुःख को यही सिर पर ले लोगे तो परम सुखी हो जाओगे।

दोनों बातें तुम्हारे लिये यहीं हैं क्योंकि तुम बीच में खड़े हो। मध्य में रहने वाले आगे-पीछे अच्छी तरह देख सकते हैं

ऐसे ही तुम भी अपने भाग्य के विधाता हो, चाहे जो कर सकते हो। तुम्हारे लिये उपयुक्त और अनुकूल यही समय है। समय चूक जाने से कार्य-सिद्धि रह जाती है, अनुताप होता है। अतएव आक्षेप न करके तुम्हें परम शान्ति ही पानी है तो उसका उपाय योग, जप, तप, तीर्थ, व्रत, प्रायश्चित्, यज्ञ, दान आदि सभी कर्म करने चाहियें जो आगे कहे जायेंगे।

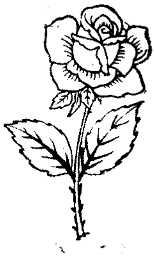

द्वितीय प्रकाश

यह शरीर ही ब्रह्माण्ड है

अतएव अब तुम कर्म की गति-विधि, सृष्टि की स्थिति तथा देवता, सिद्ध और अवतार का अर्थ एवं ब्रह्म के भाव को समझ गये होगे और यह भी समझ गये होगे कि बिना आत्मज्ञान लाभ किये मनुष्यों को परम शान्ति नहीं मिल सकती। इसलिये मनुष्य जन्म का महत् उद्देश्य, परमार्थ लाभ करने का परम कर्त्तव्य, तुमने ठीक कर लिया होगा। इस कर्त्तव्य की उद्देश्य-सिद्धि के लिये तुम्हें अपने शरीर से और कहीं बाहर जाने की आवश्यकता नही है क्योंकि जो तुम प्राप्त करना चाहते हो और प्राप्त करोगे वह सत्यस्वरूप ईश्वर तुम्हारे अन्तर में ही है।

त्रिकालदर्शी आत्माराम योगियों का कहना है कि विश्व-कर्त्ता परमेश्वर ने मनुष्यों को असीम शक्ति दे रक्खी है, जिसके बल से मनुष्य सब कुछ जान सकते और कर सकते हैं। बुद्धि-मान पुरुषार्थी मनुष्यों के लिए जगत् में कोई कार्य असम्भव या असाध्य नहीं है। तथापि मन्दबुद्धि वाले मनुष्य होने वाले जन्म-मरण रूप दुःख की भावना नहीं करते और बाहर तीर्थों को नहीं जानने वाले बहुत से अज्ञानी मनुष्यों की यह धारणा है कि ज्ञानी और ज्ञान बाहर के तीर्थों में मिलते हैं, इसलिये वे लोग तीर्थों में जाते हैं। उनमें बहुत से लोग तो तीर्थों का

माहात्म्य, स्वर्गादि फल की प्राप्ति सुन कर मुग्ध हो जाते हैं एवं मरने के पश्चात् स्वर्ग में सुख भोगने की इच्छा से दान, पुण्य, हवन, जप, तप, व्रत आदि कर्म करते हैं। ऐसे स्वर्ग सुख के लोभी, अविवेकी मनुष्य जन्म के महत् उद्देश्य आत्मज्ञान प्राप्ति, से वञ्चित रहते हैं। तैसे ही जो मुमुक्षु अपने स्थित ईश्वर को न खोज कर प्राप्त विवेक-साधन छोड़ कर बाहर तीर्थों में ईश्वर को ढूंढ़ते हैं, वे भी ज्ञान से विमुख रहते हैं। क्योंकि जिन तीर्थों में ईश्वर मिलते हैं वे तुम्हारे मनुष्यकृत तीर्थ नहीं हैं, किन्तु तुम्हारे ही शरीर के अन्दर में मंगलविधाता ने सब तीर्थ बना रखे हैं जिनको कि तुम लोग जानते ही नहीं हो।

ईश्वर ने विश्व की रचना करके मनुष्य शरीर को ब्रह्माण्ड की प्रतिमूर्ति (नमूना) बना कर उसमें अपने ज्ञान का समावेश किया ताकि मनुष्य अपने में ही यावत् विश्वस्थित पदार्थ के ज्ञान को सहज में जान सके और भोग सके। उसको और कहीं जाना न पड़े।

पिण्ड ब्रह्माण्ड की एकता

शिव संहिता, द्वितीय पटल

देहेऽस्मिन् वर्त्तते मेरुः सप्तद्वीपसमन्वितः।
सरितः सागराः शैलाः क्षेत्राणि क्षेत्रपालकाः ॥१॥

ऋषयो मुनयः सर्वे नक्षत्राणि ग्रहास्तथा।
पुण्यतीर्थानि पीठानि वर्त्तन्ते पीठदेवताः ॥२॥

सृष्टिसंहारकर्त्तारौ भ्रमन्तौ शशिभास्करौ ।
नभो वायुश्च वह्निश्च जलं पृथ्वी तथैव च ॥३॥
त्रैलोक्ये यानि भूतानि तानि सर्व्वाणि देहतः ।
मेरुं संवेष्ट्य सर्व्वत्र व्यवहारः प्रवर्त्तते ॥४॥
जानाति यः सर्वमिदं स योगी नात्र संशयः ॥५॥

इसलिये श्री महेश्वर कहते हैं कि जिन तीर्थों का वेद, पुराण आदि शास्त्र बड़ा भारी माहात्म्य कहते हैं, जो सब पापों से मनुष्यों को मुक्त करते हैं और अपने २ अभीष्ट धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष को देते हैं एवं जहां साक्षात् ईश्वर विराजमान हैं, वे तीर्थ स्थान और बाहर ब्रह्माण्ड के लोकलोकान्तर सभी कुछ तुम्हारे में ही हैं। अतएव इस शरीर के भीतर सप्त द्वीप समन्वित सुमेरू पर्वत और नदियों के समूह तथा सागर, पर्वत, क्षेत्र, क्षेत्रपाल, ऋषि, मुनि, ग्रह, उपग्रह, यावतीय नक्षत्र समूह, सब पवित्र तीर्थ, सिद्धपीठ तथा पीठों के देवता आदि अवस्थित हैं। काल को उत्पन्न करने वाले, सृष्टि संहारकारी सूर्य-चन्द्र शरीर के भीतर ही परिभ्रमण करते हैं और आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी आदि त्रैलोक्य में जो कुछ है, वह समस्त इस शरीर में ही विद्यमान है। सभी सुमेरु को वेष्टन करके सम्यक् प्रकार से स्थित हैं एवं सब के ही अपने २ कार्य यथा-विधि सम्पादित होते रहते हैं। इस प्रकार जो वस्तु बाहर ब्रह्माण्ड में है, वह सब इस पिण्डरूप शरीर में भी व्यवस्थित है। जो इन सब विषयों को अपने अन्तर में जानता है, वही निस्सन्देह ज्ञानी, महात्मा, योगी है।

शक्तानन्द तरिङ्गिणी

पिण्ड ब्रह्माण्डयोरैक्यं शृणिवदानीम्प्रयत्नतः ।
पातालभूधरा लोकास्तथाऽन्ये द्वीपसागराः ॥
आदित्यादिग्रहाः सर्वे पिण्डमध्ये व्यवस्थिताः ।
पिण्डमध्ये तु तान ज्ञात्वा सर्वसिद्धीश्वरो भवेत् ॥

श्री महेश्वर भगवती पार्वती देवी के प्रति बोले कि हे देवि ! अब पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता कहता हूं, सो सुनो ! पाताल से लेकर स्वर्गादि लोक पर्यन्त जितने लोक हैं, वे सब तथा सप्त द्वीप, सात सागर, अष्ट कुलाचल एवं आदित्यादि ग्रह इत्यादि जो कुछ बाहर ब्रह्माण्ड में दीखते हैं, वे सभी शरीर में विद्यमान हैं । इन सबको अपने शरीर में जानने से मनुष्य सब प्रकार की सिद्धियों का स्वामी हो जाता है ।

शरीर में चतुर्दश भुवन और उनके स्थान

निर्वाण तंत्र, तत्व सार तथा प्राण तोषणी तंत्र

इदानीम्पिण्डमध्ये तु सप्तलोकं शृणु प्रिये ।
भूर्भुवः स्वर्महश्चेति जनश्चैव तपस्तथा ॥१॥
सप्तमः सत्यलोकस्तु सप्तलोका इति स्मृताः ।
तलं तलातलञ्चेति महातल रसातलम् ॥२॥
सप्तपातालमतत्तु सुतलं वितलं तथा ।
सप्तलोकैस्तु पालालैर्भुवनानि चतुर्द्दश ॥३॥

हे देवि ! शरीर में जिस २ स्थान में जो वस्तु जहां २ है,

उसको सुनो—भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्गलोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोक, ये सात लोक कहलाते हैं। तल, तलातल, महातल, रसातल, सुतल, वितल तथा पाताल, ये सात पाताल हैं। सप्तलोक और सप्तपाताल मिलकर चौदह भुवन कहलाते हैं।

मूलाधारे तु भूर्लोक स्वाधिष्ठाने भुवस्ततः।
स्वर्लोको नाभिदेशे च हृदये तु महस्तथा ॥४॥
जनलोकं कण्ठदेशे तपलोकं ललाटके।
सत्यलोकं महारन्ध्रे इति लोकाः पृथक् पृथक् ॥५॥
तलम्पादांगुष्ठतले तस्योपरि तलातलम्।
महातलं गुल्फ मध्ये गुल्फोपरि रसातलम् ॥६॥
सुतलं जङ्घयोर्मध्ये वितलं जानुमध्यगम्।
ऊर्वोर्मध्ये तलम्प्रोक्तं सप्तपातालमीरितम् ॥७॥

मूलाधार में भूलोक, स्वादिष्ठान में भुवर्लोक, नाभि में स्वर्गलोक, हृदय में महर्लोक, कंठ में जनलोक, ललाट में तपलोक और ब्रह्मरन्ध्र में सत्यलोक है। इसी प्रकार कटि देश से उपरिस्थान में पृथक् २ ये ऊपर के सात लोक हैं और ऐसे ही पग से ऊपर कटि पर्यन्त सात पाताल लोक हैं। पांवों के तले में तल लोक तथा पांव के उपरिभाग में तलातल लोक है। गुल्फ के बीच में महातल लोक एवं गुल्फ के ऊपर रसातल लोक है। दोनों जंघा के मध्य में सुतल लोक, जानु के मध्य में वितल लोक और उरुओं के मध्य में पाताल लोक है। इस प्रकार यह सप्त पाताल कहलाते हैं। नीचे के सात पाताल और ऊपर के

सात लोक मिलकर चौदह भुवनों का नाम ब्रह्माण्ड है।

मनुष्य अपने किये हुये कर्मानुसार बाहर के इन चौदह भुवनों में कर्मफल, सुख-दुःख, भोगने के लिये जाते आते रहते हैं। परन्तु जब मनुष्यों को इनका ज्ञान अपने शरीर में ही हो जाता है। तो उसका जन्म-मरण—आने जाने का दुःख—सदा के लिये मिट जाता है और वे परम सुखी हो जाते हैं।

शरीर में सप्तद्वीप और सप्तसागर

सप्तद्वीपानि कथ्यन्तेऽधुना तानि शृणु प्रिये।
जम्बूः शाकस्तथा शाल्मः कुशः क्रौञ्चश्च गोमयः॥
श्वेतः सप्तेति द्वीपानि सप्तखण्डा वसुन्धरा॥८॥
समुद्राः सप्तकथ्यन्ते पिण्डमध्ये व्यवस्थिताः।
लवणेक्षु सुरासर्पिर्दधि दुग्ध जलान्तकाः॥९॥

हे देवि! पृथ्वी पर के सात द्वीप और सात समुद्र शरीर में हैं। उनके नाम और स्थान कहता हूँ, सुनो—जम्बू द्वीप, शाक द्वीप, शाल्मली द्वीप, कुश द्वीप, क्रौञ्च द्वीप, गोमय द्वीप और श्वेत द्वीप, इन सात द्वीपों वाली पृथ्वी है और उस पर आस पास लवण, इक्षुरस, मदिरा, घृत, दही, दूध और जल के समुद्र हैं। ये सात समुद्र पृथ्वी के प्रत्येक द्वीप के पृथक् २ हैं।

अस्तिस्थाने महेशानि जम्बुद्वीपो व्यवस्थितः।
मांसेषु च कुशद्वीपः क्रौञ्चद्वीपः शिरासु च॥१०॥
शाकद्वीपः स्मृतो रक्ते प्राणिनां सर्वसन्धिषु।
तदूर्ध्वं शाल्मलीद्वीपः प्लक्षश्च लोमसञ्चये॥११॥

नाभौ च पुष्करद्वीपः सागरस्तदनन्तरम् ।
लवणोदस्थता मूत्रे शुक्रे क्षीरोदसागरः ॥१२॥
मज्जा दधिसमुद्रश्च तदूर्ध्वं घृतसागरः ।
वसापः सागरः प्रोक्त इक्षु स्यात्कटिशोणितम् ॥
शोणिते च सुरासिन्धुः कथिताः सप्तसागराः ॥१३॥

हे देवि ! अस्थि स्थान में जम्बू द्वीप स्थित है, मांस में कुश द्वीप, शिराओं में क्रौंच द्वीप, प्राणियों के शरीर में सब सन्धि स्थान के रक्त में शाक द्वीप और उसके ऊपर चर्म में शाल्मली द्वीप है। लोम समूह में गोमय प्लक्ष द्वीप और नाभि में श्वेत-पुष्कर द्वीप है। इसके बाद शरीर में सात सागर हैं। प्रस्वेद या मूत्र में खारे जल का लवण समुद्र है, शुक्र में दूध का क्षीर सागर है। मज्जा में दही का समुद्र है। उसके परे मेद घृत का सागर कहलाता है। नाभि देश के रक्त में इक्षु-रस का मीठा समुद्र है एवं रक्त में सुरा का समुद्र है। इस प्रकार शरीर में ये सप्त सागर हैं।

शरीर में अष्ट कुलाचल पर्वत

इदानीम्पर्वताष्टौ च कथ्यन्ते शृणु यत्नतः ।
सुमेरुर्हिमवान् विन्ध्यो मलयो मन्दरस्तथा ॥१४॥
श्रीशैलो मैनाकश्चेति कैलासोऽष्टौ च पर्वताः ।
मेरुदण्डे सुमेरुस्तु पीठमध्ये हिमालयः ॥१५॥
वामस्कन्धे तथा दक्षे मलयो मन्दराचलः ।
विन्ध्यस्तु दक्षिणे कर्णे वामे मैनाक ईश्वरि ॥१६॥

ललाटे मध्यदेशे तु श्रीशैलः परमेश्वरि ।
तथा ब्रह्म कपाटस्थः कैलासः पर्वतो महान् ॥१७॥

अब तीर्थरूप अष्ट कुलाचल (बड़े आठ पर्वत) कहता हूँ, सुनो ! सुमेरू, हिमवान, विन्ध्याचल, मलय, मन्दराचल, श्रीशैल पर्वत, मैनाक और अष्टम कैलास पर्वत है। इस शरीर के मेरू-दण्ड में सुमेरु पर्वत है, पीठ में हिमालय है, वाम-स्कन्ध में मलयाचल एवं दक्षिण-स्कन्ध में मन्दराचल है । विन्ध्याचल दायें कान में तथा बायें कान में मैनाक पर्वत है। ललाट के मध्य देश में श्रीशैल पर्वत है और ब्रह्मकपाट में आठवां महान् कैलास पर्वत है।

शरीर में सर्वतीर्थ और देवताओं का स्थान

गङ्गा सरस्वती गोदा नर्मदा यमुना तथा ।
काबेरी चन्द्रभागा च वितस्ता च इरावती ॥१८॥

द्विसप्ततिसहस्रेषु नदी नद परिस्रवाः ।
इतस्ततो देहमध्ये ऋक्षाश्च पञ्चविंशतिः ॥१९॥

योगाश्च राशयश्चैव ग्रहाश्च तिथयस्तथा ।
करणानि च वाराश्च सर्वेषां स्थापनं तथा ॥२०॥

सर्वांगेषु च देवेशि समग्रमृक्षमण्डलम् ।
त्रयस्त्रिंशत्कोटयस्तु निवसन्ति च देवताः ॥२१॥

इस प्रकार शरीर में गङ्गा, यमुना, सरस्वती, गोदावरी, नर्मदा, सिन्धु, कावेरी, चन्द्रभागा, वितस्ता और इरावती

इत्यादि नदियां हैं। शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियां हैं, वे सब नदी और नदरूप से जहां तहां बहती रहती हैं। ऐसे ही शरीर में पन्द्रह तिथि, सात वार और सत्ताईस नक्षत्र, राशि तथा अट्ठाईस योग, सात करण, ग्रह-उपग्रह इत्यादि समग्र नक्षत्र मण्डलसह तैंतीस कोटि देवता इस शरीर के सब अङ्गों में जहां तहां अपने-अपने स्थान में निवास करते हैं।

तथा पोठानि सर्वाणि देहमध्ये स्थितानि च।
हृदये व्योममध्ये तु अनन्ताद्यास्तु वासुकिः ॥२२॥

उदये व्योम मध्ये तु परे नागा वसन्ति हि।
गन्धर्वाः किन्नरा रक्षा विद्याधराप्सरादयः ॥२३॥

अनेकतीर्थं वर्णाश्च गुह्यकाश्च वसन्ति हि।
प्रकृतिः पुरुषो देहे ब्रह्मा विष्णु शिवस्तथा ॥२४॥

अनन्तसिद्धयो बुध्या प्रकाशो वर्त्तते हृदि।
ब्रह्माण्डे ये गुणाः सन्ति ते तिष्ठन्ति कलेवरे ॥२५॥

शरीर में पंच प्राण, मन, नाद, बिन्दु, कला, ज्योति तथा षट् चक्र, मेरूदण्ड और उड्डीयान, जालन्धर एवं कामरूप, पूर्ण-गिरि और श्रीहट्टक महापीठ आदि सब कुछ देह के मध्य में स्थित हैं। शरीरस्थ हृदयाकाश में अनन्त गन्धर्व, किन्नर, रक्ष, विद्याधर, अप्सरा, गुह्यक आदि नाना प्रकार की जाति के देवता लोग निवास करते हैं और अनेक प्रकार के तीर्थ इस में ही हैं। क्योंकि प्रकृति पुरुषरूप इस मनुष्य देह के परमाकाश में परम देवता ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव स्वयं विराजमान हैं, अतएव उनके

अनन्त सामर्थ्य सिद्धि के ज्ञान को देने वाला प्रकाश सर्वदा हृदय में हो रहा है। इसलिये बाहर ब्रह्माण्ड में जो सब गुण हैं, वे सब शरीर में ही रहते हैं।

शिव संहिता, द्वितीय पटल

ब्रह्माण्डसंज्ञके देहे स्थानानि स्युर्बहूनि च।
मयोक्तानि प्रधानानि ज्ञातव्यानीह शास्त्रके ॥३७॥
नाना प्रकार नामानि कथितुं नैव शक्यते।
ब्रह्माण्डे यानि वै सन्ति तानि सन्ति कलेवरे ॥३८॥
ते सर्वे प्राण संलग्नाः प्राणातीतो निरञ्जनः।

इस देहरूप ब्रह्माण्ड में कहने, सुनने, देखने और जानने के बहुत से स्थान हैं। उनमें से मैंने प्रधान-प्रधान स्थानों को इस योग शास्त्र में संक्षेप से कहा है, क्योंकि शरीर के भीतर में जिस-जिस नाम से, नाना प्रकार के, जो-जो स्थान और जो विषय हैं, उन सबका यथातथ्य कथन नहीं किया जा सकता। इसलिये ईश्वर से मिलने की इच्छा वाले साधकों को निश्चय पूर्वक जान लेना चाहिए कि जो कुछ दृश्यादृश्य बाहर ब्रह्माण्ड में है, वही सब तुम्हारे शरीररूपी पिण्ड में भी है। वे सब प्राण में ही सलग्न हैं। इसलिये प्राण के सहारे से, प्राण की सहायता से, तुम उनको देख सकते हो, जान सकते हो, वे सब प्राण के ही अन्तर्गत हैं। परन्तु निरञ्जन परमात्मा प्राण से भी परे है।

ज्ञान संकलिनी तंत्र

इदं तीर्थमिदं तीर्थं भ्रमन्ति तामसा जनाः।
आत्मतीर्थं न जानन्ति कथं मुक्ता वरानने ॥

श्री महेश्वर कहते हैं कि अपने अन्तर में ही सब कुछ होने पर भी स्वतन्त्र मनवाले स्वेच्छाचारी तामसिक लोग, वास्तविक प्रायश्चित के और मुक्ति पाने के स्थान, अन्तर के तीर्थो को छोड़कर बाहर के प्रयागादि तीर्थों में और इधर-उधर भटकते हैं। उनकी मुक्ति कैसे हो सकती है ? क्योंकि अपने में स्थित प्रयागादि तीर्थ में नहीं जाने से कोई मुक्त नहीं हो सकता है। इसलिये विधाता ने सृष्टि के साथ ही वेद में उपदेश दे रखा है कि यदि तुम्हें दिव्यलोक प्राप्ति की इच्छा है या मोक्ष पाना है, तो ये दोनों तुम अपने में ही पा सकते हो। जगत् में, तुम जीव और मैं शिव, दो हो हैं। तुम जीव बाहर में हो, मैं शिब अन्तर में हूँ यदि तुम मुझसे मिलना चाहो तो अन्दर में आना होगा। इसलिये मैंने सब कुछ अन्दर ही रखा है ताकि तुम्हें और कहीं जाना न पड़े। तुम मुझको बाहर खोजने जाओगे तो मैं तुम से नहीं मिलूँगा और तुम मुझसे नही मिल सकोगे। अतएव यदि तुमको मेरे दिव्यलोक-प्राप्ति की कामना है तो अन्तर के प्रयाग तीर्थ में नहाना और परमशान्तिमय, सदा आनन्दधाम, मुक्ति पाने की इच्छा हो तो वहीं मर जाना।

शरीरस्थ प्रयाग तीर्थ का वर्णन

वेद में प्रयाग तीर्थं ऋ.वे. खिलसुक्त १०-७५

सिताऽसिते सरिते यत्र संगते तत्राऽप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति।
ये वै तन्वं विसृजन्ति धीरास्ते जनासो अमृतत्वम्भजन्ते ॥

यत्र गङ्गा च यमुना च यत्र प्राची सरस्वती।
यत्र सोमेश्वरो देवस्तत्र माममृतं कृधि ॥

परम कल्याणकर ईश्वर का एवं वेद का महावाक्य है कि जो लोग अपने अन्तर में स्थित गंगा-यमुना नदी के संगम, त्रिवेणी स्थान प्रयाग में, स्नान करते हैं वे दिव्य ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं और यदि वहां पर प्राण त्याग करते हैं तो वे ज्ञानी लोग मोक्ष पाते हैं। अतएव गंगा और यमुना के संगम में नहाओगे तो दिव्य लोक चले जाओगे और यदि वहां पर मर जाओगे तो अवश्य जीवन्मुक्त हो जाओगे। क्योंकि जहां गंगा, यमुना तथा पूर्ववाहिनी सरस्वती मिलती हैं और जहां सोमेश्वर देव हैं, वहीं मुक्ति होती है।

रुद्रयामल तंत्र, पटल २५

इडा भागीरथी गङ्गा पिंगला यमुना नदी।
इडापिंगलयोर्मध्ये सुषुम्ना च सरस्वती ॥१॥

त्रिवेणी संगमो यत्र तीर्थराजः स उच्यते।
तत्र स्नानम्प्रकुर्वन्ती सर्वपापै प्रमुच्यते ॥२॥

सर्गता ध्वजमूलं च विमुक्ता भ्रू वियोगतः।
त्रिवेणीयोगः सा प्रोक्ता तत्र स्नानं महाफलम् ॥३

इडा नाड़ी का नाम भागीरथी गंगा है, पिंगला नाड़ी का नाम यमुना नदी है और इडा पिंगला के मध्य में सुषुम्णा सरस्वती कहलाती है। जहा इन तीनों नाड़ियों का संगम होता है, वह स्थान तीर्थराज प्रयाग कहलाता है। जो कोई वहां पर स्नान करते हैं, वे सब पापों से मुक्त हो जाते हैं। तुम्हारे शरीर में इन तीनों नाड़ियों का उत्पत्ति स्थान मूलाधार कमल है। मूलाधार से निकल कर, भ्रूमध्य स्थित आज्ञाचक्र में इडा,

पिंगला, सुषुम्णा, (गंगा-यमुना, सरस्वती) इन तीनों का सँगम होता है और वहीं पर सोमेश्वर देव हैं। यहां से इडा पिंगला (गंगा-यमुना) श्वास-प्रश्वास से बाहर बहती और अन्दर सुषुम्णा (सरस्वती) गुप्त ही सहस्रार में समा जाती है। इन तीनों नाड़ियों का संगम त्रिवेणी योग कहलाता है। यहा पर स्नान करने का बड़ा भारी फल है। यहां पर मन और प्राण को पहुँचाने वाले दिव्य लोक के अधिकारी होते हैं और यदि यहां प्राण त्याग किया जाय तो तत्काल हो मोक्ष पा जाते हैं। अतएव बाहर के तीर्थों की कल्पना करके तुम ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन करते और मुझसे पृथक् होते हो। यदि सर्व कर्म बन्धन से छूट कर मुक्ति पानी है तो अच्छी तरह तुम्हें समझ लेना चाहिए कि अपने में जो प्रयाग तीर्थ है उसी से पा सकते हो।

•

प्रयाग तीर्थ का महात्म्य

शिव संहिता, पञ्चम पटल

गङ्गायमुनयोर्मध्ये वहत्येषा सरस्वती।
तासां तु संगमे स्नात्वा धन्यो याति परां गतिम् ॥१७५॥
सिताऽसिते संगमे यो मनसा स्नानमाचरेत्।
सर्व पापविनिर्मुक्तो याति ब्रह्म सनातनम् ॥१७७॥
त्रिवेण्यां संगमे यो वै पितृकर्म समाचरेत्।
तारयित्वा पितृन्सर्वान्स याति परमां गतिम् ॥१७८॥
इडा गंगा पुरा प्रोक्ता पिंगला चार्कपुत्रिका।
मध्ये सरस्वती प्रोक्ता तासां सङ्गोऽतिदुर्लभः ॥१७६॥

गङ्गा और यमुना के मध्य में सरस्वती (सुषुम्णा) बहती है। उनके सङ्गम में जो लोग स्नान करते हैं वे धन्य हैं और वे ही स्नान करके कृतार्थ होकर परागति—ज्ञान लाभ करते हैं। इसलिये जो कोई भी मनुष्य गंगा और यमुना के सङ्गमरूप प्रयाग में मन से स्नान करते हैं वे लोग सब पापों से मुक्त होकर मुझे सनातन ब्रह्म को पाते हैं और यहां पर त्रिवेणी के संगम में जो लोग अपने पितरों का तर्पण, श्रद्धादि मानसिक कर्म करते हैं वे भी अपने सब पितरों का उद्धार करके मोक्ष-धाम को जाते हैं। अतएव, जैसा पहले कहा, इडा नाड़ी का नाम सरस्वती कहलाता है। इन तीनों के संगमरूप इस प्रयाग तीर्थ का मिलना अतीव दुर्लभ है।

इडासुषुम्णो शिवतीर्थकेऽस्मिन् ज्ञानाम्बुपूर्णे बहतः शरीरे।
ब्रह्माम्बुभिः स्नातितयोः सदायः किन्तस्य गांगैरपि पुष्करैर्वा ॥१

इडा, पिंगला और सुषुम्णा नदियां मेरे शिव तीर्थ हैं, जो ज्ञानरूपी जल से पूर्ण तुम्हारे शरीर में बहती हैं। उस ब्रह्म जल में जो लोग सदा स्नान करते हैं उनको बाहर की गंगादि नदियों में तथा पुष्करादि तीर्थों में जाने का क्या काम है।

शरीर में षट्चक्र ही महातीर्थ हैं

रुद्रयामल तंत्र, पटल २१

इडा मूलस्थाननिवासिनी या।
सूर्यात्मिका यमुना प्रवाहिका ॥

तथा सुषुम्णा मूलदेशगामिनी।
सरस्वती रक्षति मज्जनात्मकम् ॥२॥

मनोगतः स्नानपरो मनुष्यो।
मन्त्रक्रियायोग विशिष्टतत्त्ववित् ॥

महीस्थतीर्थे विमले जले मुदा।
मूलाम्बुजे स्नाति स मुक्तिभाग्भवेत् ॥३॥

सर्वेषु तीर्थेषु सुरपावनी गंगा।
महासत्त्वविनिर्गता सती ॥

करोति पापक्षयमेव मुक्ति ददाति।
साक्षादमलार्थं पुण्यदा ॥४॥

मूलस्थान में रहने वाली चन्द्रात्मिक इडा नाड़ी गङ्गा रूप से तथा सूर्यात्मिका पिंगला नाड़ी यमुना रूप से प्रवाहित होती है। वैसे ही मूलस्थान से सुषुम्णा भी सरस्वती रूप से बहती है। ये अपने में स्नान करने वालों की रक्षा करती है। इसलिये मंत्र, क्रिया, योग के विशेषतत्व को जानने वाले लोग पृथ्वी के पवित्र तीर्थों को अपने में ही अनुभव करते हैं। ऐसे मनुष्य मन से प्राप्त मूलाधार कमल में स्नान करते हैं। वे लोग बड़ी प्रसन्नता-पूर्वक आनन्द से मुक्ति के भागी होते हैं। पृथ्वी पर जितने पवित्र तीर्थं हैं उनमें परम पावनी सुरनदी गंगा ही देव तीर्थ है जो महासत्त्वगुण से बहती है। वह पापों का नाश करके मुक्ति देती है। ऐसी पुण्यदा गंगा में स्नान करने से साक्षात् ज्ञान का प्रकाश होता है।

स्वर्गस्थं यावता तीर्थं स्वाधिष्ठाने सुपङ्कजे ।
मनो निधाय योगीन्द्रः स्नाति गंगाजले तथा ॥५॥
मणिपूरे देवतीर्थं पञ्चकुण्डसरोवरम् ।
तत्र श्रीकामना तीर्थं स्नाति यो मुक्तिमिच्छति ॥६॥
अनाहते सर्वं तीर्थं सूर्यमण्डलमध्यगम् ।
विभाव्य सर्वतीर्थाणि स्नाति यो मुक्तिमिच्छति ॥७॥

स्वर्ग में मन्दाकिनी गंगादि जितने तीर्थ हैं वे सर्व शरीरस्थ द्वितीय स्वाधिष्ठान चक्र में हैं। इसलिये योगी लोग वहां मन को लगा कर देवतीर्थ मंदाकिनी-गंगाजल में स्नान करते हैं। जो लोग मुक्ति की इच्छा करते हैं वे तृतीय नाभिस्थान के मणीपूर चक्र में, जो देवतीर्थ है, जहां पञ्च कुण्ड सरोवर है और कामना तीर्थ है, वहां स्नान करते हैं। ऐसे ही सूर्यमंडल-मध्यवर्ती चतुर्थ अनाहत चक्र में, सर्व तीर्थों की हृदय में भावना करके, मुक्ति की इच्छा वाले लोग स्नान करते हैं।

विशुद्धाख्ये महापद्मे अष्टतीर्थसमुद्भव ।
कैवल्यं मुक्तिदं ध्यात्वा स्नाति वीरो विमुक्तये ॥८॥
मानसं विन्दुतीर्थञ्च कालीकुण्डकलाधरम् ।
आज्ञाचक्रे सदा ध्यात्त्वा स्नाति निर्वाणसिद्धये ॥९॥

कण्ठ में पंचम विशुद्ध नामक महाचक्र है जहां अष्टतीर्थ प्रकट होते हैं। वे ही तीर्थ कैवल्य मुक्ति के देने वाले हैं। उन तीर्थों का ध्यान करके वीर योगी लोग, मुक्ति के लिए, वहां पर मन लगा कर स्नान करते हैं। षष्ट आज्ञा चक्र में मानसरोवर,

विन्दु सरोवर, पंपा सरोवर एवं नारायण सरोवर हैं और वहीं पर काली कुण्ड तीर्थ तथा कलाधर सोमेश्वर महादेव हैं। उनका ध्यान करके निर्वाणसिद्धि के लिये योगीजन वहां दिव्य स्नान करते हैं और जीवन्मुक्त हो जाते हैं।

एतत्कुलप्रियस्नानं कुर्वन्ते योगिनो मुदा ।
अतो वीराः सत्वयुक्ता सर्वसिद्धियुताः सुरा ॥१०॥
स्नानमात्रेण निष्पापी शक्तः स्यद्वायुसंगहे ।
तीर्थानां दर्शनादेषां मुक्तो योगी भवेद्ध्रुवम् ॥११॥
नाना पापान् सदा कृत्वा ब्रह्महत्यादिनिर्गतान् ।
कृत्वा स्नानं महातीर्थे सिद्धाः स्युरणिमादिगाः ॥१२॥

ऊपर कहे हुए मेरे शिवतीर्थ का मानसिक दिव्य स्नान योग मार्ग द्वारा कुण्डलिनी शक्ति के जागरण से होता है। उसको योगी लोग बड़े हर्ष और प्रेम से करते हैं। स्नान करने वाले योगी लोग, शिवतीर्थ में स्नान के प्रभाव से सत्त्वगुण युक्त होकर सब सिद्धियों को प्राप्त करके जीवन्मुक्त हो जाते हैं। योग साधना के बल से जो योगी सुषुम्णा में प्राणवायु को रोकने में समर्थ हैं, वे ही अन्तर के मेरे तीर्थ में मानसिक दिव्य स्नान करने मात्र से निष्पाप हो जाते हैं। ऐसे निष्पाप योगी, अपने में शिवतीर्थ के दर्शन मात्र से, निश्चय मुक्त हो जाते हैं। ऐसे परम पावन सब सिद्धियों को देने वाले शिवतीर्थ का माहात्म्य बड़ा भारी है। जो लोग सदा नाना प्रकार के पाप करते है अथवा जिन्होंने ब्रह्महत्यादि महापाप किये हैं, ऐसे पाप करने वाले, महापापी होते हुए भी, यदि अपने अन्तर के महातीर्थ

में स्नान करते हैं। तो सब पापों से मुक्त होकर अणिमादि सिद्धियों को प्राप्त करते हैं।

अब तुम अच्छी तरह समझ गये होगे। कि तुम्हारे में ही सारे ब्रह्माण्ड के तीर्थ तथा देवी-देवता एवं भुक्ति-मुक्ति देने वाले ईश्वर हैं। और तुम्हारे बिना इस जगत में कुछ भी नहीं है। जब तुम मनुष्य ही इस जगत में नहीं रहोगे तो मैं ईश्वर भी अपनी लीला कैसे कर सकूंगा? अतएव जो तुम्हारी मुझसे मिलने की इच्छा वास्तविक है तो इन तीर्थों में तुम्हें अवश्य स्नान करना ही चाहिए कि जिससे तुम्हारा प्रायश्चित होकर तुम शुद्ध और पवित्र हो जाओ एवं तुम्हारे, शरीर, मन, प्राण स्वस्थ और संगठित हो जायें। तभी तुम मुझसे मिल सकोगे।

मोक्ष मार्ग के द्वार पर कुण्डलिनी शक्ति

योगशिखोपनिषद्, अध्याय ६

इडा पिंगलयोर्मध्ये सुषुम्णा सूक्ष्म रूपिणी।
सर्वं प्रतिष्ठितं यस्मिन्सर्वगं सर्वतोमुखम् ॥१०॥
द्वासप्ततिसहस्राणि नाड़ी द्वाराणि पञ्जरे।
सुषुम्णा शाम्भवीशक्तिः शेषस्त्विह निरर्थकाः ॥१८॥
येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थान निरामयम्।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥

तुम्हारे शरीर में जो बहत्तर हजार नाड़ियां हैं वे सभी तीर्थ रूप कहलाती हैं। परन्तु इडा, पिंगला और सुषुम्णा (गंगा, यमुना, सरस्वती) ही प्रधान तीर्थ हैं और इनमें भी सरस्वती (सुषुम्णा) ही महातीर्थ हैं, क्योंकि सुषुम्णा में ही मैं रहता हूं,

सुषुम्णा ही मेरा घर है। इसलिये सुषुम्णा के बिना और नाड़ियों से तुम्हारा कोई कार्य सिद्ध नहीं होगा। तुम्हारे लिये सरस्वती के बिना सभी तीर्थ निरर्थक हैं। यह सुषुम्णा ही शाम्भवी शक्ति तुमको मुझसे मिलाने वाली है। परन्तु जिस सुषुम्णा मार्ग से निरामय ब्रह्म स्थान में जाया जाता है, उसके द्वार पर कुण्डलिनी शक्ति सोई हुई है। वह तुमको सहसा मेरे पास नही आने देगी। तुम्हारे पाप-पुण्य के भय से वह शक्ति सदा सोती ही रहती है। उसको जगाने का एक मात्र उपाय प्राणायाम ही है अथवा केवल तन्मय होकर मेरा भजन करना भी उपाय है। यदि तुम प्राणायाम करके उस शक्ति को जगा लोगे तो वह तुम्हें मेरे पास ठीक पहुंचा देगी। उसके अनुग्रह के बिना कोई भी मनुष्य प्रयाग तीर्थ में जा नहीं सकता क्योंकि प्रयाग में जाने का केवल एक ही मार्ग है। इस मार्ग को न जानकर बहुत से कुतार्किक लोग 'अहं ब्रह्मास्मि, जगन्मिथ्या' मैं ब्रह्म हूँ, जगत् मिथ्या है। इस तरह ब्रह्म और माया का ही विचार करते करते मर गये तथापि इस पथ में नहीं आये जहां कि मैं हूँ। बहुत से लोग तो अपने और दूसरों के तथा तुम्हारे और मेरे कर्त्तव्य का विचार ही करते रहते हैं तथापि इस पथ को नहीं पाते। बड़े-बड़े विचारशील मनुष्य प्रकृति-पुरुष आत्मा परमात्मा और जीव-जगत् का निर्णय करने में लगे हैं, परन्तु अपने गन्तव्य स्थान के वास्तविक मार्ग पर नहीं आते। मैं सुषुम्णा के बीच में हूँ और प्राणायाम द्वारा कुण्डलिनी जागरण से ही मिलता हूँ। इसलिये जब तुम अपने पाप-पुण्य का प्रायश्चित करने के लिये प्रयाग तीर्थ की यात्रा करोगे तब प्राणायाम द्वारा कुण्डलिनी देवी से

जागने की प्रार्थना करना। यदि उस देवी ने कृपा की तो तुम मुझ से सहज ही मिल जाओगे और यदि तुम्हारी कुण्डलिनी शक्ति नहीं जागी तो तुम मुझ से किसी जन्म में भी नहीं मिल सकोगे। प्राणायाम से ही कुण्डलिनी शक्ति जागती है।

कुण्डलिनी के उद्‌बोधन से मोक्ष का द्वार खुलता है

योग चूड़ामण्युपनिषद् तथा रुद्रयामल तंत्र

उद्‌घाटयेत्कपाटन्तु यथा कुञ्चिकया हठात् ।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्ष द्वारं विभेदयेत् ॥३६॥
मध्ये सुषुम्णा तन्मध्ये वज्राख्या लिङ्ग मूलतः ।
तन्मध्ये चित्रिणी सूक्ष्मा बिसतन्तु सहोदरा ॥
मूलात्सहस्रारस्तत्तदन्तर ब्रह्म नाडिका ।

इसलिये कुण्डलिनी के पास आने के मार्ग, प्राणायाम, को जान लोगे तो तुमको किसी की भी अपेक्षा नहीं करनी पड़ेगी। वह शक्ति स्वयं ही तुमको ठीक मेरे पास पहुंचा देगी। मेरी प्राप्ति का केवल यह एक ही उपाय है। जैसे दरवाजे का ताला चाबी से बिना परिश्रम ही सरलता से हठात् खुल जाता है, तद्रूप कुण्डलिनी शक्ति के उद्‌बोधन से मोक्ष का मार्ग खुल जाता है। मेरी प्राप्ति का यही प्रशस्त पथ है। किन्तु जो लोग और पथ की कल्पना करते हैं, वे निश्चय भटकते रहते हैं। यह मार्ग बहुत ही सीधा और सरल है।

चुम्बक को देखते ही लोहा मिलने को उद्यत हो जाता है,

वैसे ही इस पथ में आया हुआ कोई भी लौटना नहीं चाहता। चुम्बक के निकट से लोहा नहीं हटता, परन्तु सोना, चांदी, तांबा आदिक उत्तम होते हुए भी नहीं मिल सकते। इसी प्रकार योगाभ्यासी के बिना इस मार्ग में और किसी की गति नहीं है। मेरे निर्गुण स्वरूप का विचार करने वाले शुष्क वेदान्ती, विचार द्वारा, अपने अन्तःकरण के आगे नहीं जाते। परन्तु मैं अन्तःकरण से भी परे हूँ, इसलिये योगसाधना करने वाले संयमी पुरुष ही मुझसे मिलते हैं और मैं उनसे मिलता हूँ। अतएव मुझसे मिलने आने का मार्ग मूलाधार, मेरुदंड में कन्द के ऊपर, कुण्डलिनी शक्ति है और वहीं से सुषुम्णा का पश्चिम मार्ग प्रारंभ होता है जो सहस्रार तक सीधा गया है। सुषुम्णा के बीच में वज्रा और वज्रा के बीच में चित्रा नाड़ी है। सुषुम्णा ब्रह्मरूपिणी कहलाती है। यदि प्राणायाम द्वारा तुम्हारा प्राण सहस्रार में पहुंच जाय तो समझना कि तुम और हम एक हैं।

ज्ञातव्य तत्त्व सब तुम्हारे में ही है

इस ब्रह्माण्ड के साथ तुलना करने पर यह पिण्ड तो नाम मात्र भी गणना में नहीं है तथापि मैंने इस पञ्चभौतिक मनुष्य शरीर में ही चींटी से लेकर ब्रह्मा तक के ज्ञान के तत्त्व का समावेश कर रक्खा है। उसको यदि तुम अपने में न देखो तो तुम्हारी महा अकर्मण्यता है। तुम लोग बाहर जगत् में चक्षु द्वारा मेरा जो कार्य अथवा ज्ञान देखते हो, वह बदलने वाला मेरा स्थूल रूप है और स्वप्न की तरह मिथ्या है। परन्तु तुम्हारे अन्तर का मेरा ज्ञान सूर्य के सदृश जाज्वल्यवान, अधः ऊर्ध्व सर्वत्र समभाव प्रकाशित और एकसा है। तुमको याद होगा

कि जब तुम इस जगत् में आये, कुछ साथ नहीं लाये और न कुछ जाते समय ले जाओगे। यदि तुमने इस मनुष्य जन्म में ज्ञान का संग्रह नहीं किया तो फिर तुम कब ज्ञान ग्रहण करोगे ? यह बात सोचो कि रोग, शोक, दुःख, दैन्य के कारण तुम लोग इनके प्रतिकार में ही काल व्यतीत कर जाओगे, क्योंकि न तो पुण्य से तुम्हारा निस्तार है और न पाप से। अतएव तुम अपने पाप-पुण्य का प्रायश्चित प्रयाग में कर लो, तब तुम्हारा मन विशुद्धता को प्राप्त होगा। उस समय विश्व को क्रियाशील करने वाले मेरे प्राण का तुमको परिचय होगा।

ध्यान का अर्थ मन को निर्विषय करना

यदि तुम रोग, शोक, दुःख दैन्य को भगाना चाहो तो मेरे कथित महायोग का साधन करना। यह योग मैंने सिद्ध योगीराट् कपिल मुनि को कहा था कि जिस के प्रभाव से वह मेरे स्थान के अधिकारी हो गये। उनके सांख्य योग का एक ही सूत्र तुम्हारे ज्ञान के लिये यथेष्ठ है। उन्होंने मेरे सारे ज्ञान को "ध्यानं निर्विषयं मनः"—मन को निर्विषय करने का नाम ही ध्यान है—इस सूत्र में बांध रखा है। अतएव ध्यान करने वाले लोग वृथा ही कल्पना करते हैं कि हम सर्वशक्तिमान् का ध्यान करते हैं, हम में सब कुछ है, हम ईश्वर रूप हैं, जो चाहें सो कर सकते हैं, इत्यादि। कपिल देव के सूत्र से तुम्हें समझ लेना चाहिये कि वास्तव में तुम्हारे में सब कुछ होने पर भी तुम उसका आनन्द नहीं ले सकते। क्योंकि सूत्र के कथनानुसार तुम्हारे ध्यान को चिन्ता निर्विषय मन की नहीं है। मैं तृप्त हूँ ऐसा कहने से क्षुधा की निवृत्ति नहीं होती, वैसे ही बिना योग

साधना किये मन को निर्विषय नहीं करने से तुम अपनी शक्तियों का विकास नहीं कर सकते। योगशास्त्र कथनानुसार ध्यान तो अष्टांग योग का सातवां अंग है। यदि ध्यान ही ठीक हो जाय तो समाधि होने में कुछ कठिनाई नहीं है। ध्यान के बारहवें भाग का समय समाधि के एक भाग का समय समझा जाता है यदि ध्यान ऐसा ही सहज होता तो ध्यान करने वाले सभी जीवन्मुक्त हो जाते।

ज्ञान संकलिनी तंत्र तथा जाबालदर्शनोपनिषद्

न ध्यानं ध्यान मित्याहुर्ध्यानं निर्विषयं मनः।
तस्य ध्यानप्रसादेन सौख्य मोक्षं न संशयः ॥१॥
मनसा कल्पिता मूर्तिर्नृणाञ्चेन्मोक्षदायिनी।
स्वप्नलब्धेन राज्येन राजा नो मानवस्तथा ॥२॥
तीर्थानि तोयपूर्णानि देवान्काष्टादिनिर्मितान्।
योगिनो न प्रपूज्यन्ते स्वात्मप्रत्ययकारणात् ॥५२॥

जैसा तुम लोग ध्यान करते हो या ध्यान का अर्थ समझते हो, वह ध्यान ऐसा नहीं है। अपनी कल्पना से माने हुये ध्यान को यथार्थ ध्यान नहीं कहा जा सकता। निर्विषय अविलम्बन, शून्य-एकाग्र मन करने का नाम ही ध्यान है जो कि वास्तविक ध्यान कहलाता है कि जिससे निस्सन्देह परमानन्द का सुख और मोक्ष की प्राप्ति होती है। मन को निर्विषय किये बिना जब तुम ध्यान करोगे तो किसका ध्यान करोगे? पर्वत, नदी, सरोवर और नाना प्रकार के तीर्थों का अथवा मिट्टी या पत्थर के देवी देवता का ही तो करोगे। परन्तु मन से कल्पना की हुई देवी-

देवताओं की मूर्तियां मनुष्यों को वैसे ही मोक्ष नहीं दे सकतीं जैसे कि स्वप्न में प्राप्त हुये राज्य से कोई मानव राजा नहीं हो सकता । तुम्हारे बाहर के, पृथ्वी पर के तीर्थ, जड़ पदार्थ जलपूर्ण हैं और तुम्हारी कल्पना के देवी देवता, अचैतन्य वस्तु काष्ठ, प्रस्तर-निर्मित मूर्तियां तुम्हारे मन के कल्पित रूप हैं। अतएव ध्यान में भी तुम इनका ही पूजन करते रहोगे, किन्तु इसमें तुम्हारा मंगल नहो है। इसलिये योगी लोग इनको नहीं पूजते। वे लोग तो प्राणायाम द्वारा मन को निर्विषय करके अपने चैतन्य रूप, स्वयं प्रकाश, आत्मदेव का प्रत्यक्ष दर्शन, ध्यान और पूजन करते हैं।

जब तुम आंख मूंद कर ध्यान करने बैठते हो तो तुम्हें अन्तर में अंधकार ही दीखता है अथवा तुम अपनी कल्पना के चित्र देखते हो। इससे ही तुम्हें समझ लेना चाहिए कि विषय अन्तर में नहीं है । बाहर के जिन विषयों को तुम्हारा मन कल्पना रूप से अन्तर में लाता है, तुम उन्हीं की कल्पना करते हो । परन्तु ध्यान का अर्थ मनको निर्विषय करना कहा है न कि कल्पना करते रहना। अतएव कल्पना करके तुम ध्यान के मार्ग से दूर जाते हो। इसका कारण यह है कि मनके ऊपर रहने वाले प्राण को रोके बिना ध्यान में बैठते हो, इसलिए तुम्हारा मन स्थिर नहीं होता। विषय बाहर में होने के कारण, इन्द्रियों के साथ, मन की वृत्तियां स्वाभाविक ही बहिर्मुख रहतीं हैं, अतएव ध्यान में बैठते हुए भी तुम कल्पनातीत विषय ईश्वर को अपने ध्यान में नहीं ला सकते। यदि प्राणायाम द्वारा तुम प्राण को स्थिर कर लोगे तो बलात्कार से तुम्हारा मन निर्विषय

हो जायेगा और उस समय तुम अतीन्द्रिय विषय को ग्रहण कर सकोगे। तब तुम्हारी सब कल्पनायें सफल होंगी। उस अवस्था में तुम्हारे मन में जो-जो सङ्कल्प होंगे वे सभी सत्य होंगे, नही तो ऊपर के मन से प्राणायाम किये बिना, व्यथ का चिन्तन करते-करते मर जाओगे तथापि हाथ कुछ नहीं लगेगा। इस बात को याद रक्खो कि तुम जो-जो बातें संसार में देखते और सुनते हो उन्हीं की तो कल्पना कर सकते हो। परन्तु तुम्हारी यह सांसारिक स्थूल बुद्धि उस कल्पनातीत अतीन्द्रिय विषय को ग्रहण करने का सामर्थ्य नहीं रखती। 'दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्म-दर्शिभिः ।" उस विषय को जानने के लिये बड़ी विलक्षण बुद्धि होनी चाहिये। मल विक्षेप और आवरण के कारण तुम्हारी बुद्धि में जो जड़ता और मलीनता है, उसको प्राणायाम करके हटाओ, फिर देखो कि तुम और हम कौन हैं। इस लिए तुम्हें निर्विषय मन से, ध्यान द्वारा, मेरा ज्ञान लाभ करना चाहिये।

वायवीय संहिता, उत्तर खण्ड, अध्याय ३६

नास्ति ध्यानं बिना ज्ञानं नास्ति ध्यानमयोगिनः ।
ध्यानं ज्ञानञ्च यस्यास्ति तीर्णस्तेन भवार्णवः ॥२२॥

ज्ञानं प्रसन्नमेकाग्रमशेषोपाधिवर्जितम् ।
योगाभ्यासेन युक्तस्य योगिनस्त्वेव सिद्ध्यति ॥२३॥

क्योंकि ध्यान के बिना ज्ञान नहीं होता है और वह ध्यान भी प्राणायाम परायण, योगयुक्त हुये बिना नहीं हो सकता। इस ध्यान के लिए ही तुम्हें योग साधना करनी आवश्यक है।

इसलिये जो लोग योग साधना से ज्ञान-ध्यान सम्पन्न हैं, वे ही भवसागर से पार हो जाते हैं। यह संसार सागर से तारने वाला परम पवित्र ज्ञान योगाभ्यास में लगे हुए, प्रसन्नचित्त, एकाग्र मन वाले, योगियों को ही सिद्ध होता है।

वास्तविक ध्यान का स्वरूप

एकादश स्कन्ध, अध्याय १४

उद्धव उवाच—

यथा त्वामरविन्दाक्ष यादृशं वा यदात्मकम् ।
ध्यायेन्मुमुक्षुरेतन्मे ध्यानं नो वक्तुमर्हति ॥३१॥

इस ध्यान के विषय में परम भक्त उद्धव ने भगवान् श्री कृष्ण से कहा कि हे पद्मलोचन प्रभो ! आपका भजन करने वाले मुमुक्षु लोगों को आपका ध्यान किस प्रकार, किस रूप में और किस भाव में, कैसे करना चाहिए ? आप कृपा करके मुझे समझाइये।

श्री भगवानुवाच—

सम आसन आसीनः समकायो यथासुखम् ।
हस्तावुत्सङ्ग आधाय स्वनासाग्रकृतेक्षणः ॥३२॥
प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः ।
विपर्ययेणापि शनै रभ्यसेन्निर्जितेन्द्रियः ॥३३॥
हृद्यविच्छिन्नमोंकारं घण्टानादं बिसोर्णवत् ।
प्राणेनोदीर्य तत्राथ पुनः संवेशयेत्स्वरम् ॥३४॥

तब भगवान् श्रीकृष्ण बोले कि हे उद्धव ! सुनो, मनको निर्विषय करने के लिये ध्यान करने वालों को सुखपूर्वक सिद्धासन अथवा पद्मासन में दोनों घुटनों पर दोनों हाथ रखके सीधा बैठकर, दृष्टि को नासिका के अग्रभाग में स्थिर करके प्रथम बार-बार रेचक, पूरक करके नाड़ी शुद्धि कर लेनीं चाहिये । प्रणव-जप के साथ रेचक, पूरक और कुम्भक प्राणायाम करना चाहिये । जब प्राण के रोध से मन शान्त हो जाय तब, हृदय कमल में निहित ओंकार का ध्यान करके, अनाहत ध्वनि ओंकार एवं घँटादि नादों का श्रवण करना चाहिये । इस प्रकार से अच्छी तरह प्राणायाम का अभ्यास करते रहने से मासावधि समय में प्राण का रोध होने लगता है और मन शान्त होता जाता है ।

एवं प्रणवसंयुक्तं प्राणमेव समभ्यसेत् ।
दशकृत्वस्त्रिषवणं मासादर्वाग्जितानिलः ॥३५॥

हृत्पुण्डरीकमध्यस्थमूर्ध्वनालमधोमुखम् ।
ध्यात्वोर्ध्वं मुखमुन्निद्रमष्टपत्रं सकर्णिकम् ॥३६॥

कर्णिकायां न्यसेत् सूर्यसोमाग्नीनुत्तरोत्तरम् ।
वह्निमध्ये स्मरेद्रूपं ममैतद्ध्यानमंगलम् ॥३७॥

तब प्राण के रोध से सुषुम्णा में, जिस का नाल ऊपर है और मुख नीचे है ऐसा, हृदय-कमल ऊर्ध्वमुख होकर विकसित हो जाता है ।

जब योग साधन द्वारा, प्राणायाम के अभ्यास से, अनाहत चक्र में हृदय-कमल ऊर्ध्वमुख हो जाता है और खिल जाता है

तो मन भी शान्त और शून्य एकाग्र हो जाता है। तब ध्यान करना सहज हो जाता है। उस समय सोलह दल कमल की प्रत्येक पंखड़ी में क्रमशः सूर्य, चन्द्र, अग्नि और विद्युत का ध्यान करना चाहिये और कमल के मध्य में मेरे वास्तविक रूप, ज्योतिर्मय आत्मतत्त्व, का ध्यान करके तन्मय हो जाना चाहिये। यदि ऐसा दृढ़ अभ्यास न हो तो चित्त को चारों ओर से खींचकर, एक स्थान में लगा के, मेरे सर्वव्यापक विष्णुरूप का पादस्थ, पिण्डस्थ और रूपस्थ ध्यान करते-करते अभ्यास दृढ़ करके उसको भी छोड़कर, और कोई चिन्ता न करके, सुनसान होकर मेरे महाविष्णु रूप में मन को मिला देना चाहिये। इससे निश्चय मन वश में हो जाता है।

एवं समाहितमतिर्मामेवात्मानमात्मनि।
विचष्टे मयि सर्वात्मज्ज्योतिर्ज्योतिषि संयुतम् ॥४५॥
ध्यानेनेत्थं सुतीव्रेण युञ्जतो योगिनो मनः।
संयास्यत्याशु निर्वाणं द्रव्यज्ञान क्रिया भ्रमः ॥४६॥

हे उद्धव! इस प्रकार प्राणायाम के द्वारा ध्यान करने से मन वशीभूत हो जाने पर, जैसे एक ज्योति में दूसरी ज्योति मिल कर एक हो जाती है वैसे ही योगसाधना करने वाले साधक अपने में मुझको और मुझ सर्वात्मा में अपने को मिला देते हैं। वास्तविक ज्ञान और ध्यान इसी का ही नाम है। इसके बिना और सभी ध्यानमात्र कल्पना है। ऐसे तन्मयता युक्त प्रबल ध्यान योग के द्वारा चित्त को स्वाधीन कर लेने से उन ध्यान करने वाले योगियों की द्रव्य, ज्ञान एवं कर्म विषयक भ्रान्ति शीघ्र दूर हो जाती है।

तृतीय प्रकाश

कल्याण के तीन मार्ग

एकादश स्कन्ध, अध्याय २०

उद्धव उवाच—

विधिश्च प्रतिषेधश्च निगमो हीश्वरस्य ते ।
अवेक्षतेऽरविन्दाक्ष गुणं दोषं च कर्मणाम् ॥१॥

परम भक्त उद्धव ने भगवान् श्रीकृष्ण से कहा कि हे भगवन् ! आपकी आज्ञारूप श्रुति, विधि और निषेध भेद सूचक कर्मों के दोष-गुण, शुद्धाशुद्धि और स्वर्ग-नरक का निरूपण करती है। यह तो ठीक है, परन्तु इस विषय में मेरा मन शंकास्पद है। तथापि मैं मानता हूँ कि आपके वाक्य वेद ही अज्ञात विषय को ज्ञात कराते हैं और अदृष्ट, स्वर्ग अपवर्ग तथा साध्य और साधन की उपलब्धि भी वेद से ही होती है किन्तु द्विविधा के कारण मेरा मन भ्रम में है। इसलिये कृपया परम कल्याण का मार्ग कहिये।

श्री भगवानुवाच—

योगस्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योस्ति कुत्रचित् ॥६॥
निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु ।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम् ॥७॥

यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् ।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्ति योगोऽस्य सिद्धिदः ॥८॥

तब भगवान् श्रीकृष्ण बोले कि उद्धव सुनो, मनुष्यों के परम कल्याण के लिये मैंने ज्ञानयोग, कर्मयोग भक्तियोग—ये तीन उपाय कहे हैं। इन तीनों के अतिरिक्त मुझसे मिलने का और कोई मार्ग मनुष्यों के कल्याण का कहीं नहीं है।

जिनको किसी भी प्रकार की कोई कामना नहीं है, जो कर्मों को, दुःख रूप समझ कर, त्याग करते हैं और मेरे ज्ञान में संलग्न होते हैं, ऐसे वैराग्यवान निष्काम पुरुषों के लिये ज्ञान योग है। जो लोग कर्मासक्ति नहीं त्याग कर सकते, सांसारिक सुख भोगना चाहते हैं एवं संसार में ही रहकर परमार्थ लाभ करना चाहते हैं, ऐसे मनुष्यों के लिये कर्म योग है। जो मनुष्य सांसारिक कर्मों में न तो अति आसक्त हैं और न अति विरक्त हैं, जिनको दैव इच्छा से मेरे ज्ञान में श्रद्धा उत्पन्न हुई है, जो न तो भोगी हैं और न त्यागी हैं। जो यह समझते हैं कि सुख में फंस जाने से हम भगवान् से नहीं मिल सकेंगे, इसलिये न तो सांसारिक सुख ही अच्छी तरह भोगना चाहते हैं और उसको बिना भोगे त्यागना भी नहीं चाहते अर्थात् जो लोग संसार का आनन्द सुख ही सुख भोगकर मर मिटना भी नहीं चाहते हैं और न सारे सुख को विसर्जन करके भिखारी ही होना चाहते हैं, वरन् संसार में ही रह कर मुझे पाने की इच्छा से मेरी कथा सुनना चाहते हैं, उन लोगों के लिये मेरा भक्तियोग ही सिद्धि दायक है।

तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।
मत्कथा श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥९॥
स्वधर्मस्थो यजन्यज्ञैरनाशीः काम उद्धव ।
न यातिस्वर्गनरकौ यद्यन्यन्न समाचरेत् ॥१०॥
अस्मिल्लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः ।
ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्ति वा यदृच्छया ॥११॥
कर्मणां परिणामित्वादाविरञ्चादलङ्गलम् ।
विपश्चिन्नाश्वरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत् ॥१८।१९॥

अतएव जब तक मन वासना रहित न हो और मेरे ज्ञान-श्रवण में दृढ़ विश्वास न हो अथवा मेरे लिये चित्त में आत्यन्तिक व्याकुलता न हो, तब तक मनुष्यों को कर्म करते रहना चाहिये अर्थात् जब तक कर्म करते-करते निष्कर्मता न आ जाय और संसार से तीव्र वैराग्य न हो जाय तब तक मनुष्यों को कर्म त्यागना नहीं चाहिए। हे उद्धव ! जो लोग अपने धर्म का पालन करते हुए, कर्म फल की आशा त्याग कर, विहित कर्म यज्ञ, दान, जप, तपादि शुभ निष्काम कर्म योग करते हैं, वे यदि कोई निषिद्ध कर्म न करें तो न स्वर्ग में ही जाते हैं और न नरक में जाते हैं। वे लोग वासना त्याग से निष्पाप, पवित्र हो कर इस लोक में या तो विशुद्ध तत्त्वज्ञान लाभ करते हैं अथवा मेरी भक्ति पाते हैं। कर्म परिणामी हैं और उनसे प्राप्त होने वाला ब्रह्मलोक आदि भी विकारवान् होने के कारण, अमंगलरूप ही है। इसलिये बुद्धिमान् लोगों को चाहिए कि इस लोक के समान ही परलोक को भी नाशवान् जानकर उसकी आशा त्याग दें।

मनुष्य जन्म महा दुर्लभ है

स्वर्गिणोऽप्येतमिच्छन्ति लोकं निरयिणस्तथा ।
साधकं ज्ञान भक्तिभ्यामुभयं तदसाधकम् ॥१२॥
न नर स्वर्गतिं काङ्क्षेन्नारकीं वा विचक्षणः ।
नेमं लोकं च कांक्षेत देहाऽऽवेषात्प्रमाद्यति ॥१३॥
एतद्विद्वान्पुरा मृत्योरभवाय घटेत सः ।
अप्रमत्त इदं ज्ञात्वा मर्त्यमप्यर्थसिद्धिदम् ॥१४॥

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं ।
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् ॥
मयाऽनुकूलेन नभस्वतेरितं ।
पुमान्भवाब्धि न तरेत्स आत्महा ॥१७॥

परन्तु जो लोग पुण्य करके देवता होने की कामना करते हैं, उन्हें समझ लेना चाहिये कि स्वर्ग का सुख भी चिरस्थायी नहीं है। इसलिये नरक में पहुँचे हुये लोगों की तरह स्वर्गवासी देवता भी इस मनुष्य देह की इच्छा करते हैं क्योंकि यह मनुष्य शरीर ही ज्ञान और भक्ति दोनों का साधक है। देव शरीर से न तो भक्ति हो सकती है और न ज्ञान लाभ किया जा सकता है, इसलिये विवेकी पुरुषों को चाहिये कि नरक की गति के समान स्वर्ग की गति की भी कामना न करें और इस लोक में फिर मनुष्य शरीर प्राप्ति की भी इच्छा न करें, क्योंकि शरीर में आस्था हो जाने से ज्ञान साधन में प्रमाद होगा। अतएव मरने से पूर्व बुद्धिमानों को सावधानी से समझ लेना चाहिये

कि यह मनुष्य शरीर नाशवान् होने पर भी परम पुरुषार्थ का साधक है और इस देह से ही योग साधन करके मोक्ष की प्राप्ति होती है, जहां से पुनः कभी आना नहीं होता है। यह मनुष्य शरीर ही सब शुभ-कर्म प्राप्ति का आदि कारण है, जो पुण्य कर्म करने वालों को मिलना सुलभ और पाप कर्म करने वालों को मिलना अति दुर्लभ है। यह मानव देह भवसागर से पार होने के लिये दृढ़ नौका रूप है। इसको चलाने के लिये गुरु ही कर्णधार है जो मेरे अनुकूल साधन-भजनरूप वायु से चलाकर इस नौका को पार ले जाता है। ऐसे मेरी प्राप्ति कराने वाले, इस उत्तम मनुष्य देह को पाकर भी जो मनुष्य संसार सागर से पार नहीं होते, वे लोग आत्मघाती हत्यारे हैं।

अष्टाङ्ग योगसाधन का उपदेश

यमादिभिर्योग पथैरान्वीक्षिक्या च विद्यया।
ममार्चोपासनाभिर्वा नान्यैर्योग्यं स्मरेन्मनः ॥२४॥
यदारम्भेषु निर्विण्णो विरक्तः संयतेन्द्रियः।
अभ्यासेनात्मनो योगी धारयेदचलं मनः ॥१८॥

इसलिये अपने कल्याणार्थ मनुष्य को चाहिये कि यम, नियम आदि अष्टांग योग साधन से तथा वेदान्त कथित सदसत् विवेकरूप आन्वीक्षिकी ब्रह्म विद्या से और ईश्वर प्राणिधानरूप उपासना से, जिनको जैसी अनुकूलता हो, वे अपने अधिकारानुसार मेरा भजन करके मुझसे मिलें। ये ही मेरी प्राप्ति के मार्ग हैं, इनके बिना और किसी भी मार्ग में जहां-तहां चित्त

को भटकाना वृथा है। हे उद्धव ! जो मार्ग सदा से ही चले आते हैं, उन मार्गों से आने वाले ही मुझे मिलते हैं और मैं उन्हें मिलता हूँ। परन्तु मेरे कथित मार्गों को छोड़कर जो लोग अपने कल्पित और दूसरे मार्गों में भटकते हैं, वे मुझे नहीं मिलते और मैं उन्हें नहीं मिलता, उनका मंगल नहीं हो सकता। अतएव मेरी प्राप्ति के साधन अष्टांग योग, वेदान्त कथित ज्ञान और ईश्वर प्राणिधानरूप भक्ति, ये तीन ही प्रशस्त पथ हैं। इसलिये सब कर्मों से उपराम होकर योगसाधना आरम्भ करने वाले वैराग्यवान् योगी लोग, इन्द्रियों का संयम करके, ईश्वर प्रणिधानरूप भक्ति द्वारा, योग साधना से मेरे में अपने चित्त को स्थिर करते हैं, वे ही मुझे पाते हैं।

धार्यमाणं मनो यर्हि भ्राम्यदाश्वनवस्थितम् ।
अतन्द्रितोऽनुरोधेन मार्गेणात्मवशं नयेत् ॥१९॥
मनोगतिं न विसृजेज्जितप्राणोजितेन्द्रियः ।
सत्त्वसम्पन्नया बुद्ध्या मनं आत्मवशं नयेत् ॥२०॥

योग के बिना और मार्ग से मन को शीघ्र वश नहीं किया जा सकता है क्योंकि यह चित्त बड़ा ही चंचल है। जब विचार से मन स्थिर किया जाता है तो वह तुरन्त ही चंचल घोड़े की तरह इधर-उधर भागता है। इसलिये उस समय सावधानी से, मन कीं प्रबल इच्छा के प्रतिकूल न होकर, उस को प्रबोध देकर, अपने अधीन करना चाहिये। यदि मन की थोड़ी-बहुत भी इच्छा की पूर्ति न की जाय तो वह बड़ा ही वेगवान् होता है। उस समय उसको रोकना भी कठिन हो जाता है। इसलिये साधकों

को अपनी अनुकूलता का विचार करके मन का भोग बनना चाहिये। यदि उस समय संकटापन्न अवस्था उपस्थित हो जाय तो, एकमात्र मन के विचार पर निर्भर न करके, दृढ़तापूर्वक उत्साह से प्राणायाम करना चाहिये क्योंकि योगसाधना द्वारा प्राणायाम से मन निश्चय वश में हो जाता है। इसलिये व्याकुल होकर मन को स्वच्छन्द नहीं होने देना चाहिये, परन्तु योगमार्ग से प्राणायाम करके मन, प्राण, इन्द्रियों को जीतकर सात्विक बुद्धि से मन को अपने अधीन कर लेना चाहिये।

एषवै परमो योगो मनसः संग्रहः स्मृतः।
हृदयज्ञत्वमन्विच्छन्दम्यस्येवार्वतो मुहुः ॥२१॥
सांख्येन सर्व भावानां प्रतिलोमानुलोमतः।
भवाप्ययावनुध्यायेन्मनो यावत्प्रसीदति ॥२२॥
निर्विण्णस्य विरक्तस्य पुरुषस्योक्तवेदिनः।
मनस्त्यजति दौरात्म्यं चिन्तितस्यानुचिन्तया ॥२३॥

मन को अपने अधीन करने के लिये सर्वश्रेष्ठ मार्ग यम, नियम आदि युक्त अष्टांग योग साधन करना ही मन का परम निग्रहरूप योग कहलाता है। इसी योग साधन के ज्ञान को भली प्रकार जान कर, मन को वश में करने के लिये, तुम्हें बार-बार योगाभ्यास करना चाहिये और जब तक मन वश में न हो तब तक अनासक्त होकर सांख्य योग विधि से सब पदार्थों की उत्पत्ति और विनाश का अनुलोम-विलोम विचार करना चाहिये। जहां से यह जगत् उत्पन्न होता है और पुनः इसका जहां लय साधित होता है उसका अपने अन्तर में, अन्तरात्मा से, वैराग्य अव-

लम्बन करके, विचारपूर्वक समझ कर, आत्म तत्त्व का अनुशीलन करते रहने से एवं चिन्तित तत्त्व का बार-बार चिन्तन करने से मन अपनी दुष्टता छोड़ देता है।

जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु ।
वेद दुःखात्मकान्कामान्परित्यागेऽप्यनीश्वरः ॥२७॥
ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः ।
जुषमाणश्च तान्कामान्दुःखोदर्कांश्च गर्हयन् ॥२८॥
प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतोमाऽसकृन्मुनेः ।
कामा हृदया नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते ॥२९॥
नैरपेक्ष्यं परं प्राहुर्निःश्रेयसमनल्पकम् ।
तस्मान्निराशिषो भक्तिर्निरपेक्षस्य मे भवेत् ॥३५॥

इस प्रकार जो लोग मेरे कथित अष्टांग योग साधन तथा ब्रह्म विद्या के अधिकारी नहीं हैं, परन्तु जिनको मेरे ज्ञान में श्रद्धा है और अन्य कर्मों में वैराग्य है, जो सम्पूर्ण कामनाओं को दुःख रूप समझते हुये भी उन्हें त्यागने में असमर्थ हैं, वे उन भोगों को आसक्ति छोड़कर भोगते रहें और श्रद्धा एवं दृढ़ निश्चय से प्रेमपूर्वक मेरा भजन करें। इस प्रकार भक्ति योग से निरन्तर मेरा भजन करते रहने से, उनके हृदय में मेरे ज्ञान का प्रकाश होने पर, उन लोगों की सब कामनाओं का नाश हो जाता है। कामना के नाश, निष्कामता—निरपेक्ष, को ही परम निःश्रेयस, महाकल्याण कहा है। इसलिये उपरोक्त योग, ज्ञान, भक्तियुक्त निष्काम और निरपेक्ष पुरुषों को ही मेरी अनन्य भक्ति प्राप्त होती है।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वं संशयाः ।
क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि मयिदृष्टेऽखिलात्मनि ॥३०॥

ज्ञानिनस्त्वहमेवेष्टः स्वार्थोहेतुश्च संमताः ।
स्वर्गश्चैवापवर्गश्च नान्योऽर्थो मदृते प्रियः ॥२-१६॥

न मय्येकान्तभक्तानां गुणदोषोद्भवा गुणाः ।
साधूनां समचित्तानां बुद्धेः परमुपेयुषाम् ॥३६॥

एवमेतान्मयादिष्टाननुतिष्ठन्ति मे पथः ।
क्षेमं विन्दन्ति मत्स्थानं यद्ब्रह्म परमं विदुः ॥३७॥

ज्ञान योग, कर्म योग एवं भक्ति योग से मुझ में संलग्न हो जाने से समस्त कामनाये नष्ट हो जाती हैं। तब मुझ सर्वात्म का साक्षात्कार होने से हृदय-ग्रन्थी खुल जाती है, सब सन्देह दूर हो जाते हैं और सम्पूर्ण कर्मों का नाश हो जाता है। ऐसे ज्ञानी का अभीष्ट स्वार्थ और स्वार्थ का साधन तथा स्वग, अपवर्ग इत्यादि सब कुछ मैं ही हूँ। मेरे बिना ज्ञानी को जगत् में कोई भी पदार्थ प्रिय नहीं होता। इन ज्ञानियों का तो केवल मैं ही सर्वस्व परम प्रिय हूँ। ऐसे मेरे अनन्य भक्तों को और बुद्धि से परे परम तत्व को जानने वाले समदर्शी महात्माओं को सांसारिक गुण-दोष-दृष्टि से होने वाले विकार नहीं होते। इस प्रकार मेरे कहे हुए ज्ञान, कर्म और भक्तियोग के मार्ग का अवलम्बन करके जो लोग चलते हैं, वे कुशलतापूर्वक मेरे पास परमधाम में पहुंचते हैं कि जो स्थान परब्रह्म कहलाता है।

चार श्रेणी के मनुष्य

हे उद्धव ! मेरे कहने से अब तुम अच्छी तरह समझ गये होगे कि इस संसार में उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ और अधम—इस प्रकार चार श्रेणियों के मनुष्य हैं। उनमें तीन श्रेणी के लोगो के लिए अपने-अपने अधिकारानुसार तथा अपनी-अपनी अनुकूलता, आवश्यकता और अवस्थानुसार चलने के लिए मैंने ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग तुम से कहे। उनमें उत्तमवर्ग के लोग संसार को अनित्य समझ कर, भोगों का त्याग करके, ज्ञान, वैराग्य, त्याग, तपस्या का आश्रय कर निवृत्ति परायण होते हैं, वे अष्टांग योग साधन द्वारा मेरा वास्तविक ज्ञानलाभ करते हैं। वे मेरे परम भक्त ज्ञानयोगी मुझे अतीव प्रिय हैं।

दूसरे मध्यमवर्ग के जो लोग हैं वे संसार को न मिथ्या ही समझते हैं और न सत्य ही मानते हैं। संसार के भोगों को मन लगा कर भोग भी नहीं सकते और बिना भोगे छोड़ना भी नहीं चाहते, इतस्तत: करते हैं। ऐसी द्विविधा में रहने वाले अपना परम कर्त्तव्य स्वयं या शास्त्रों द्वारा ठीक नहीं कर सकते हैं। उन लोगों के लिये तीर्थ, व्रत, दान, पुण्य एवं जप, तप और पाठ-पूजन तथा मेरी कथा श्रवण, सत्संगादि भक्तियोग साधना के साथ ईश्वर प्रणिधान रूप अष्टांगयोग साधन द्वारा मुझ से मिलना सहज है। योगसाधना करने में उन्हें घरबार छोड़ने की भी आवश्यकता नहीं है। इसलिए द्विविधा में रहते हुए भी वे योग द्वारा अपना कल्याण कर लेंगे। ऐसे भक्तियोग से मुझ से मिलने की इच्छा वाले लोग अपनी भावनानुसार मुझ से फल पाते हैं।

तीसरे कनिष्ठवर्ग के मनुष्य हैं जो संसार को कुछ सत्य समझते हैं एव परोपकार करने के लिए बारंबार संसार में आने की इच्छा करते हैं। वे लोग सांसारिक भोग भी भोगना चाहते हैं और मुझ से मिलना भी चाहते हैं। वे कर्मयोग द्वारा परोपकार करते हैं, यज्ञ करते हैं, दान देते हैं, पाठशाला, धर्मशाला और गोशाला बनाते हैं, विद्यालय और अन्नक्षेत्र खोलते हैं। इस प्रकार वे लोग अन्नदान, वस्त्रदान, धनदान और जप, तप, तीर्थ, व्रत, इष्ट और पूर्त यज्ञ करके मेरा भजन करते हैं। वे भी निष्काम कर्म योग करते हुए, संसार में ही रह कर, अष्टांग योग साधना करके मुझसे आनन्दपूर्वक मिल सकते हैं। हे परम प्रिय उद्धव ! इस प्रकार ज्ञान, कर्म और भक्ति से योगसाधन करके सभी श्रेणी के लोग मुझसे मिल जाते हैं और परमानन्द लाभ करते हैं। मैं सभी के लिए समान एक सा हूँ, इसलिये ज्ञानमार्ग, कर्म मार्ग तथा भक्तिमार्ग, यह तीनों अष्टांगयोग के ही आश्रित हैं। इन से विपरीत और किसी साधन द्वारा मुझसे मिलना शक्य नहीं है।

इस संसार में चौथी श्रेणी के जो अधम मनुष्य हैं, वे संसार को ही सर्वस्व समझते हैं। वे लोग अपने स्वार्थ के सामने न्याय-अन्याय, पाप और पुण्य कुछ भी नहीं मानते और धर्म-कर्म से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखते। वे किसी भी प्रकार से सुखी रहने में ही अपना सौभाग्य समझते हैं। इन्द्रियसुख के लिए किसी भी उपाय से धनोपार्जन करने में ही निमग्न रहते हैं। वे निषिद्ध, निन्दित, पापकर्म करने में भी नहीं डरते और संसार में ही रचे-पचे रह कर मर मिटते हैं। वे मुझसे मिलने की इच्छा नहीं करते। उन मनुष्यों को मेरी कथा श्रवण और सन्त समा-

गम करना आवश्यक है। जो मनुष्य अपनी अवस्था और मेरी व्यवस्था को नहीं जानते उनका पार कैसे लग सकता है? इसलिये मनुष्यों को, अपनी सांसारिक करुणाजनक अवस्था और मेरी परम उदार पारमार्थिक व्यवस्था जानकर, योग साधन द्वारा मुझसे मिलना चाहिये।

गुण दोष-कथन

एकादश स्कन्ध अध्याय २१

श्री भगवानुवाच—

य एतान्मत्पथो हित्वा भक्तिज्ञान-क्रियात्मकान्।
क्षुद्रान्कामांश्चलैः प्राणैर्जुषन्तः संसरन्ति ते ॥१॥
स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्त्तितः।
विपर्ययस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निश्चयः ॥२॥

श्री भगवान् बोले कि हे उद्धव! भक्ति, ज्ञान और कर्म-मेरी प्राप्ति के इन तीनों मार्गों को छोड़ के जो लोग अपनी क्षुद्र कामनाओं के पीछे दौड़ते हैं, वे बारंबार आवागमन के चक्कर में पड़ते हैं। अतएव अपने-अपने अधिकारों में निष्ठापूर्वक स्थित रहना ही गुण कहलाता है और इसके विपरीत अनाधिकार वर्त्तना ही दोष है। यही गुण और दोष का निश्चय है।

शुद्ध्याशुद्धी विधीयते समानेष्वपि वस्तुषु।
द्रव्यस्य विचिकित्सार्थं गुणदोषौ शुभाशुभौ ॥३॥
धर्मार्थं व्यवहारार्थं यात्रार्थमिति चानघ।
दर्शितोऽयं मयाऽऽचारो धर्ममुद्वहतां धुरम् ॥४॥

हे उद्धव ! जगत् में भौतिक पदार्थ, सब वस्तुओं के समान होने पर भी, प्रयोग की विभिन्नता के कारण शुद्धाशुद्ध माने जाते हैं। इसलिये मैंने धर्माधर्म की दृष्टि से शुद्धाशुद्धि एवं व्यवहार की दृष्टि से गुण-दोष और जीवनयात्रा के निर्वाह के लिये शुभाशुभ का विधान किया है सर्वोत्तम ज्ञान और भक्ति के अनाधिकारी तथा धर्म-कर्म करने वाले लोगों के लिये मैंने ही मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर आदि रूप से यह आचार की मर्यादा बांधी है।

द्रव्य कथन

भूम्यम्ब्वग्न्यनिलाकाशा भूतानां पञ्चधातवः।
आब्रह्मस्थावरादीनां शारीरा आत्मसंयुताः ॥५॥
वेदेन नामरूपाणि विषमाणि समेष्वपि।
धातुषूद्धव कल्प्यन्ते एतेषां स्वार्थसिद्धये ॥६॥
देशकालादिभावानां वस्तूनां मम सत्तम।
गुणदोषौ विधीयेते नियमार्थं हि कर्मणाम् ॥७॥

ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त सभी शरीरों में एक ही आत्मा स्थित है और पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश—ये पंचभूत ही वृक्ष से लेकर ब्रह्मा तक उन सब शरीरों के उपादान कारण हैं। अत: उनमें कोई वास्तविक भेद नहीं हो सकता। इसी तरह समान धातुओं से संगठित, विभिन्न शरीरों के स्वार्थ धर्माधर्म, रूप कर्म, स्वार्थ की सिद्धि के लिये वेद ने विभिन्न नाम और रूपों की कल्पना की है कि जिससे जीव अपने स्वार्थ को भोग सके, कर्मफल भोग में विपर्यय न हो। कर्मों को नियमित करने

के लिये ही मैंने देश, काल आदि वस्तुओं में गुण-दोष का विधान किया है।

देशकाल का कथन

अकृष्णसारो देशानामब्रह्मण्योऽशुचिर्भवेत् ।
कृष्णसारोऽप्यसौवीरः कीकटासंस्कृतेरिणम् ॥८॥
कर्मण्यो गुणवान्कालो द्रव्यतः स्वत एव वा ।
यतो निवर्त्तते कर्म स दोषोऽकर्मकः स्मृतः ॥९॥

उत्तम देश में, अच्छे समय में और उत्तम पात्र से किये हुए कर्मों का फल सत्वर मिलता है। इसका विचार न करके कर्म करने से इच्छानुसार फल नहीं मिलता अथवा विपरीत फल मिलता है। इसलिये शास्त्रों में देश, काल और पात्र का विधान है। अतएव जिस में कृष्णसार मृग न हों और जहां वैदिक कर्म कराने वाले वेदपाठी ब्राह्मण न हों, ऐसे ब्राह्मण पुरुष और कृष्णमृग रहित देश अपवित्र होते हैं। काले मृगयुक्त होने पर भी जिन देशों में सत्पात्र के अभाव से पुराकाल में इन्द्र, ब्रह्मादि देवताओं ने यज्ञ नहीं किये, ऐसे अंग, बंग, कलिंगादि देश भी अपवित्र समझे जाते हैं। ऐसे ही जिस भूमि में कभी कोई पुण्य-कर्म न हुआ हो, जो कभी शुभकर्म से संस्कृत न हुई हो अथवा ऊसर हो या मरुभूमि हो, वह भी अपवित्र मानी गई है। तैसे ही समय के गुण-दोष तथा शुद्धाशुद्धि न जानकर कर्म करने से व्यवहार और परमार्थ दोनों की हानि होती है। समय चूक जाने से कार्यसिद्धि रह जाती है। शुद्ध समय पर किये हुए कर्मों का फल इच्छानुसार मिलता है, परन्तु वही कर्म असमय में

करने से व्यर्थ जाते हैं अथवा और ही रूप में परिणित हो जाते हैं। इसलिये जिस काल में द्रव्य के संयोग से अथवा स्वत: ही कर्म हो सकते हों, ऐसा संक्रान्ति आदि पर्वकाल पुण्यकाल शुद्ध है और जात, मृत एवं ग्रहणादि का अपवित्र काल अशुद्ध है। अतएव जिस काल में शुभकर्म न हो सकते हों, वह काल कर्म के अयोग्य होने से अशुद्ध समझा जाता है।

शुद्धाशुद्धि विवेक

द्रव्यस्य शुद्ध्याशुद्धी च द्रव्येण वचनेन च।
संस्कारेणार्थ कालेन महत्त्वाल्पतयाऽथवा ॥१०॥

भौतिक सभी पदार्थों की शुद्धाशुद्धि द्रव्य, वचन, काल एवं संस्कार तथा अल्पत्व अथवा महत्व से होती है। शुद्धाशुद्ध द्रव्य-नदी, सरोवर, झरने, कुआं आदि का जल शुद्ध होता है परन्तु छोटे गढों का जल अशुद्ध समझा जाता है। देश, काल और पात्र के भेद से एक ही वस्तु शुद्ध और अशुद्ध कहलाती है। तांबा, पीतल के पात्र शुद्ध होने पर भी मूत्रादि के संस्पर्श से अशुद्ध होते हैं और फिर जल से ही शुद्ध किये जाते हैं। वचन की शुद्धि-शुद्धाशुद्ध में शँका होने पर ब्राह्मण तथा सत्पुरुषों के वचन से शुद्धि-निर्णय किया जाता है। काल की शुद्धाशुद्धि—ऋतु के समय में रजस्वला स्त्री अशुद्ध होती है और ऋतुकाल के पश्चात् शुद्ध होती है अथवा किसी निमित्त से स्त्री को अन्य जाति के पुरुष का संग हो जाय तो वह अशुद्ध समझी जाय, परन्तु पुनः ऋतु होने से ही उसके पूर्व कर्म की शुद्धि होकर वह शुद्ध हो जाती है। तत्काल का बनाया हुआ भोजन शुद्ध और बासी अन्न

अशुद्ध होता है। संस्कार की शुद्धाशुद्धि—पुष्प, चन्दन, तुलसी आदि सूंघने से अशुद्ध हो जाते हैं और थोड़ा बहुत अभिमंत्रित जल छिड़क देने से शुद्ध समझे जाते हैं। इस प्रकार क्रम से द्रव्य, वचन, संस्कार आदि से शुद्धाशुद्धि मानी और की जाती है।

धान्यदार्वस्थितन्तूनां रसतैजसचर्मणाम्।
कालवाय्वग्निमृत्तोयैः पार्थिवानां युतायुतैः॥१२॥
अमेध्यलिप्तं यद्येन गन्धं लेपं व्यपोहति।
भजते प्रकृतिं तस्य तच्छौचं तावदिष्यते॥१३॥

धान्य, काष्ठ, अस्थि, सूत और तेल, घी, दूध, दही, चीनी, गुड़, मधु आदि रस द्रव्य तथा सोना, चांदी, पारद आदि तैजस वस्तु और चर्म आदि पार्थिव पदार्थों की शुद्धि काल, वायु, अग्नि और जल से होती है। देश, काल, अवस्था के अनुसार कहीं इन से मिला कर और कहीं इन हरेक से पृथक्-पृथक् दोनों प्रकार से शुद्धि की जाती है। यदि किसी पात्र अथवा वस्त्रादि में कोई अशुद्ध पदार्थ लगा हो तो उसको छील देने से अथवा राख मृत्तिका से मल के साफ कर लेने से जब उस पदार्थ की गन्ध न रहे और वह वस्तु अपने पूर्वरूप में आजाय तो उसको शुद्ध समझना चाहिये।

शक्त्याऽशक्त्याऽथवा बुद्ध्या समृद्ध्या च यदात्मने।
अघं कुर्वन्ति हि यथा देशावस्थानुसारतः॥१४॥

जिस प्रकार से द्रव्य परस्पर देश, काल और पात्र की स्थिति से शुद्धाशुद्ध होते हैं, ठीक उसी प्रकार मनुष्य भी अपनी शक्ति, अशक्ति, बुद्धि और वैभव से देश, काल, पात्रानुसार विभिन्न

अवस्था में कर्म करने से और नहीं करने से पुण्य-पाप के भागी होकर शुद्ध और अशद्ध होते रहते हैं। अतएव जैसे पदार्थों की शुद्धि की जाती है, उसी प्रकार मनुष्यों को भी कर्म के द्वारा अपनी शुद्धि कर लेनी चाहिये।

स्नानदानतपोऽवस्थावीर्यसंस्कारकर्मभिः ।
मत्स्मृत्या चात्मनः शौचं शुद्धः कर्माचरेद्द्विजः ॥१४॥

मन्त्रस्य च परिज्ञानं कर्मशुद्धिर्मदर्पणम् ।
धर्मः सम्पद्यते षड्भिरधर्मस्तु विपर्ययः ॥१५॥

क्वचिद्गुणोऽपि दोषः स्याद्दोषोऽपि विधिना गुणः ।
गुणदोषार्थनियमस्तद्भिदामेव बाधते ॥१६॥

ऐसे ही मनुष्यों का भी मन स्नान, दान, तप तथा अवस्था, सामर्थ्य एवं संस्कार, कर्म और स्मरण से शुद्ध होता है। इसलिये इस प्रकार शुद्ध होकर द्विजमात्र को विहित कर्मों को करते रहना चाहिये। मंत्र के विषय को अच्छी तरह गुरुमुख से जान लेने से मंत्र की शुद्धि होती है और सब विहित कर्मों को मेरे अर्पण कर देने से कर्मों की शद्धि हो जाती है। इस प्रकार देश, काल, पदार्थ तथा कर्त्ता, मंत्र और कर्म, इन छः के शुद्ध होने से मनुष्यों को धर्म (पुण्य) होता है और अशुद्ध होने से अधर्म (पाप) होता है।

देश, काल, पात्रानुसार शास्त्र-विधि से कहीं-कहीं गुण दोष हो जाते हैं और दोष भी गुण हो जाते हैं। जैसे ब्राह्मणों के लिये स्वभावतः जन्म से ही ब्रह्मचर्य, तप तथा वेदाध्ययन और यज्ञ करना-कराना गुण हैं, परन्तु यही कर्म शूद्रों के लिये करना दोष

है। वैसे ही शूद्रों का कर्त्तव्य चर्मादि का व्यवसाय करना गुण है, परन्तु ये कर्म ब्राह्मणों के लिये त्याज्य होने के कारण दोष हैं। अतएव इसमे किसी एक ही पदार्थ को गुण-दोष युक्त मानने का नियम कट जाता है और यही निश्चित् होता है कि गुण-दोष का भेद कल्पित है, वास्तविक नहीं है।

गुणदोष का भेद कल्पित है

समान कर्माचरणं पतितानां च पातकम्।
औत्पत्तिको गुणः सङ्गो न शयानः पतत्यधः ॥१७॥
यतो यतो निवर्त्तेत विमुच्येत ततस्ततः।
एष धर्मो नृणां क्षेमः शोकमोहभयापहः ॥१८॥

एक कर्म का आचरण करते हुए वह पतितों के लिये पाप नहीं होता, क्योंकि जो पतित हैं वह पतित ही हैं। जैसे पृथ्वी पर सोया हुआ मनुष्य और नीचे नहीं गिर सकता तैसे ही पतितों का ओर पतन क्या हो सकता है? किन्तु द्विजाति लोग पतितों से बहुत ऊँचे हैं, वे गिर सकते हैं। इसलिये जो गुण है वह भी अवस्था-स्थान विशेष में दोषरूप हो जाता है। जैसे सङ्ग (आसक्ति) गृहस्थियों को स्वाभाविक होने के कारण गुण है, परन्तु विरक्तों के लिये सङ्ग करना दोष है। अतएव गुण-दोष, शुद्धाशुद्धि अवस्था विशेष में बदलते रहते हैं।

इसलिये इसकी वास्तविकता में कुछ भी सत्य नहीं है। यह तो केवल देश, काल और स्थान का कुछ समय के लिए चित्त शुद्धि का अवलंबन मात्र है, तथापि बहुत से मनुष्य तो यावज्जीवन शुद्धाशुद्धि और उसके गुणदोष को ही पकड़े बैठे रहते

हैं। ऐसे मनुष्यों का पार नहीं लग सकता। वास्तव में तो कर्म की सफलता उसकी निवृत्ति में ही है। जिस-जिस प्रवृत्ति से मनुष्यों का मन उपराम होता जाता है, उसी-उसी ओर से वे बंधनमुक्त होते जाते हैं। अतएव मनुष्यों के रोग, शोक, मोह और भय को हरने वाला यह निवृत्ति मार्गरूप धर्म ही कल्याण कारक है।

विषयासक्ति का परिणाम

विषयेषु गुणाध्यासात्पुंसः सङ्गोस्ततो भवेत्।
सङ्गात्तत्र भवेत्कामः कामादेव कलिर्नृणाम् ॥१९॥
कलेर्दुर्विषहः क्रोधस्तमस्तमनुवर्त्तते।
तमसा ग्रयस्ते पुंसश्चेतना व्यापिनी द्रुतम् ॥२०॥
तया विरहितः साधो जन्तुः शून्याय कल्पते।
ततोऽस्य स्वार्थविभ्रन्शो मूर्छितस्य मृतस्य च ॥२१॥
विषयाभिनिवेशेन नात्मानं वेद नापरम्।
वृक्षजीविकया जीवन्व्यर्थं भस्त्रैव यः श्वसन् ॥२२॥

हे उद्धव! मेरे कथित निवृत्ति धर्म को न मानकर, जब मनुष्य विषयों में गुण समझकर, सुख की आशा से, उनमें आसक्त होते हैं तो विषयों से उनका सग हो जाता है। संग से उनकी सुखभोग की कामनायें बढ़ जाती हैं और बढ़ी हुई कामनाओं के वशवर्त्ती होकर परस्पर महाकलह करते हैं। कलह से दुस्सह क्रोध होता है और महाक्रोध से सम्मोह होता है। यह सम्मोह मनुष्यों की बुद्धिवृत्ति को आवृत्त कर चेतनाशक्ति का हरण कर

लेता है। जब लोग काम और क्रोध के ही अधीन होकर वशीभूत हो जाते हैं तब हिताहित ज्ञानशून्य, चेतनाशक्ति रहित मनुष्य मूर्छित और मृतक के समान किसी काम के नहीं रहते। जिनकी कामनाओं से बुद्धि मारी गई है, ऐसे विषयी लोग अपने स्वार्थ अथवा परमार्थ का कोई साधन नहीं कर सकते। अतएव विषय-लंपटता के कारण जिनका ज्ञान हरण हो गया है, वे अपना तथा पराया या आत्मा और परमात्मा किसी को नहीं जानते। वे धौंकनी की तरह श्वास ही लेते हैं और वृक्ष की नाईं बड़ी आयु का जीवन वृथा ही व्यतीत करते हैं।

मनुष्य जन्म की सफलता

एकादश स्कन्ध, अध्याय १०

एतावज्जन्मसाफल्यं देहिनामिह देहिषु।
प्राणैरर्थैर्धिया वाचा तदेव मतिमान्भजेत् ॥३५॥
यमानभीक्ष्णं सेवेत नियमान्मत्परः क्वचित्।
मदभिज्ञं गुरुं शान्तमुपासीत मदात्मकम् ॥५॥

हे उद्धव ! जो देहधारी होकर दूसरे देहधारी जीवों का उपकार करते हैं, उनका जन्म सफल है। इसलिये बुद्धिमानों को चाहिए कि तन, मन, धन, बुद्धि, वाक्य से तथा प्राण देकर भी जीवों के उपकार द्वारा मेरा भजन करते रहें। मेरा भजन करने वालों को चाहिए कि अष्टांग-योग साधन के अङ्ग यम तथा नियम, यम के अङ्ग—अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि तथा नियम के अङ्ग—तप, शौच, स्वाध्याय आदि का पालन करें

और मेरे स्वरूप को जानने वाले शान्तचित्त, ईश्वररूप अपने गुरु की श्रद्धा भक्तिसह उपासना सेवा करें।

यम, नियम, षट् संपत्ति आदि के लक्षण

एकादश स्कन्ध, अध्याय १६

उद्धव उवाच—

यमः कतिविधः प्रोक्तो नियमो वाऽरिकर्षन।
कः शमः को दमः कृष्ण का तितिक्षा धृतिः प्रभो ॥२८॥
किं दानं किं तपः शौर्यं किं सत्यमृतमुच्यते।
कस्त्यागः किं धनंचेष्टं को यज्ञः का च दक्षिणा ॥२६॥

उद्धव जी बोले कि हे विभो ! आपकी प्राप्ति के साधन कर्म भक्ति, ज्ञान योग का श्रवण करके मेरा मन अतीव प्रसन्न हुआ। अतएव कृपया पुनः कहिये कि ज्ञान योग में अष्टांग योग के साधन यम तथा नियम कितने प्रकार के और कौन से हैं ? हे प्रभो ! शम क्या है, दम क्या है, तितिक्षा क्या है और धैर्य्य किसे कहते हैं ? हे कृष्ण प्रभो ! दान, तप और शौर्य क्या हैं ? सत्य एवं ऋत किसे कहते हैं ? त्याग क्या है ? धन और इष्ट क्या है तथा दक्षिणा किस को कहते हैं ?

पुंसः किंस्विद्बलं श्रीमन्भगो लाभश्च केशव।
का विद्या ह्रीः परा का श्रीः किं सुखं दुःखमेव च ॥३०॥
कः पण्डितः कश्च मूर्खः कः पन्था उत्पथश्च कः।
कः स्वर्गो नरकः कः स्वित्को बन्धुरुत किं गृहम् ॥३१॥

**क आढ्य को दरिद्रो वा कृपणः कः क ईश्वरः ।
एतान्प्रश्नान्मम ब्रूहि विपरीतांश्च सत्पते ॥३२॥**

हे श्रीमान् केशव ! पुरुष का बल क्या है और भग किसे कहते हैं ? परम लाभ क्या है ? पराविद्या, लज्जा और श्री क्या हैं ? सुख तथा दुःख क्या हैं ? पण्डित कौन हैं ? मूर्ख किसको कहते हैं ? सुमार्ग तथा कुमार्ग क्या हैं ? धनवान् कौन है ? निर्धन कौन है तथा कृपण किसको कहते हैं ? समर्थ एवं स्वाधीन ईश्वर कौन है ? हे सत्पुरुषों के स्वामिन् ! कृपा कर के मेरे इन प्रश्नों का वणन कीजिये और इनके विपरीत अशम आदि भी कहिये।

श्री भगवानुवाच—

**अहिंसा सत्यमस्तेयमसङ्गो ह्रीरसंचयः ।
आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमाऽभयम् ॥३३॥
शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धाऽऽतिथ्यं मदर्चनम् ।
तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम् ॥३४॥
एते यमाः सनियमा उभयोर्द्वादश स्मृताः ।
पुंसामुपासितास्तात यथाकामं दुहन्ति हि ॥३५॥**

तब भगवान् श्रीकृष्ण बोले कि हे उद्धव ! सुनो, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, असगता, लज्जा, असञ्चय, आस्तिकता, ब्रह्मचर्य, मौन, स्थिरता, क्षमा और अभय तथा शौच, जप, तप, होम, श्रद्धा, अतिथि का सत्कार, मेरा पूजन, तीर्थ भ्रमण, परोपकार सन्तोष और गुरु सेवा—ये यम और नियम बारह-बारह कहे

गये हैं। इनका पालन करने से मनुष्यों को इच्छानुसार सब कामनाओं की सिद्धि होती है।

शमो मन्निष्ठता बुद्धेर्दम इन्द्रियसंयमः।
तितिक्षा दुःखसंमर्षो जिह्वोपस्थ जयो धृति ॥३६॥
दण्डन्यास परं दानं कामत्यागस्तपः स्मृतम्।
स्वभावविजयः शौर्यं सत्यं च समदर्शनम् ॥३७॥
ऋतं च सुनृता वाणी कविभिः परिकीर्तित।
कर्मस्वसंगमः शौचं त्यागः संन्यास उच्यते ॥३८॥
धर्म इष्टं धनं नृणां यज्ञोऽहं भगवत्तमः।
दक्षिणा ज्ञान सन्देशः प्राणायामः परं बलम् ॥३९॥

निष्ठापूर्वक बुद्धि का मुझ में लगाना ही शम है। इन्द्रिय संयम को दम कहते हैं। दुःख सहन करने का नाम तितिक्षा है और जिह्वा तथा उपस्थेन्द्रिय को जय करना ही धैर्य है। क्षमा कर देना ही परमदान है, कामनाओं का त्याग ही परम तप कहलाता है, स्वभावतः अस्थिर मन को जीत लेना ही शूरवीरता है और सर्वत्र समदर्शन करना ही परम सत्य है। सुमधुरवाणी को विद्वज्जन ऋत कहते हैं, कर्म में आसक्ति न रखना ही शौच है और कर्मों का त्याग ही संन्यास है। धर्म ही मनुष्यों का इष्ट धन है, सर्व ऐश्वर्य सम्पन्न यज्ञ पुरुष मैं ही हूँ, ज्ञान उपदेश ही दक्षिणा है और प्राणायाम ही मनुष्यों का परम बल है।

भगो मे ऐश्वरो भावो लाभो मद्भक्तिरुत्तमः।
विद्यात्मनि भिदाबाधो जुगुप्सा ह्रीरकर्मसु ॥४०॥

श्रीर्गुणा नैरपेक्ष्याद्याः सुखं दुःखसुखात्ययः ।
दुःखं कामसुखापेक्षा पण्डितो बन्धमोक्षवित् ॥४१॥

मूर्खो देहाद्यहंबुद्धिः पन्था मन्निगमः स्मृतः ।
उत्पथश्चित्तविक्षेपः स्वर्गः सत्त्वगुणोदयः ॥४२॥

नरकस्तम उन्नाहो बन्धुर्गुरुरहं सखे ।
गृहं शरीरं मानुष्यं गुणाढ्यो ह्याढ्य उच्यते ॥४३॥

मेरा षड् विध ऐश्वर्य ही भग है, मेरी उत्तम भक्ति का प्राप्त होना ही लाभ है, आत्मा और परमात्मा में भेद बुद्धि का न रहना ही विद्या है और निन्दित एवं निषिद्ध दुष्कर्मों से दूर रहना ही लज्जा है। निरपेक्षता आदि गुण ही श्री हैं, सुख तथा दुःख से परे हो जाने का नाम ही परम सुख है, विषय सुख की अपेक्षा करना ही दुःख है और जो बन्ध तथा मोक्ष को जानता है, वही पण्डित है। देह आदि में अहं बुद्धि रखने वाला ही मूर्ख है, शास्त्र ही मेरी प्राप्ति का मार्ग है, चित्त विक्षेप ही कुमार्ग है और सत्त्व गुण का उदय होना ही स्वर्ग है। तमोगुण का बढ़ना ही नरक है तथा गुरु रूप बन्धु मैं ही हूँ। मनुष्य शरीर ही घर है और गुणवान् ही सच्चा धनवान् कहलाता है।

दरिद्रो यस्त्वसंतुष्टः कृपणो योऽजितेन्द्रियः ।
गुणेष्वसक्तधीरीशो गुणसंगो विपर्ययः ॥४४॥

धर्मो मद्भक्ति कृत्प्रोक्तो ज्ञानं चैकात्म्य दर्शनम् ।
गुणेष्वसंगो वैराग्यमैश्वर्यं चाणिमादयः ॥२७॥

एत उद्धव ते प्रश्नाः सर्वे साधु निरूपिताः ।
किं वर्णितेन बहुना लक्षणं गुणदोषयोः ।
गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः ॥४५॥

जो महा असन्तुष्ट है वही दरिद्री निर्धन है, जो अजितेन्द्रिय है वही दीन कृपण है । जो विषयों में आसक्त नहीं है, वही समर्थ स्वाधीन ईश्वर है और जो विषयी है, असमर्थ है, वही पराधीन जीव है । अतएव जिससे मेरी भक्ति होती हो वही धर्म है तथा सर्वत्र एक आत्मा का दर्शन ही ज्ञान है । गुणरूप विषयों में अनासक्त रहना ही वैराग्य है और अणिमादि सिद्धियां ही ऐश्वर्य हैं । हे प्रिय उद्धव ! तुम्हारे सब प्रश्नों को मैंने अच्छी तरह वर्णन कर दिया । गुण-दोषों के विषय में इससे और अधिक लक्षण क्या वर्णन किया जाय ? इतने में ही समझ लो कि गुणदोष देखना ही दोष है और इन दोनों का न देखना ही गुण है ।

चतुर्थ प्रकाश

तत्त्वविचार

एकादश स्कन्ध, अध्याय २२

उद्धव उवाच—

कति तत्त्वानि विश्वेश संख्यातान्यृषिभिः प्रभो ।
नवैकादश पञ्चत्रीण्यात्थ त्वमिह शुश्रुम ॥१॥
केचित् षड् विंशतिं प्राहुरपरे पञ्चविंशतिम् ।
सप्तैके नव षट् केचिच्चत्वार्येकादशापरे ॥२॥
केचित्सप्तदशप्राहुः षोडशैके त्रयोदश ।
एतावत्त्वं हि संख्यानामृष्यो यद्विवक्षया ॥
गायन्ति पृथगायुष्मन्निदं नो वक्तुमर्हसि ॥३॥

उद्धव जी बोले कि हे विश्वेश्वर प्रभो ! ऋषियों ने कितने तत्त्व माने हैं ? आपने तो मुझे नौ, ग्यारह, पाच और तीन मिला कर अठ्ठाईस सुनाये हैं । परन्तु कोई छब्बीस और कोई पच्चीस कहते हैं । कोई सात, कोई छः और कोई तो चार ही कहते हैं । कोई ग्यारह, कोई सत्रह, कोई सोलह और कोई तेरह भी तत्त्व बतलाते हैं । हे प्रभो ! किस अभिप्राय से ऋषियों ने तत्त्वों की संख्या का भिन्न-भिन्न वर्णन किया है, सो कृपा करके कहिये ।

श्री भगवानुवाच—

युक्तं च सन्ति सर्वत्र भाषन्ते ब्राह्मणा यथा ।
मायां मदीयामुद्गृह्य वदतां किं नु दुर्घटम् ॥४॥

नैतदेवं यथात्थ त्वं यदहं वच्मि तत्तथा ।
एवं विवदतां हेतुं शक्तयो मे दुरत्ययाः ॥५॥
यासां व्यतिकरादासीद्विकल्पो वदतां पदम् ।
प्राप्ते शमदमेऽप्येति वादस्तमनुशाम्यति ॥६॥

श्री भगवान् बोले कि हे उद्धव ! विभिन्न तत्त्वों की संख्या विषय में ब्राह्मण लोग जो कुछ कहते हैं, वही सभी ठीक है। मेरी माया शक्ति का आश्रय करके कहने वालों के लिये कहना कोई कठिन नही है, क्योंकि माया शक्ति से मोहित होकर लोग वाद-विवाद करते हैं। वे कहते हैं कि तुम जैसा कहते हो वह ठीक नहीं है, मैं जो कहता हूँ वही ठीक है। इस प्रकार परस्पर वाद-विवाद करने वालों के विवाद का कारण मेरी अद्भुत माया शक्ति है जो अति दुस्तर है। उस माया शक्ति से ही यह विकल्प रूप प्रपंच बना है। इसलिये जब तक यह जगत् रहेगा तब तक वादविवाद होते ही रहेंगे। जगत् में वादविवाद का मूल कारण तो मनुष्यों का मन ही है। परन्तु जब शम, दम आदि साधनों से, समाधि द्वारा, मन अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है तो फिर वादविवाद के विकल्प रूप जगत् के सब तत्त्व शान्त हो जाते हैं।

परस्परानुप्रवेशात्तत्त्वानां पुरुषर्षभ ।
पौर्वापर्यप्रसंख्यानं यथा वक्तुर्विवक्षितम् ॥७॥
एकस्मिन्नपि दृश्यन्ते प्रविष्टानीतराणि च ।
पूर्वस्मिन् वाऽपरस्मिन्वा तत्त्वे तत्त्वानि सर्वशः ॥८॥

पौर्वापर्यं मतोऽमीषां प्रसंख्यानमभीप्सिताम् ।
यथाविविक्तं यद्वक्त्रं गृह्णीमो युक्ति सम्भवात् ॥९॥

हे उद्धव ! ये भौतिक तत्त्व सब परस्पर मिले हुए हैं, अतएव कहने वालों के कथनानुसार उनको आगे-पीछे की संख्यायें सभी ठीक हैं। ये तत्त्व-समूह एक दूसरे के अन्तर्गत, एक में अन्य तत्त्व कार्य रूप से तो दूसरो में कारण रूप से, सम्मिलित दिखलाई देते हैं। इसलिए जिनको तत्त्वों की संख्या पूर्वापर अल्पाधिक कार्य-कारण भेद से मान्य है, उन लोगों का कहना युक्तियुक्त होने के कारण ग्रहण करने योग्य है। परन्तु इन तत्त्वों की न्यूनाधिक संख्या मान लेने अथवा जान लेने से ही वास्तविक ज्ञान नहीं होता।

पुरुष

अनाद्यविद्यायुक्तस्य पुरुषस्यात्मवेदनम् ।
स्वतो न संभवादन्यस्तत्त्वज्ञो ज्ञानदो भवेत् ॥१०॥
पुरुषेश्वरयोरत्र न वैलक्षण्यमण्वपि ।
तदन्यकल्पनाऽपार्था ज्ञानं च प्रकृतेगुणः ॥११॥

क्योंकि अनादि काल से अविद्यायुक्त पुरुष को बिना योग-साधन किये स्वयं अपने-आप ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए उसको ज्ञान का उपदेश देने के लिए किसी और तत्त्वज्ञानी पुरुष की आवश्यकता है, यह तो ठीक है। परन्तु आत्मा और परमात्मा में अणुमात्र भी भेद नहीं है। ऐसी अवस्था में अन्य पुरुष की कल्पना कर लेना भी सर्वथा अनुचित है। ज्ञान तो प्रकृति के सत्त्वांश का ही गुण है। अतएव ज्ञान के विषय में

बहुत कुछ कहने सुनने की बातें हैं। इन तत्त्वों की संख्या जान लेने से जगत् के कार्य-कारण के भेदाभेद का ज्ञान होता है। परन्तु आत्मा और परमात्मा का ज्ञान तो योग साधना से ही स्वयं होता है।

प्रकृति

प्रकृतिगुणसाम्यं वै प्रकृतेर्नात्मनो गुणाः।
सत्त्वं रजस्तम इति स्थित्युत्पत्यन्तहेतवः ॥१२॥
सत्त्वं ज्ञानं रजः कर्म तमोऽज्ञानमिहोच्यते।
गुणव्यतिकरः कालः स्वभावः सूत्रमेव च ॥१३॥
सर्गादौ प्रकृतिर्ह्यस्य कार्यकारणरूपिणी।
सत्त्वादिभिर्गुणैर्धत्ते पुरुषोऽव्यक्त ईक्षते ॥१७॥
व्यक्तादयो विकुर्वाणा धातवः पुरुषेक्षया।
लब्धवीर्याः सृजन्त्यण्डं संहतः प्रकृतेर्बलात् ॥१८॥

तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है एवं सत्त्व, रज, तम—ये तीन गुण प्रकृति के ही हैं जो जगत् की सृष्टि, स्थिति और नाश के हेतु हैं। ये गुण आत्मा के नहीं हैं। सत्त्व-गुण ज्ञान है, रजोगुण कर्म है और तमोगुण ही अज्ञान कहलाता है। इन तीनों गुणों की विषम अवस्था ही काल है और स्वभाव ही महत्तत्त्व है। सृष्टि के आरम्भ में कार्य-कारणरूपिणी प्रकृति ही अपने सत्त्वादि गुणों के द्वारा इन तत्त्वों की अवस्था को धारण करती है। ईक्षण करने वाला अव्यक्त पुरुष तो उनका केवल साक्षीमात्र है। पुरुष के ईक्षण से बल प्राप्त करके महत्त-

त्त्व आदि कारण तत्त्व, प्रकृति के आश्रय से ही, मिलकर इस ब्रह्माण्ड की रचना करते हैं।

तत्त्वों की संख्या

पुरुषः प्रकृतिर्व्यक्तमहंकारो नभोऽनिलः।
ज्योतिरापः क्षितिरिति तत्त्वान्युक्तानि मे नव ॥१४॥
श्रोत्रं त्वग्दर्शनं घ्राणो जिह्वेति ज्ञान सक्तयः।
वाक्पाण्युपस्थपाय्वंघ्रिकर्माण्यङ्गोभयं मनः ॥१५॥
शब्दः स्पर्शो रसो गन्धो रूपं चेत्यर्थजातयः।
गत्युक्त्युत्सर्गशिल्पानि कर्मायतनसिद्धयः ॥१६॥

मैंने पुरुष, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहँकार, आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी ये नौ तत्त्व कहे हैं। कर्ण, चर्म, नेत्र, जिह्वा और नासिका ये पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं और वाणी, हस्त, पाद, पायु, और उपस्थ ये पांच कर्मेन्द्रियां हैं। ये दोनों मन के ही अंग हैं और मन के ही अधीन हैं। श्रवण करना कान का विषय है, स्पर्श ग्रहण त्वचा का विषय है, रूप देखना चक्षु का विषय है, रसस्वाद रसना का विषय है और गन्ध ग्रहण नासिका का विषय है। इस तरह शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पांच ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं। ग्रहण करना, न करना इनका स्वभाव है। बोलना वाणी का विषय है, लेना-देना हाथ का कार्य है, चलना-फिरना पग का काम है, मल त्याग गुदा का विषय है और रति कर्म उपस्थ का विषय है। इस प्रकार कथन, आदान-प्रदान, गमना-गमन, मल त्याग तथा मैथुन—ये पांच कर्मेन्द्रियों के विषय हैं। ये व्यापार करना, न करना इन का स्वभाव हैं।

सप्तैव धातव इति तत्रार्था पञ्च खादयः ।
ज्ञानमात्मोभयाधारस्ततो देहेन्द्रियासवः ॥१९॥
षडित्यत्रापि भूतानि पञ्चषष्ठः परः पुमान् ।
तैर्युक्त आत्मसंभूतैः सृट्वेदं समुपाविशत् ॥२०॥
चत्वार्येवेति तत्रापि तेज आपोऽन्नमात्मनः ।
जातानि तैरिदं जातं जन्मावयविनः खलु ॥२१॥

सात ही तत्त्व मानने वालों के विचार से आकाश आदि पञ्च महाभूत, इनका साक्षी एक आत्मा और इन दोनों का आधार परमात्मा मिलकर सात तत्त्व होते हैं। देह, इन्द्रिय आदि तो पञ्चभूतों के अन्तर्गत आ जाते हैं। छः ही तत्त्व बतलाने वालों के मत में पांच भूत और छटा परमात्मा है। वह परमात्मा ही अपने से उत्पन्न हुए इन भूतों की रचना करके उनमें जीवरूप से प्रवेश करके स्थित है। जो लोग मात्र चार ही कारण तत्त्व मानते हैं उनके मतानुसार तेज, जल, अन्न और आत्मा ये चार ही तत्त्व हैं। वे समझते हैं कि निश्चय इन्हीं से और सभी तत्त्व उत्पन्न होते हैं।

संख्याने सप्तदशके भूतमात्रेन्द्रियाणि च ।
पञ्च पंचैकमनसा आत्मा सप्तदशः स्मृतः ॥२२॥
तद्वत्षोडशसंख्याने आत्मैव मन उच्यते ।
भूतेन्द्रियाणि पंचैव मन आत्मा त्रयोदश ॥२३॥
एकादशत्वं आत्माऽसौ महाभूतेन्द्रियाणि च ।
अष्टौ प्रकृतयश्चैव पुरुषश्च नवेत्यथ ॥२४॥

इति नानाप्रसंख्यानं तत्त्वानमृषिभिः कृतम् ।
सर्वं न्याय्यं युक्तिमत्त्वाद्विदुषां किमशोभनम् ।।२५।।

सत्रह तत्त्व मानने वालों के कथन से पञ्चभूत, पञ्चतन्मात्रा, पञ्च ज्ञानेन्द्रियां एव आत्मा और मन य सब सत्रह कहलाते हैं। इसी तरह सोलह तत्त्व मानने वालों ने आत्मा को ही मन मान लिया है और तेरह तत्त्व की गणना में पञ्चभूत, पञ्च ज्ञानेन्द्रियां तथा मन, जीवात्मा और परमात्मा—ये तेरह मानते हैं। ग्यारह तत्त्व की सख्या को मानने वाले आत्मा, पञ्चभ्त और पञ्च ज्ञानेन्द्रियों को ही मानते हैं। और नौ तत्त्व की संख्या में प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, पांच ज्ञानेन्द्रियां और पुरुष—ये नौ माने जाते हैं। इस प्रकार अपनी-अपनी समझ और ज्ञान के अनुसार ऋषियों ने नाना प्रकार से तत्त्वों की व्याख्या और सख्या की गणना की है। न्याय से युक्ति संगत होने के कारण वे सभी ग्राह्य हैं क्योंकि विद्वान् पुरुषों की किस में शोभा नहीं है ? अर्थात् उन्हें सभी कुछ शोभा देता है।

श्रीभगवान का अभिमत

एकादश स्कन्ध, अध्याय १६

नवैकादश पञ्च त्रीन्भावान्भूतेषु येन वै ।
ईक्षेताथैकमप्येषु तज्ज्ञानं मम निश्चितम् ।।१४
एतदेव हि विज्ञानं तथैकेन येन यत् ।
स्थित्युत्पत्त्यप्ययान्पश्येद्भावानां त्रिगुणात्मनाम् ।।१५।।
आदावन्ते च मध्य च सृज्यात्सृज्यं यदन्वियात् ।
पुनस्तत्प्रतिसंक्रामे यच्छिष्येत तदेव सत् ।।१६।।

श्रुतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानं चतुष्टयम् ।
प्रमाणेष्वनवस्थानाद्विकल्पात्स बिरज्यते ॥१७॥

हे उद्धव ! मेरा निजी अभिप्राय सुनो, जिसके द्वारा प्राणियों में पुरुष, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार और पञ्च तन्मात्रायें—ये नौ एवं मन सहित ग्यारह इन्द्रियां तथा पञ्चभूत और तीन गुण—ये अट्ठाईस तत्त्व जाने जायं। इन सब में एक ही व्यापक आत्मा दिखलाई दे, वही मेरा निश्चित ज्ञान है। जब सत्त्व रज, तम इन त्रिगुणात्मक भावों की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय आदि दिखाई न दें और केवल एक आत्मतत्त्व का ही सर्वदाकाल प्रत्यक्ष अनुभव होता रहे, वही विज्ञान कहलाता है। जिसकी सत्ता से बने हुए भौतिक पदार्थों की आदि, अन्त और मध्य में, स्थिति होती है तथा प्रलय काल में उन सब का लय हो जाने पर भी जो शेष रहता है, वही सत् ब्रह्म है। अतएव, हे उद्धव इन भौतिक तत्त्रों के विषय में शब्द वेद, प्रत्यक्ष, अनुमान और ऐतिह्य परम्परागत—इन चारों प्रमाणों से विज्ञानी पुरुषों को इस प्रपञ्च की कोई सत्ता सिद्ध नहीं होती। इसलिये ज्ञानी लोग इस विकल्प-रूप संसार से विरक्त हो जाते हैं।

प्रकृति पुरुष का भेद

एकादश स्कन्ध अध्याय २२

प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ अद्यप्यात्मविलक्षणौ ।
अन्योन्यापाश्रयात्कृष्ण दृश्यते न भिदा तयोः ॥२६॥
प्रकृतौ लक्ष्यते ह्यात्मा प्रकृतिश्च तथात्मनि ।

एवं मे पुण्डरीकाक्ष महान्तं संशयं हृदि ।
छेत्तुमर्हसि सर्वज्ञ वचोभिर्नयनैपुणैः ॥२७॥
त्वत्तो ज्ञानं हि जीवानां प्रमोषतेऽत्र शक्तितः ।
त्वमेव ह्यात्ममायाया गतिं वेत्थ न चापरः ॥२८॥

उद्धव जी बोले, हे कृष्ण प्रभो ! यद्यपि स्वरूप से प्रकृति और पुरुष दोनों परस्पर भिन्न हैं तथापि एक दूसरे के आश्रित होने से उनका भेद नहीं दीखता । प्रकृति में पुरुष और पुरुष में प्रकृति एक से प्रतीत होते हैं । अतएव, हे सर्वज्ञ ! मेरे हृदय में यह बड़ा भारी संदेह है । इसको कृपा करके अपने अमृतमय वचनों से दूर कीजिए । हे देव ! जीवों को आप की कृपा से ज्ञान होता है । सब जीव आपकी माया शक्ति से मोह में पड़ते हैं । अपनी माया शक्ति की विचित्र गति को आप ही जानते हैं । आपके बिना उसे कोई नहीं जान सकता ।

श्रीभगवानुवाच—

प्रकृतिः पुरुषश्चेति विकल्पः पुरुषर्षभ ।
एष वैकारिकः सर्गो गुणव्यतिकरात्मकः ॥२९॥

ममाङ्ग माया गुणमय्यनेकधा
विकल्पबुद्धिश्च गुणैर्विधत्ते ।
वैकारिकस्त्रिविधोऽध्यात्मेक—
मथाधिदैवमधिभूतमन्यत् ॥३०॥

श्री भगवान् बोले कि हे पुरुष श्रेष्ठ उद्धव ! प्रकृति और पुरुष का भेद स्पष्ट ही है, किन्तु यह विकारवान् प्रपञ्च जो

तुम देखते हो, वह केवल प्रकृति के गुणों के क्षोभ का ही परिणाम है। मेरी त्रिगुणात्मिका माया अपने गुणों से अनेक प्रकार के विकल्प-रूप भेद उत्पन्न करती है। वह विकारवान भेद अध्यात्म, अधिदव और अभिभूतरूप से तीन प्रकार का है।

दृग्रूपमार्कं वपुरत्र रन्ध्रे
परस्परं सिध्यति यः स्वतः खे।
आत्मा यदेषामपरो य आद्यः
स्वयाऽनुभूत्याऽखिलसिद्धसिद्धिः ।
एवं त्वगादि श्रवणादि चक्षु-
जिह्वादि नासादि च चित्तयुक्तम् ॥३१॥

जैसे चक्षु इन्द्रिय अध्यात्म, रूप अधिभूत और सूर्य अधिदैव हैं। ये तीनों परस्पर एक दूसरे के आश्रय से सिद्ध होते हैं तथापि आकाश स्थित सूर्य इस रूप और चक्षु मे प्रथक् स्वतः सिद्ध होता है। उसके ही प्रकाश से चक्षु और रूप प्रकाशित होते हैं। पृथक् रहा हुआ सूर्य ही रूप और चक्षु के प्रकाश का कारण है। इस प्रकार भौतिक जगत् का आदि करग आत्मा है जो इस से पृथक् है, अपने प्रकाश से स्वयं सिद्ध है एवं इन सबके प्रकाश का भी प्रकाशक है और पृथक् है। इस तरह श्रोत्र, त्वक् चक्षु रसना, घ्राण और चित्तादि के भी अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव तीन भेद हैं। श्रोत्र इन्द्रिय अध्यात्म, उसका विषय शब्द अधिभूत और उसके देवता दिशा अधिदेव कहलाते हैं। त्वचा इन्द्रिय अध्यात्म, उसका विषय स्पर्श अधिभूत, उसके देवता वायु अधिदैव हैं।

चक्षु अध्यात्म, उसका विषय रूप अधिभूत और उसके देवता सूर्य अधिदैव हैं। रसना अध्यात्म, रस अधिभूत और वरुण देवता अधिदैव हैं। नासिका अध्यात्म गन्ध अधिभूत देवता अश्विनीकुमार अधिदैव हैं। ऐसे ही अन्तःकरण में मन अध्यात्म, संकल्प (उसका विषय मन्तव्य) अधिभूत और उसके देवता चन्द्रमा अधिदैव हैं। बुद्धि अध्यात्म है, बोधव्य अधिभूत है और देवता ब्रह्मा अधिदैव हैं चित्त अध्यात्म, चिन्तनीय विषय अधिभूत और देवता वासुदेव अधिदैव है। अहंकार अध्यात्म, विषय अहं अधिभूत और देवता रुद्र अधिदैव हैं।

भेदाभेद का मूल कारण

योऽसो गुणक्षोभकृतो विकारः
प्रधानमूलान्महतः प्रसूतः।
अहं त्रिवृन्मोहविकल्पहेतु-
वैंकारिकस्तामस ऐन्द्रियश्च ॥३२॥
आत्मा परिज्ञानमयों विवादो
ह्यस्तीति नास्तीति भिदाऽर्थनिष्ठः।
व्यर्थोऽपि नैवोपरमेत पुन्सां
मत्तः परावृत्तधियां स्वलोकात् ॥३३॥

जिस गुण-क्षोभ के कारण प्रकृति के मूल से महत्तत्वादि उत्पन्न होते हैं, उनमें यह अहंकार ही मोह और विकल्प रूप भेद भाव का मुख्य हेतु है। यह अहंकार सात्त्विक, राजसिक

और तामसिक भेद से तीन प्रकार का है। इस कारण लोग ईश्वर है कि नहीं है, ऐसी द्विविधा में रहते हैं और सत्य, मिथ्या आदि विवादरूप विकल्प से भेद बुद्धि का भेद उत्पन्न करने वाले लोग अहंकार के ही कारण आत्मतत्त्व को नहीं जान सकते। उन लोगों को अपनी आत्मा के अज्ञान के कारण ही भेद प्रतीत होता है, जो व्यर्थ ही है। जब तक मनुष्य मुझ से विमुख रहते हैं तब तक इस अहंकार रूप भेद की निवृत्ति नहीं होती।

एकादश स्कन्ध, अध्याय १०

गुणाः सृजन्ति कर्माणि गुणोऽनुसृजते गुणान् ।
जीवस्तु गुणसंयुक्तो भुङ्क्तेकर्मफलान्यसौ ॥३१॥
यावत्स्याद्गुणवैषम्यं तावन्नानात्वमात्मनः ।
नानात्वमात्मनो यावत्पारतन्त्र्यं तदैव हि ॥३२॥
यावदस्याऽस्वतन्त्रत्वं तावदीश्वरतो भयम् ।
य एतत्समुपासीरंस्ते मुह्यन्ति शुचार्पिताः ॥३३॥

गुणों से कर्म की उत्पत्ति होती है और गुणों की साम्यावस्था में वैषम्य होकर तीनों गुणों की उत्पत्ति होती है। जीवात्मा सत्त्वादि गुणों से संयुक्त होकर कर्म के फलों को भोगता है। जब तक गुणों की विषमता रहती है तब तक नानात्व भी रहता है और जब तक भेदभाव रहता है तब तक जीवात्मा परतन्त्र है। जब तक जीवात्मा परतन्त्र है, तभी तक उसको ईश्वर का भय है। इसलिये जो लोग स्वर्गादि की कामना से वैदिक कर्म-उपासना करते हैं, वे शोकातुर होकर मोहग्रस्त रहते हैं और जन्म-मरण के चक्र में पड़े रहते हैं।

सांख्य योग–सृष्टि क्रम

एकादश स्कन्ध, अध्याय २४

अथ ते संप्रवक्ष्यामि सांख्यं पूर्वैर्विनिश्चितम् ।
यद्विज्ञाय पुमान्सद्यो जह्याद्वैकल्पिकं भ्रमम् ॥१॥
आसीज्ज्ञानमथो ह्यर्थ एकमेवाविकल्पितम् ।
यदा विवेकनिपुणा आदौ कृतयुगे युगे ॥२॥
तन्माया फल रूपेण केवलं निर्विकल्पितम् ।
वाङ्मनोऽगोचरं सत्यं द्विधासमभवद्बृहत् ॥३॥
तयोरेकतरोह्यर्थः प्रकृतिः सोभयात्मिका ।
ज्ञानं त्वन्यतमोभावः पुरुषः सोऽभिधीयते ॥४॥

श्री भगवान् बोले कि हे उद्धव ! अब मैं तुम से पूर्व ऋषियों द्वारा निर्णीत सांख्य योग का पूर्णरूप से वर्णन करता हूँ कि जिसके ज्ञान से मनुष्य विकल्प भ्रम को शीघ्र त्याग देता है। सतयुग के प्रारभ में प्राय: सभी मनुष्य विवेक ज्ञान निपुण थे। उस समय वे लोग द्रष्टा और दृश्य के भेद से रहित, निर्विकल्प, सत्य स्वरूप ब्रह्म को जानते थे। वह ब्रह्म, वाणी और मन से परे, विकल्प रहित, केवल सत्यस्वरूप है। वह माया तथा ज्ञान रूप से दो प्रकार हो गया। उन में पहिला तत्त्व प्रकृति है जो दो प्रकार की है और दूसरा भावज्ञान है जिसको पुरुष कहते हैं।

तमो रजः सत्त्वमिति प्रकृतेरभवन्गुणाः ।
मया प्रक्षोभ्यमाणायाः पुरुषानुमतेन च ॥५॥

तेभ्यः समभवत्सूत्रं महान् सूत्रेण संयुतः ।
ततो विकुर्वतो जातोऽहङ्कारो यो विमोहनः ॥६॥
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिवृत् ।
तन्मात्रेन्द्रिय मनसां कारणं चिदचिन्मयः ॥७॥
अर्थस्तन्मात्रिकाज्जज्ञे तामसादिन्द्रियाणि च ।
तैजसाद्देवता आसन्नेकादश च वैकृतात् ॥८॥

पश्चात् पुरुष के निमित्त मेरे द्वारा प्रक्षुभित प्रकृति से सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण प्रकट हुये और इन तीन गुणों से महान् सूत्र अर्थात् महत्तत्त्व का उद्भव हुआ। उस महत्तत्त्व के विकार से जीवों को मोहित करने वाला अहंकार उत्पन्न हुआ। उस अहंकार के वैकारिक, तैजस और तामस—ऐसे तीन भेद हैं अर्थात् वह अहकार पंच तन्मात्रा, इन्द्रिय और मन का कारण तथा जड़ चेतनमय है। तामस अहकार रूप तत्मात्राओं से आकाशादि पञ्चमहाभूत, राजसिक अहंकार से दश इन्द्रियां और सात्विक अहंकार से इन्द्रियों के अधिष्ठातृरूप एकादश देवता उत्पन्न होते हैं।

मया संचोदिता भावाः सर्वे संहत्यकारिणः ।
अण्डमुत्पादयामासुर्ममायतनमुत्तमम् ॥९॥

तस्मिन्नहं समभवमण्डे सलिलसंस्थितौ ।
मम नाभ्यामभूत्पद्मं विश्वाख्यं तत्र चात्मभूः ॥१०॥
सोऽसृजत्तपसा युक्तो रजसा मदनुग्रहात् ।
लोकान्सपालान्विश्वात्मा भूर्भुवः स्वरिति त्रिधा ॥११॥

हे उद्धव ! मेरी प्रेरणा मे यह सब कारण परस्पर एक दूसरे से मिल गये। उनके मिलने से मेरा सुन्दर गृह रूप यह ब्रह्माण्ड बन गया और अनन्त जल राशि के ऊपर संस्थित उस ब्रह्माण्ड में मैं स्वयं विराजमान हुआ। मेरी नाभि में से विश्व-नामक कमल प्रकट हुआ। उस कमल में से आत्मभू ब्रह्मा उत्पन्न हुए एवं मेरे अनुग्रह से उन्होंने सब लोकों की रचना की, जिनका विवरण प्रथम प्रकाश में आ गया है। छोटा, बड़ा, पतला, मोटा, किसी भी प्रकार का कोई भी पदार्थ जो उत्पन्न होता है, वह प्रकृति-पुरुष के संयोग से ही बनता है।

यस्तु यस्यादिरन्तश्च स वै मध्यं च तस्य सन् ।
विकारो व्यवहारार्थो यथा तैजसपार्थिवाः ॥१७॥
यदुपादाय पूर्वस्तु भावो विकुरुतेऽपरम् ।
आदिरन्तो यदा यस्य तत्सत्यमभिधीयते ॥१८॥
प्रकृतिर्ह्यस्योपादानमाधारः पुरुषः परः ।
सतोऽभिव्यञ्जकः कालो ब्रह्म तत्त्रितयं त्वहम् ॥१९॥

जिस वस्तु के आदि और अन्त में जो पदार्थ विद्यमान रहता है, मध्य में भी उसी की सत्ता रहती है। अतएव वही सत्य है। उसके विकार तो केवल व्यवहार के लिये ही होते हैं। जैसे पार्थिव घटादि में पृथ्वी सत्य है। जब किसी पूर्व उपादान कारण से दूसरा विकार भाव उत्पन्न होता है तो उन में, पिछला विकार आदि-अन्त वाला होने के कारण, पूर्व उपादान ही सत्य माना जाता है। इस जगत् का उपादान कारण प्रकृति सब का आधार परम पुरुष परमात्मा एवं इस

दृश्य प्रपंच का अभिव्यक्त करने वाला काल है। ये तीनों शुद्ध ब्रह्म रूप मैं ही हूँ, इसलिये सर्व जगत् का मूल कारण मैं ही हूँ।

सर्गः प्रावर्तते तावत्पौर्वापर्येण नित्यशः ।
महान्गुण विसर्गाऽर्थः स्थित्यन्तो यावदीक्षणाम् ॥२०॥
विराण्मयाऽऽसाद्यमानो लोक कल्पविकल्पकः ।
पञ्चत्वाय विशेषाय कल्पते भुवनैः सह ॥२१॥

जब तक ईश्वर की दृष्टि रहती है, तब तक जीवों के भोगार्थ पूर्वापर क्रम से, स्थिति के अंत तक, यह जगत् प्रवाह रूप से चलता रहता है। समयानुसार उत्पन्न और नष्ट होने वाला यह विराट् रूप संसार, प्रलय आने पर, चौदह भुवनों सहित अपने कारण पांचों तत्त्वों में लीन हो जाता है।

लय-क्रम

अन्ने प्रलीयते मर्त्यमन्नं धानासु लीयते ।
धाना भूमौ प्रलीयन्ते भूमिर्गन्धे प्रलीयते ॥२२॥
अप्सु प्रलीयते गन्ध आपश्च स्वगुणो रसे ।
लीयते ज्योतिषि रसो ज्योती रूपे प्रलीयते ॥२३॥
रूपं वायौ स च स्पर्शे लीयते सोऽपि चाम्बरे ।
अम्बरं शब्दतन्मात्र इन्द्रियाणि स्वयोनिषु ॥२४॥

शरीर अन्न में लय हो जाता है, अन्न बीज में, बीज पृथ्वी में और पृथ्वी गंध में लय होती है। गन्ध जल में लय हो जाता है। जल अपने गुण रस में, रस अग्नि में और अग्नि

रूप में लय होती है। रूप वायु में वायु स्पर्श में, स्पर्श आकाश में और आकाश शब्द तन्मात्रा में लय हो जाता है। इन्द्रियां अपने कारण राजस अहंकार में लीन होती हैं।

योनिर्वैकारिके सौम्य लीयते मनसीश्वरे।
शब्दो भूतादिमप्येति भूतादिर्महति प्रभुः ॥२५॥
स लीयते महान्स्वेषु गुणेषु गुणवत्तमः।
तेऽव्यक्ते संप्रलीयन्ते तत्काले लीयतेऽव्यये ॥२६॥
कालो मायामये जीवे जीव आत्मनि मय्यजे।
आत्मा केवल आत्मस्थो विकल्पापायलक्षणः ॥२७॥

राजस अहंकार अपने ईश्वर मन रूपी सात्विक अहंकार में लय होता है, शब्दादि तन्मात्रायें पञ्चभूतों के कारण तामस अहंकार में लीन होती हैं और इन सब का प्रभु अहंकार महत्तत्व में लय होता है। वह महत्तत्व अपने सत्त्वादि गुणों में लय होता है, वे तीनों गुण अव्यक्त प्रकृति में लीन होते हैं और प्रकृति अविनाशी काल में लीन होती है। वह काल मायामय जीव में लय होता है और जीव मुझ अजन्मा आत्मा में लय होता है। वह आत्मा केवल अपने विकल्प रहित लक्षण वाले आत्म-स्वरूप में ही स्थित रहता है। वह किसी में भी लीन नहीं होता।

एकामन्वीक्षमाणस्य कथं वैकल्पिको भ्रमः।
मनसो हृदि तिष्ठेत व्योम्नोवार्कोदये तमः ॥२८॥
एष सांख्यविधिः प्रोक्तः संशय-ग्रन्थिभेदनः।
प्रतिलोमानु—लोमाभ्यां परावरदृशा मया ॥२९॥

हे उद्धव ! "आरम्भ से लेकर अंत तक सब जगत् में एक तत्त्व ही व्यापक है", इस प्रकार देखने वाले पुरुष के हृदय में वैकल्पिक भ्रम कैसे रह सकता है ? अर्थात् नहीं रहता, जैसे सूर्योदय होने पर आकाश में अंधकार नहीं रह सकता । हे परम प्रिय उद्धव ! सबके स्वामी, सर्वज्ञ, परावरदर्शी मैंने यह सांख्य-योग के ज्ञान की विधि जो कारण से कार्य प्रसव-क्रम और कार्य से कारण में लय होंने के क्रम सहित तुमको कहीं है, वही सब संशयों की ग्रन्थि का भेदन करने वाली है ।

मन की गति-विधि गुणों के अधीन है

तुम्हारा मन जब जिस गुण के अधीन होता है, तब तुम में सात्त्विक, राजसिक एवं तामसिक भाव प्रबलता को प्राप्त होते हैं और उन गुणों के अधीन होकर तुम जो-जो कर्म करते हो उनका फल भी मन की गुणयुक्त भावना के अनुसार होता है। पंचभूत को धारण करने वाला मन अध्यात्म है, सङ्कल्प अधि-भूत कहलाता है और चन्द्रमा अधिदैव है। ऐसे ही समग्र ब्रह्माण्ड के मूल कारण तीन गुण अध्यात्म हैं, उनका विषय प्रकृति अधिभूत है और परमात्मा अधिदैव हैं। ये तीनों परस्पर एक दूसरे के आश्रय से सिद्ध होते हुए भी परमात्मा प्रकृति से पृथक् हैं। परमात्मा के अधीन प्रकृति, प्रकृति के अधीन गुण हैं। गुणों के अधीन मन और मन के अधीन चराचर जगत् के विषय हैं। तथापि मन अपने प्रभुत्व को जानता नहीं है, इसलिये गुणों का आश्रय करके, उनके अधीन होकर, सुख-दुःख का भोक्ता होता है। वास्तव में मन ही गुण और विषयों का स्वामी है, गुण और विषय मन के स्वामी नहीं हैं।

गुणों की वृत्तियां

एकादश स्कन्ध अध्याय २५

शमो दमस्तितिक्षेक्षा तपः सत्यं दया स्मृतिः ।
तुष्टिस्त्यागोऽस्पृहा श्रद्धा ह्रीर्दयादि स्वनिर्वृतिः ॥२॥
काम ईहा मदस्तृष्णा स्तम्भ आशीर्भिदासुखम् ।
मदोत्साहो यशः प्रीतिर्हास्यं वीर्यं बलोद्यमः ॥३॥
क्रोधो लोभोऽनृतं हिंसा याञ्चा दम्भः क्लमः कलिः ।
शोक मोहौ विषादार्त्ति निद्राऽऽशा भिरनुद्यमः ॥४॥

जब तुम्हारा मन सत्त्वगुण के आश्रित होता है तब तुम में शम, दम, तितिक्षा, विवेक, वैराग्य, तप, सत्य, दया, स्मृति, संतोष, मेधा, बुद्धि, धृति, क्षमा, श्रद्धा, लज्जा, ज्ञान, आस्तिकता, निस्पृहा, विनय और दंभ रहित धर्म भाव उत्पन्न होते हैं और तुम्हें परम आनन्द की प्राप्ति होती है। जब तुम्हारा मन रजोगुणयुक्त होता है, तब तुम्हारे मन में कामना, कर्म अभिमान, तृष्णा, सुख की इच्छा, दंभ, कामुकता, असत्य भाषण, अधीरता, अधिक आनंद, भ्रमण, भेद बुद्धि, विषय तृष्णा, मद जनित उत्साह, आत्म-श्लाघा में प्रेम, हास्य, पुरुषार्थ, बल और उद्यम की प्रवृत्ति होती है। जब तुम्हारा मन तमोगुण युक्त होता है, तब तुम में नास्तिकता, विवाद, दुष्टमति, भय, निन्दित कर्म में प्रवृत्ति, अज्ञान, अति क्रोध और मूर्खतादि दोष प्रकट होते हैं। साथ २ लोभ, मिथ्या व्यवहार, हिंसा, याचना, पाखंड, कलह, शोक, मोह, क्लेश, दीनता, दरिद्रता, आशा एवं प्रमाद से अनु-

धर्मि होकर तुम अकर्मण्य और आलसी होते हो। इसलिये इन तीनों गुणों की वृत्तियों से होने वाले कर्मों के तीनों प्रकार के फलों और परस्पर मिले हुए गुणों का परिचय करने से तुमको मेरी प्राप्ति के साधन में बड़ी सहायता मिलेगी। साथ ही साथ तुम अपने मन, प्राण की गति-विधि सहज ही बदल सकोगे, क्योंकि इस ज्ञान के बिना तुम अपने मन पर अपना अधिकार नहीं जमा सकते। इसलिये इनका जानना अतीव आवश्यक है।

सन्निपातस्त्वहमिति ममेत्युद्धव या मतिः।
व्यवहारः सन्निपातो मनोमात्रेन्द्रियासुभिः ॥६॥
धर्मे चार्थे च कामे च यदाऽसौ परिनिष्ठतः।
गुणानां सन्निकर्षोऽयं श्रद्धारतिधनावहः ॥७॥
प्रवृत्तिलक्षणे निष्ठा पुमान्यर्हि गृहाश्रमे।
स्वधर्मे चानुतिष्ठेत गुणानां समितिर्हि सा ॥८॥

'मैं हूँ, मेरा है' इस प्रकार की बुद्धि में तीनों गुणों का समावेश रहता है। ऐसे ही शब्दादि विषय, इन्द्रिय, प्राण सब के मेल से जो व्यवहार होता है, वह भी तीनों गुणों के मेल से होता है। जब तुम धर्म, अर्थ, काम में श्रद्धा से प्रवृत्त होते हो, तब इन तीनों गुणों का समावेश समझो। उससे तुम्हें श्रद्धा, रति और धनादि की प्राप्ति होती है। जब तुम स्वधर्म में रहकर नित्य, नैमित्तिक कर्म से लगे रहो, सकाम कर्म और गृहस्थ में तुम्हें आसक्ति आवे, तो भी समझना कि तीनों गुणों के मेल से तुम्हारी प्रवृत्ति हो रही है।

पुरुषं सत्त्वसंयुक्तमनुमीयाच्छमादिभिः ।
कामादिभी रजोयुक्तं क्रोधाद्यैस्तमसा युतम् ॥९॥
यदा भजति मां भक्त्या निरपेक्षः स्वकर्मभिः ।
तं सत्त्व प्रकृतिं विद्यात्पुरुषं स्त्रियमेव वा ॥१०॥
यदा आशिष आशास्य मां भजेत स्वकर्मभिः ।
तं रजः प्रकृतिं विद्यार्द्धिसामाशास्य तामसम् ॥११॥

जब तुम देखो कि गुणों की प्रधानता से तुम में प्रवृत्ति और निवृत्ति प्रकाश पाती है, तो गुणों के उक्त कथिक लक्षणों से तुम्हें समझना चाहिए कि शम, दमादि से सत्त्व गुण वाले सात्त्विक पुरुष का, कामादि से रजोगुणी का और क्रोधादि से तमोगुणी का परिचय होता है। चाहे स्त्री हो या पुरुष, जब वे अनपेक्ष, निष्काम, बिना हेतु मेरा भजन करते हैं तो उनको सत्त्व गुणी समझना और जब वे किसी कामना से भजते हैं तो रजोगुणी जानना। जो लोग बलि आदि जीव हिंसा कर्म से मेरा भजन करते हैं, उनको तमोगुणी समझना चाहिये।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणा जीवस्य नैव मे ।
चित्तजा यैस्तु भूतानां सज्जमानो निबध्यते ॥१२॥

सत्त्व, रज और तम—ये गुण जीव के हैं, मेरे नहीं। ये तुम्हारे चित्त में ही उत्पन्न होते हैं। इनमें आसक्त होने से तुम बन्धन में पड़ जाते हो।

काल—समय

यदेतरौ जयेत्सत्त्वं भास्वरं विशदं शिवम् ।
तदा सुखेन युज्येत धर्म ज्ञानादिभिः पुमान् ॥१३॥

यदा जयेत्तमः सत्त्वं रजः सङ्गं भिदा बलम् ।
तदा दुःखेन युज्येत कर्मणा यशसा श्रिया ॥१४॥
यदा जयेद्रजः सत्त्वं तमो मूढं लयं जडम् ।
युज्येत शोकमोहाभ्यां निद्रया हिंसयाऽऽशया ॥१५॥

जिस समय प्रकाशमान, स्वच्छ, शान्त एवं कल्याणकर सत्त्व-गुण, रज और तम को दबा कर, बढ़ता है उस समय तुम सुख, धर्म और ज्ञानादि से सम्पन्न हो जाते हो। जब आसक्ति, भेद-बुद्धि और प्रवृत्ति का बढ़ाने वाला रजोगुण, तम और सत्त्व का पराभव करके बढ़ता है तब तुम दुःख, कर्म, यश और सम्पत्ति से युक्त होते हो। जब अज्ञान आवरण वाला जड़ रूप तमोगुण, सत्त्व और रज को जीत कर, बढ़ता है उस समय तुम शोक, मोह, निद्रा, हिंसा और आशा से युक्त हो जाते हो।

यदाचित्तं प्रसीदेत इन्द्रियाणां च निर्वृत्तिः ।
देहेऽभयं मनोऽसङ्गं तत्सत्त्वं विद्धि मत्पदम् ॥१६॥
विकुर्वन्क्रियया चाऽऽधीरनिर्वृत्तिश्च चेतसाम् ।
गात्रास्वास्थ्यं मनो भ्रांतं रज एतैर्निशामय ॥१७॥
सीदच्चित्तं विलीयेत चेतसो ग्रहणेऽक्षमम् ।
मनो नष्टं तमो ग्लानिस्तमस्तदुपधारय ॥१८॥

जब चित्त प्रसन्न हो, इन्द्रियां शान्त और प्रकाश युक्त हों, देह निर्भय हो एवं मन अनासक्त हो, तब समझना कि मेरी प्राप्ति के स्थान सत्त्वगुण का आविर्भाव हुआ। जब तुम क्रिया कर्म में तत्पर हो, बुद्धि तुम्हारी डगमगाने लगे, चित्त चंचल अशान्त हो जाय, शरीर अस्वस्थ हो जाय और मन भ्रम में

पड़ जाय तो समझ लेना कि रजोगुण बढ़ गया है। जब तुम धारणा-ध्यान करने में असमर्थ हो जाओ, अन्तरात्मा में तुम्हारा मन लगना ही न चाहे, आलस्य और तन्द्रा से तुम्हारा मन मूढ़ता को प्राप्त होकर शून्यवत् अकर्मण्य हो जाय, अज्ञान तुम्हें आ घेरे, ग्लानि बढ़ने लगे, तुम अपने को भूल जाओ, तब समझना तुम्हारा सर्वनाश करने वाला तमोगुण बढ़ रहा है।

एधमाने गुणे सत्त्वे देवानां बलमेधते।
असुराणां च रजसि तमस्युद्धव रक्षसाम् ॥१९॥

सत्त्वगुण के बढ़ने से दिव्य शक्तियों का बल बढ़ता है और रजोगुण के बढ़ने से आसुरी वृत्तियों का बल बढ़ता है और तमोगुण के बढ़ने से राक्षसी वृत्तियों का बल बढ़ता है। सत्त्व के आश्रय से तुम दिव्य कर्म—धारणा, ध्यान, समाधि का परम सुख पाओगे। रजोगुण के आश्रय से अकर्म, ईर्ष्या, द्वेष, मान, बड़ाई, दँभ, अहंकार करके मरोगे, मारोगे और तमोगुण के आश्रय से अनाचार, अत्याचार, व्यभिचारादि विकर्म करके नरक को जाओगे।

क्रिया क्रम

उपर्युपरि गच्छन्ति सत्त्वेन ब्राह्मणा जनाः।
तमसाऽधोऽध आमुख्याद्रजसाऽन्तरचारिणः ॥२१॥

सत्त्व गुण के आश्रय से धारणा, ध्यान, योग, जप, तप, यज्ञ, दान, भक्ति, श्राद्धादि सात्त्विक कर्म करने वाले ब्राह्मण लोग, सात्त्विक कर्म करके उत्तरोत्तर ऊपर ही ऊपर स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक और ब्रह्मलोक को जाते हैं। रजोगुण के आश्रय से राजसिक कर्म करके यहां बीच में ही रह जाते हैं और तमोगण के आश्रय से निषिद्ध एवं निन्दित ताम-

सिक कर्म करने वाले नीचे ही नीचे नरक, पशु, पक्षी, कीट, पतग आदि योनियों में जाते हैं ।

सत्त्वाज्जागरणं विद्याद्रजसा स्वप्नमादिशेत् ।
प्रस्वापं तमसा जन्तोस्तुरीयं त्रिषु संततम् ॥२०॥

सत्त्व से जाग्रत अवस्था, रजोगुण से स्वप्न तथा तमोगुण से सुषुप्ति अवस्था होती है । तुरीय अथवा समाधि अवस्था तीनों में व्याप्त रहती है । सत्त्वगुण की वृद्धि के सयय मरने वाले ऊपर स्वर्ग को जाते हैं, रजोगुण की वृद्धि में मरे हुए मध्य में अर्थात् इस लोक में आते हैं—मनुष्य होते हैं और तमोगुण की वृद्धि में मरे हुए नर्क या पशु योनि में जाते हैं । गुणातीत होकर गमन करने वाले मुझ निर्गुण ब्रह्म को पा जाते हैं ।

फल

निष्काम या ईश्वरार्पण बुद्धि से किया हुआ कर्म सात्त्विक, फल प्राप्ति की इच्छा से किया हुआ कर्म राजसिक और जीव हिंसादि युक्त कर्म तामसिक होते हैं । इसी तरह सात्त्विक कर्म का फल निर्मल सुख, राजसिक कर्म का फल दुःख और तामसिक कर्म का फल अज्ञान है ।

तस्माद्देहमिमं लब्ध्वा ज्ञानविज्ञानसंभवम् ।
गुणसङ्गं विनिर्धूय मां भजन्तु विचक्षणाः ॥३३॥

क्योंकि ज्ञान विज्ञान प्राप्ति के लिये ही तुमने यह शरीर पाया है, अतएव तुम्हें गुण सङ्ग को त्याग कर और आसक्ति प्रमाद को छोड़ कर, सत्त्वगुण के द्वारा रज और तम का पराभव करके, इन्द्रिय सयम पूर्वक मेरा भजन करना चाहिये ।

पञ्चम प्रकाश

भारत में ज्ञान मार्ग के सम्प्रदाय

पुराकाल से ही भारतवर्ष में वेदान्त, योग, मन्त्र, तन्त्र और भक्ति आदि ज्ञान मार्ग के सम्प्रदाय चले आते हैं। इन सम्प्रदायों से ही लोग अपने धर्म-कर्म की शिक्षा-दीक्षा लेकर ज्ञान लाभ करते हैं। परन्तु वर्तमान में इन सम्प्रदायों की अवस्था और व्यवस्था और ही रूप में परिणत हो गई है। उपदेष्टाओं की स्वेच्छाचारिता और अयोग्यता के कारण, उनसे उपदेश लेकर भी, लोगों को ज्ञान-साधना का वांछित फल नहीं होता। अतः वे पूर्व आचार्यों के कथित शास्त्र के मार्ग को छोड़ कर अपनी अनुकूलतानुसार स्वेच्छा से वर्त्तते हैं और वास्तविक तत्त्व को न जानकर अपने नये २ सम्प्रदाय बनाते हैं। फलस्वरूप वर्तमान में भारत में धर्म के जितने सम्प्रदाय प्रचलित हैं, उतने पृथ्वी पर किसी भी देश में नहीं हैं, तथापि धर्म के विषय में भारतवासी भी सावधान नहीं हैं।

वेदान्त मार्ग

सबसे प्रथम, प्राचीन और वैदिक वेदान्त मार्ग है, जिसके ज्ञान-प्राप्ति के साधन विवेक, वैराग्य, शमादि षट् सम्पत्ति और मुमुक्षत्व हैं। इनका साधन करने से मनुष्य तत्त्वज्ञान के अधिकारी होते हैं। इस वेदान्त कथित साधन चतुष्टय का बिना संचय किये कोई ब्रह्मतत्त्व जानने का अधिकारी नहीं हो सकता। जैसे कोई व्यक्ति दूर देश जाता है तो वह अपनी आवश्यक सम्पत्ति—अर्थ, साथ ले जाता है ताकि मार्ग में कष्ट

न हो और निर्विघ्नता से गंतव्य स्थान पर पहुँचा जाय । वैसे ही अध्यात्म-पथ में यह साधन संपत्ति अवश्य होनी चाहिये, नहीं तो वहां पहुँचा नहीं जाता। वेदान्त कहता है कि विवेक वैराग्य, शमादि षट् सम्पत्ति के साथ श्रवण, मनन, तथा निदिध्यासन से चित्त की शुद्धि होकर ज्ञान होगा और ज्ञान से ही मोक्ष होता है । बिना ज्ञान से शतकोटि जन्म में भी मनुष्य ईश्वर से नहीं मिल सकते, उनकी मुक्ति नही हो सकती। यह वेदान्त का तत्त्व, सार सिद्धान्त है।

वेदान्त मार्ग के वेद, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, श्री शंकराचार्य के रचित ग्रन्थ समूह तथा योग वशिष्ठादि बड़े २ ग्रन्थ हैं। वे सभी ग्रन्थ माया और माया के कार्य का, युक्ति, तर्क, वितर्क एव श्रुति द्वारा, मिथ्यात्व प्रतिपादन करके केवल निरतिशय, निर्विशेष, निराकार शुद्ध परब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। कर्म का त्याग करके, उपासना द्वारा, त्याग-तपस्या की शिक्षा देते हैं । एवं "तत्त्वमसि" प्रभृति महावाक्यों द्वारा जीवात्मा-परमात्मा का एकत्त्व-बोध कराते हैं। वेदान्त कथित ज्ञान के जितने भी साधन हैं, उनमें विचार ही मुख्य है। सर्वदा यह विचारते रहना है कि—"अहं ब्रह्मास्मि"—मैं ब्रह्म हूँ। सर्वत्र ब्रह्म परिपूर्ण है, प्रकृति परिवर्तन शील है, यह माया जनित जगत् मिथ्या है; इसका कोई अस्तित्त्व नहीं है। रज्जु में सर्प, स्थाणु में पुरुष और शुक्ति में रजतवत्, भ्रान्ति से, अज्ञान के कारण, यह संसार भास रहा है। वास्तव में जगत् नहीं है। यह माया न सत् है न असत् है, वरन् मिथ्या है, अनिर्वचनीय है। जगत् में और दूसरा कोई नहीं है, "एकमेवाद्वितीयम्", एक मात्र अद्वितीय ब्रह्म ही है।

योगबीज

ज्ञानादेवहि मोक्षं च वदंति ज्ञानिनः सदा ।
न कथं सिद्ध योगेन योगः किं मोक्षदो भवेत् ॥६७॥
ज्ञाने नैवहि मोक्षोहि तेषां वाक्यं तु नान्यथा ।
सर्वे वदंति खड्गेन जयो भवति तर्हि किम् ॥६८॥
बिना युध्येन वीर्येण कथं जय मवाप्नुयात् ।
तथा योगेन रहितं ज्ञानं मोक्षाय नो भवेत् ॥६९॥

वेदान्तवादी ज्ञानी लोग यही कहते हैं कि ज्ञान से ही मोक्ष होता है, अतएव सिद्धयोग से योग कैसे मोक्षदायक होगा अर्थात् योग करने की क्या आवश्यकता है ? उसके उत्तर में श्री महेश्वर कहते हैं कि ज्ञान से ही मोक्ष होता है, उनका यह कथन सत्य है । किन्तु जैसे यह सब कोई कहते हैं कि खड्ग से जय होती है, परन्तु बिना युद्ध के और बल के कैसे जय हो सकती है ? वैसे ही योग्य से रहित ज्ञान भी मोक्षदायक नहीं होता । क्योंकि बिना योग के ज्ञान नहीं होता और बिना ज्ञान के योग भी नहीं होता, इसलिये दोनों का अभ्यास करना चाहिए ।

योग मार्ग

योग शिखोपनिषद्, अध्याय १

विष्णुर्नामा महायोगी महाभूतो महात्पा ।
विष्णुरूपे महायोगी पालयेदखिलं जगत् ॥
रूद्ररूपो महायोगी संहरत्येव तेजसा ॥५३॥

दूसरा योग मार्ग है । उसक, साधन अष्टांग योग है । योग से, समाधि के बाद सयम इसकी शेष सीमा है, जिसके बल से

ब्रह्मांड के सभी तत्त्व यथातथ्य निश्चित् रूप से जाने जाते हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में परम योग तत्त्ववेत्ता योगीश्वर ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर योग करके ही ईश्वर कहलाते हैं और योग के बल से सृष्टि का नियंत्रण करके कार्य सम्पादन करते हैं। उनका कहा हुआ योग साधन ही मेरा सत्य एवं सनातन ज्ञान है। उस ज्ञान के आश्रय से तुम लोग मुझ परब्रह्म को निर्भ्रान्त रूप से जान सकोगे। अतएव योग साधना के लिये योगशास्त्र है।

योगशास्त्र महाविज्ञान है। उसके कर्त्ता परम कृपालु मगलमय महेश्वर हैं। उन्होंने योगशास्त्र में तुम्हारे लिये योग सम्बन्धी ज्ञातव्य तत्त्व सभी कह दिये हैं। योगशास्त्र के हजारों ग्रन्थ थे, परन्तु लोगों के दुर्भाग्य से और प्रमादवश अनुशीलन के अभाव से बहुत से ग्रन्थ नष्ट हो गये। तथापि अभी भी श्री महेश्वर, विरञ्चि तथा विष्णु भगवान् के कहे हुए योग ग्रन्थ, उपनिषद् एव योगतत्त्ववेत्ता ऋषि, मुनि, योगियों के बहुत से ग्रन्थ वर्तमान हैं। योगविद्या के प्रवर्तक सिद्धों में कपिल मुनि प्रसिद्ध हैं। उनका कहा हुआ साख्यदर्शन और पतञ्जलि मुनि का योगदर्शन सब शास्त्रों में सर्वोपरि समझे जाते हैं। ऐसा कोई शास्त्र ग्रन्थ नहीं होगा कि जिसमें योग की बात न आई हो। योग साधन सबके लिये कर्तव्य और माननीय है। पुराकाल में योग साधना के बल से लोग अपना उत्कर्ष साधन कर गये थे, जिसके फलस्वरूप भारतवासियों का अध्यात्म ज्ञान आज भी सारे भूमण्डल में सर्वोपरि समझा जाता है। परन्तु वर्तमान में लोगों की दशा इस विषय में विपरीत है।

पुरुषार्थवादी योगी लोग कहते हैं कि योग साधना न करके, ऊपर के मन से वेदान्त का विचार करते २ शिर चक्कर खा जायेगा तथापि मन इच्छानुसार रोका नहीं जायेगा। केवल मन से ब्रह्म बनने से शाश्वत आत्म-तृप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि कहीं भी देखने-सुनने में नहीं आया कि मानसिक भोजन से कोई व्यक्ति दीर्घायु हुआ हो। अतएव बिना योग साधना किये ज्ञान लाभ करना सहज नहीं और काल के अधीन होना अनिवार्य है।

मन्त्र मार्ग

तीसरा मंत्र मार्ग है। वर्तमान में इसका भारत में कोई स्वतंत्र सम्प्रदाय देखने में नहीं आता, किन्तु मत्र सब सम्प्रदायों में अपना थोड़ा बहुत अधिकार कर गये हैं और सभी सम्प्रदाय वाले मंत्रो को मानते हैं। लोग जितना मंत्रविद्या का आदर करते हैं, उतना योग और वेदान्त का आदर नहीं करते क्योंकि योग और वेदान्त कल्याणकारी हैं। उनमें भोग त्याग करना कहा है। परन्तु बहुत से लोग भोग त्यागना नहीं चाहते। वे तो ससार का सुख ही चाहते हैं। इसलिये धारणा, ध्यानादि योग साधन न करके पाठ, पूजन, जप, तप द्वारा अपने उपास्य देवी-देवताओं को प्रसन्न करने का प्रयत्न करते हैं और जो कुछ करते हैं वह भी कामना करके ही करते हैं। कामनायुक्त होकर मंत्र का अनुष्ठान करने से सात्त्विक भाव वालों को धर्म की, राजसिक वालों को अर्थ की और तामसिक भाव वालों को काम की सिद्धि होती है, किन्तु उनकी मुक्ति नहीं होती। मुक्ति तो सब कामनाओं का त्याग करने से ही होती है।

तंत्र मार्ग

चौथा तंत्र का मार्ग है। किसी समय भारतवर्ष में यह तंत्र सम्प्रदाय बड़ा प्रबल था। वर्तमान काल में प्रायः लुप्त सा हो गया है। तथापि बंगाल, बिहार, उड़ीसा, काश्मीर, नैपाल आदि देशों में इसके अनुयायी मिलते हैं। वे लोग शिव-शक्ति रूप से ईश्वर की उपासना करते हैं। उनके साधन के ग्रन्थ तंत्र शास्त्र हैं जिनके हजारों ग्रन्थ थे। उनमें अधिकारी विशेष के लिये तात्कालिक भोग और मोक्ष प्राप्ति का वर्णन है। योग सम्बन्धी ज्ञान विशेष करके तंत्र ग्रन्थों में ही मिलता है। जितने मंत्र हैं वे भी तंत्र ग्रन्थों में मिलते हैं। मंत्रों के देवताओं की सिद्धि तथा उनकी पूजा-पद्धति और ध्यान, ज्ञान सब ही कुछ तंत्र ग्रन्थों में भरपूर है। वेद में जो ज्ञान बीजरूप से है, उसको तंत्र शास्त्रों में विस्तार से कहा है। बहुत से लोग तंत्र शास्त्र के प्रति कटूक्ति करते हैं, किन्तु विचारपूर्वक तंत्र ग्रन्थों को देखने से ज्ञात होगा कि जैसा वे समझते हैं, वैसा नहीं है।

कितनेक तंत्र ग्रन्थों में पशवाचार, वीराचार और दिव्याचार नाम से तीन प्रकार के मार्ग कहे हैं। उनमें पशवाचार मार्ग से जीव हिंसा आदि तामसिक कर्म द्वारा उपासना करने वाले वाममार्गी कहलाते हैं, वे ही निन्दा के पात्र हैं। परन्तु वीराचार और दिव्याचार मार्ग से राजसिक तथा सात्त्विक उपासना करने वाले शुद्ध उपासकों की मंत्र-शक्ति और योग का ज्ञान प्रत्यक्ष फलप्रद, प्रभावशाली, अतीव आश्चर्यजनक और प्रशंसा के योग्य है। वे लोग भी पशवाचार के विरुद्ध हैं। वर्तमान में वैदिक क्रियाकर्म से तो क्वचित् किसी को प्रत्यक्ष फल

होता होगा, परन्तु तंत्र कथित मार्ग से सभी क्रिया कर्म का फल तत्काल होता है, अतएव तंत्र-शास्त्र महागूढ़ रहस्यमय है।

भक्ति मार्ग

पांचवां भक्ति मार्ग है जिसका वर्णन तृतीय प्रकाश में हो चुका है। वर्तमान में, भक्ति सम्प्रदाय वाले जैसा वर्त्तते हैं, इसका साधन मूर्ति पूजन तथा भगवान् की सेवा पूजा है। वे लोग द्विधा भाव से भक्ति करते हैं। अपने को दास और भगवान् को प्रभु समझ कर भजते हैं। उनके भक्ति साधन के ग्रन्थ प्रधानतः पुराण और अपने-अपने सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्यों के रचे हुए ग्रन्थ हैं और उनके भाष्यों को ही वे लोग सर्वोपरि मानते हैं। इसलिये वेदान्त कथित ज्ञान तथा योग शास्त्र कथित विज्ञान को वे लोग अपने अनुकूल नहीं समझते। योग और वेदान्त द्वैतभाव का निषेध करते हैं और वे लोग द्वैतवादी हैं, इसलिये वेदान्त और योग के ज्ञान को नहीं चाहते। साधारणतः जितने भी कल्याण के मार्ग हैं वो सभी वेद, उपनिषद् और दर्शनादि शास्त्रों के अनुसार ही चलने वालों को ज्ञान लाभ कराते हैं और उन मार्गों को मानने वाले लोग वैदिक धर्मानुसार ईश्वर-प्राप्ति के किसी भी मार्ग को पृथक् नहीं समझते, परन्तु वर्तमान में भक्ति सम्प्रदाय के बहुत से लोग योग और ज्ञान का नाम सुनते ही घबड़ा कर, भयभीत होकर, उसको अपने प्रतिकूल समझ कर, तिरस्कार करते हैं। उन्हें भय का कोई कारण नहीं है क्योंकि ज्ञान, योग और भक्ति—भगवान् से मिलने के लिये ये तीन ही मार्ग भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं कहे हैं। इसलिये घबड़ा कर ज्ञान और योग तिरस्कार करने की कोई बात नहीं है।

ज्ञान, योग और भक्ति की एकता

भगवद्गीता, अध्याय १८

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनंतरम् ।।५५।।

भगवान् कहते हैं कि मेरी प्राप्ति के लिये ज्ञान, योग और भक्ति—तीन ही मार्ग हैं। चौथा और कोई मार्ग नहीं है। ये तीनों एक साथ ही रहते हैं। जहां ज्ञान होगा, वहीं योग होगा और जहां ज्ञान एवं योग है, वहीं भक्ति है। ज्ञान का अर्थ है जानना और योग का अर्थ है चित्त-वृत्तियों का निरोध करके मुझ से मिलना। इसलिये ज्ञान से मुझे जानकर, योग से मिला कर, तुम्हारी मुझ में परानुरक्ति होकर जो अवस्था होगी वही मेरी पराभक्ति है। जिसको तुम ज्ञान द्वारा जानोगे नहीं और योग साधना करके मिलोगे नहीं, उसकी भक्ति कैसे हो सकती है? जब तुम ज्ञान से जान लोगे और योग से मिल लोगे, तभी तो भक्ति होगी। जिसे तुम ज्ञान से जानते नहीं हो, योग से मिलते नहीं हो, बिना जाने उसकी भक्ति हो ही नहीं सकती। इसलिये मुझे जानने के लिये तुम्हें ज्ञान चाहिए और मिलने के लिये योग साधन करनी चाहिये। जब तुम ज्ञान से मुझे जान लोगे, योग से मिल लोगे, तब तुम्हारे में जो भक्ति होगी उसी का नाम वास्तविक भक्ति है। उस भक्ति के द्वारा, ज्ञान से ही मुझे भली प्रकार जानकर, योग से मुझ में प्रवेश करोगे तब तुम्हें समाधि होगी। उस समाधि में ही तुम मुझे तत्त्वतः, जैसा कि मैं हूँ, ठीक जान सकोगे।

अतएव योग, ज्ञान और भक्ति ये तीनों एक से एक बढ़कर हैं और एक दूसरे से मिले हुए हैं। एक दूसरे के आश्रित होने के कारण एक के बिना दूसरे की प्राप्ति नहीं होती और न स्थिति हो सकती है। इनको पृथक् समझना ही महाभ्रम है और मेरे कथन का अनादर करना है। मेरी बात को न मानकर जब तुम अपने सम्प्रदाय के शास्त्रानुसार पक्षपात से ज्ञान, योग और भक्ति के पहले अथवा पीछे होने का विचार करते रहोगे तो तुम्हारा मंगल नहीं होगा। ज्ञान, योग और भक्ति किसी सम्प्रदाय विशेष की सम्पत्ति नहीं है जो कि उसके अनुयायी नहीं होने से दूसरों को मिले ही नहीं। ये तो केवल त्याग, तपस्या एवं ईश्वर के अनुग्रह से प्राप्त होने वाली वस्तु है। इनको तुम सब ही पा सकते हो। इसलिये तुम लोग, सब सम्प्रदायों का झगड़ा छोड़ कर, उदारता से अपने को किसी भी सम्प्रदाय विशेष के अनुयायी मत समझो। इसमें ही तुम्हारा मंगल है। बहुत से लोग शास्त्र पढ़कर अथवा संन्यास लेकर, थोड़ा बहुत कोई साधन करके, झट उपदेष्टा बन कर, लोक समाज में ज्ञान का प्रचार करने में प्रवृत्त हो जाते हैं और समय पाकर अपना समाज अथवा सम्प्रदाय बना लेते हैं। इस प्रकार धर्म के बहाने से आजकल भारतवर्ष में समाज और सम्प्रदायों की भरमार है तथापि भारत देश का भला नही होता।

जगत् की पूर्ति नहीं होती

इसलिये जैसा पहिले कहा गया है कि मन की गति-विधि में गुणों के संयोग से होने वाले परिवर्तन से इष्ट-अनिष्ट का विचार करके, अभी संसार में ही रह कर, तुम्हें मेरी प्राप्ति के

लिये योग साधन करना चाहिए। क्योंकि घर बार छोड़के, साधना न करके, धर्म प्रचार या परोपकार के बहाने से लोक समाज में उपदेष्टा वन जाने से अथवा सम्प्रदाय बना लेने से ही तुम्हारा मंगल नहीं हो सकता। अतएव पहिले योगसाधन से शरीर, मन, प्राण को वश करके आत्मतत्त्व का अनुभव कर लो। पश्चात् यदि ईश्वर इच्छा से तुम्हारे द्वारा लोगों का भला होना है तो अन्तर आत्मा से प्रेरणा होगी, तभी उपदेश देने में प्रवृत्त होना। क्योंकि जगत् में कितने ही महान् आत्मा आये परन्तु यहां कुछ नहीं बढ़ा और बड़े २ महापुरुष आकर चले गये तथापि कोई कमी नहीं हुई। जैसे समुद्र में सारी नदियां मिल जाती हैं तो भी समुद्र का जल नहीं बढ़ता और सूर्य के आकर्षण से कितना ही जल आकाश में उड़ जाता है, परन्तु समुद्र में जल की कमी नहीं पड़ती, इसी तरह संसार की पूर्ति नही होती। अतएव तुम्हारे रहने या न रहने से जगत् में कुछ भी बढ़ेगा घटेगा नहीं।

सिद्धिप्रद मार्ग

योग शिखोपनिषद्, अध्याय १

सर्वे जीवा सुखैर्दु:खैर्मायाजालेन वेष्टिता:।
तेषां मुक्तिः कथं देव कृपया वद शंकर ।।१।।

सर्व सिद्धिकरं मार्ग मायाजालनिकृन्तनम् ।
जन्ममृत्युजराव्याधि नाशनं सुखदं वद ।।२।।

नाना मार्गैस्तु दुष्प्राप्यं कैवल्यं परमं पदम् ।
सिद्धि मार्गेण लभते नान्यथा पद्मसंभव ।।३।।

श्री महेश्वर के प्रति ब्रह्मा जी बोले कि हे शंकर ! सब जीव सुख-दुःख और माया-जाल में घिरे हुए हैं, उनकी मुक्ति कैसे होगी ? कृपया कहिये । हे देव ! मनुष्यों को सर्व सिद्धिप्रद, माया-जाल का काटने वाला, जन्म, मृत्यु, जरा एवं व्याधिनाशक और महासुख देने वाला कोई मार्ग कृपा करके कहिये । तब श्री महेश्वर बोले कि हे पद्मज ब्रह्मा ! कैवल्यरूप परमपद है। वह योग के बिना नाना प्रकार के मार्गों से प्राप्त होना कठिन है। वह तो केवल सिद्ध मार्ग महायोग से ही प्राप्त होता है। सिद्धि देने वाले प्राणायाम-योग मार्ग के बिना और मार्गों से मन को वश करना सहज नहीं है ।

चित्तं प्राणेनसंबद्धं सर्व जीवेषु संस्थितम् ।
रज्ज्वा यद्वत्सुसंबद्धः पक्षी तद्वदिदं मनः ।।५९।।
नानाविधैर्विचारैस्तु न बाध्यं जायते मनः ।
तस्मात्तस्य जयोपायः प्राण एवहि नान्यथा ।।६०।।
तर्कैर्जल्पैः शास्त्रजालैर्युक्तिभिर्मन्त्रभेषजैः ।
न वशो जायते प्राणः सिद्धोपायं विना विधे ।।६१।।
उपायं तमविज्ञाय योग मार्गे प्रवर्त्तते ।
खण्डज्ञानेन सहसा जायते क्लेशवत्तरः ।।६२।।

क्योंकि मन प्राण के अधीन है। जैसे रज्जु से पक्षी बंधा रहता है, उसी तरह सब जीवों का चित्त भी प्राण के साथ बंधा हुआ है। यदि कोई चाहे कि मैं विचार द्वारा उस मन को वश कर लूँ, तो ऐसे नाना प्रकार के विचार करने से मन बाध्य नहीं होता है। इसलिए उसको जीतने का एक मात्र उपाय प्राण

ही है। प्राणायाम नही करके, प्राण के जीते बिना, मन को जीतने का अन्य कोई उपाय नही है। और हे विधे ! यह प्राण भी सिद्ध उपाय महायोग के बिना तर्क-वितर्क, वाद-विवाद करने वाले शास्त्रों की युक्तियों से अथवा मत्र और औषध से वश में नही होता। प्राण को वश में करने के लिये महायोग ही एक मात्र सिद्ध उपाय है। जो लोग इस सिद्ध उपाय को न जानकर योगमार्ग में प्रवृत्त होते हैं, उन्हें खण्ड ज्ञान हेतु योग साधन में क्लेश हीं होता है, फल कुछ नही होता।

वर्तमान में मनुष्यों को इस शरीर से वायुयान द्वारा आकाश में उड़ना भी सहज हो गया है और जलयान से समुद्र-गर्भ पाताल में प्रवेश करना भी कठिन नही है। परन्तु इस दुर्जय मन को क्षण मात्र भी रोक लेना सहज साध्य नहो है। इस महाबली मन ने बड़े २ विचारवानों को भी चक्कर में डाल रखा है। इतने सारे शास्त्र ग्रन्थ भी इसी के बन्धन और मुक्ति का ही विचार करते हैं। इसका विश्वास करके मनुष्य कदापि अपने अभीष्ट की सिद्धि नही कर सकते। इसके निग्रह का उपाय योग साधन है।

ज्ञान के लिये शरीर पक्का होना चाहिये

अपक्वाः परिपक्वाश्च देहिनो द्विविधाः स्मृताः।
अपक्वा योग हीनास्तु पक्वा योगेन देहिनः ॥२५॥
सर्वो योगाग्निना देहो ह्यजडः शोकवर्जितः।
जड़स्तु पार्थिवो ज्ञेयो ह्यपक्वो दुःखदो भवेत् ॥२६॥

ध्यानस्थोऽसौ तथाप्येवमिन्द्रियैर्विवशो भवेत् ।
तानि गाढं नियम्यापि तथाप्यन्यैः प्रबाध्यते ॥२७॥

मन को जीतने से पहले शरीर को वश में करना आवश्यक है क्योंकि शरीर दो प्रकार के हैं अपक्व और परिपक्व । योग-साधन से रहित शरीर कच्चा कहलाता है और योगसाधन करने से शरीर परिपक्व होता है । परिपक्व शरीर से ही तुम मुझसे मिल सकोगे क्योंकि योग रूप अग्नि से पका हुआ शरीर जड़ता रहित, शोक वर्जित हो जाता है । योग साधन नहीं करने से यह पार्थिव देह जड़ कहलाता है, इसलिये कच्चा शरीर दुःख-दाई और भार रूप हो जाता है । ऐसे शरीर से धारणा, ध्यान करोगे तो, इन्द्रियों के विवश होने के कारण, स्थिर होकर बैठ नहीं सकोगे, हाथ पैर दुखने लग जायेंगे, चित्त में विक्षेप होगा, इस-लिये ब्रह्म के ध्यान को वहीं विसर्जन करना पड़ेगा । यदि ज्ञान से, विचार द्वारा दुःख के अनुभव से, इन्द्रिय और मन को रोक भी लोगे तो भी बहुत सी बाधायें आवेंगी ।

शीतोष्ण सुखदुःखाद्यैर्व्याधिभिर्मानसैस्तथा ।
अन्यैर्नानाविधैर्जीवैः शस्त्राग्नि जलमारुतैः ॥२८॥
शरीरं पीड्यते तैस्तैश्चित्तं संक्षुभ्यते ततः ।
तथा प्राणविपत्तौ तु क्षोभमायाति मारुतः ॥२६॥
ततो दुःखशतैर्व्याप्तं चित्तं क्षुब्ध भवेन्नृणाम् ॥३०॥

शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि मानसिक व्याधि से अस्थिर हो जाओगे । क्योंकि कच्चा शरीर हीं दुःखदाई है । शस्त्र, अग्नि, जल, वायु और नाना प्रकार के जीवों से शरीर पीड़ित होकर

चित्त व्याकुल हो जाता है, इसलिये सहज ही प्राण-विपत्ति आ जाती है और प्राण वायु भी क्षोभित होता है। ऐसा होने से चित्त शत २ दुःखों से व्यथित होता है। सो योग साधन से रहित कच्चे शरीर वाले मनुष्यों, के प्राण-संकट आने पर, होश हवास उड़ जाते हैं। चित्त स्थिर नही रहता।

देहावसान समये चित्ते यद्यद्विभावयेत्।
तत्तदेव भवेज्जीव इत्येवं जन्मकारणम् ॥३१॥
देहान्ते किं भवेज्जन्म तन्न जानन्ति मानवाः।
तस्माज्ज्ञानं च वैराग्यं जोवस्य केवलं श्रमः ॥३२॥
पिपीलिका यथा लग्ना देहे ध्यानाद्विमुच्यते।
असौ किं वृश्चिकैर्दष्ट्रो देहान्ते वा कथं सुखी ॥३३॥

देह त्यागने के समय मन में जो २ भावनायें होती हैं, उनके ही अनुसार जन्म होता है। यही जन्म का कारण है। मरने के बाद किस योनि में जन्म होगा—यह मनुष्य नही जानते। इसलिये योग रहित ज्ञान, वैराग्य केवल श्रममात्र ही है। कच्चे शरीर से ज्ञान-ध्यान का कोई कार्य सिद्ध नही हो सकता। शरीर में चींटी के काटते ही झट ध्यान छूट जाता है। बिच्छू की वेदना को कौन नहीं जानता? एक चींटी के लगते ही जब ध्यान छूट जाता है तो बिच्छू के काटने का कितना दुःख अनुभव होगा? इसी तरह दुखित होकर मरने वाले कैसे सुखी हो सकते हैं?

ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि धर्मज्ञो विजितेन्द्रियः।
विना देहेन योगेन न मोक्षं लभते विधे ॥३४॥

शरीरेण जिताः सर्वे शरीरं योगिभिर्जितम् ।
तत्कथं कुरुते तेषां सुखदुःखादिकं फलम् ॥३८॥

ज्ञाननिष्ठ, विषयों से विरक्त, जितेन्द्रिय और धर्म को जानने वाला होते हुए भी, इस शरीर से योग किये बिना, मोक्ष लाभ नहीं कर सकता । शरीर ने ही सब को जीत रखा है, परन्तु योगियों ने शरीर को भी जीता है, इसलिये शरीर के सुख-दुःख आदि फल उनका कुछ नहीं कर सकते । अतएव हमसे मिलने के लिये शरीर को परिपक्व बनाना विशेष आवश्यक है। जब तक तुम्हारा शरीर तुम्हारे वश में नहीं है, तब तक तुम क्या कर सकते हो ? शरीर से हारे हुए तुम हमें स्वप्न में भी नहीं देख सकोगे । कच्चे शरीर से किसी ने हमारा ज्ञान नहीं पाया और न कच्चे शरीर से ज्ञान का साधन हीं हो सकता है, क्योंकि कच्चा शरीर आत्मज्ञान होने से पहिले ही व्याधि आदि के कारण नष्ट हो जायेगा । अतएव जब तक तुम लोग योग साधन नहीं करते, तब तक तुम्हारे लिये सर्वत्र अन्धकार हीं अन्धकार है। जब तुम मेरे कथित योग का साधन कर, प्रयाग के लिये प्रस्थान करोगे तो तुम्हें प्रकाश ही प्रकाश दीखेगा ।

हठयोग प्रदीपिका

न वेषधारणं सिद्धेः कारणं न च तत्कथा ।
क्रियैव कारणं सिद्धेः सत्यमेतन्न संशयः ॥

जिस योग की महिमा कह रहा हूँ, उसके कहने मात्र से कोई लाभ नहीं । इस योग के लिये वेश धारण करना अर्थात् संन्यास लेना या उसकी कथा कहना सिद्धि का कारण नहीं है । तुम लोग सत्य जानो कि योग करना ही सिद्धि का कारण है ।

महायोग

योगशिखोपनिषद्, अध्याय १

मन्त्रो लयो हठो राजयोगोऽन्तर्भूमिकाः क्रमात् ।
एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते ॥१२६॥

यह योग मैंने महेश्वर रूप से महायोग के नाम से कहा है। साधारणतः तुम लोग हठ्योग, मन्त्रयोग, लय योग और राजयोग को भिन्न २ समझते हो, परन्तु ऐसा नहीं है। ये चारों योग कुण्डलिनी शक्ति के जागने के कारण स्वतः होते हैं, इसलिये इसकी 'महायोग' अथवा 'सिद्ध उपाय' संज्ञा है। जब किसी शक्तिमान गुरू के अनुग्रह से अथवा तुम्हारे संचित पापों के नाश से तुम्हारे में सदिच्छा जाग उठेगी, तब इस अलौकिक और कल्पनातीत विषय का अनुभव कर सकोगे। मन्द बुद्धि वाले तुम जब तक प्रयाग में नहीं पहुँचते, तब तक स्वयं ब्रह्मा भी तुम्हारा कुछ नहीं कर सकते। जब तुम्हारी सदिच्छा प्रबलता को प्राप्त होंगी तब तुम्हारी छिपी हुई शक्तियों का विकास होगा और महायोग का मन्त्र तुम्हें शारीरिक, मानसिक प्रसन्नता प्रदान करेगा।

भगवद्गीता, अध्याय ९

अनन्याश्चिन्तयंतो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥

तुम लोग सत्य जानो कि मैं इतना निर्दय नहीं हूँ कि मुझे कोई जान हो न सके। जैसे माया ने तुम्हें मोह-रूपी जाल में फंसा रखा है, वैसे ही मैंने छूटने का रास्ता भी इतना सहज

रखा है कि यदि तुम जान लोगे तो बिना घर बार छोड़े, संन्यास लिये बिना ही, आनन्द से मुझे मिल सकोगे। यह रास्ता इतना सहज होने पर भी जब तक तुम मेरे लिये व्याकुल नहीं होते, तब तक तुम्हें नहीं मिल सकता। मार्ग सुगम होने से ही चला नहीं जाता। इस पथ में ले जाने वाला गुरू चाहिये और वही तुम्हारे दुर्भाग्य से दुलभ है। तथापि कोई चिन्ता नहीं। यदि तुम अनन्यचित्त होकर मेरी उपासना करोगे तो योग भी मैं ही दूंगा और रक्षा भी मैं ही करूँगा।

तप ही मेरी प्राप्ति का मुख्य साधन है

भगवद्गीता, अध्याय ४

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथाऽपरे ।
प्राणापान गतिरुध्वा प्राणायाम परायणाः ॥२६॥
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे ।
स्वाध्याय ज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

अतएव गीता में मैंने जैसे यज्ञ कहे हैं, उनके अनुसार प्राण को अपान में होमना एवं प्राण-अपान की गति रोक कर प्राणायाम परायण हो जाना चाहिए। फिर देखो मुझसे मिलने में क्या विलम्ब है? द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, स्वाध्याय यज्ञ और ज्ञान आदि यज्ञों का वर्णन मैंने वेद आदि शास्त्रों में किया है, परन्तु ये सब यज्ञ सभी अधिकारी नही कर सकते। द्रव्य सबके पास नही होता, इसलिये गरीब कैसे कर सकता है? तप और योग मनुष्य मात्र के लिये सहज है। सब कोई लिख पढ़ नही सकते, इसलिये पूरा स्वाध्याय यज्ञ कैसे बने? पंडित बहुत नही होते,

इसलिये सब कोई संन्यास लेकर ज्ञान रूपी यज्ञ करने में समर्थ नहीं होते । अब रहे तप और योग साधन, सो दोनों में ही सब यज्ञों का फल आ जाता है। बिना तप और योग यज्ञ किये कोई यज्ञ किसी को नहीं फलता। मूल में जल देने से वृक्ष अवश्य फलेगा ही। तप ही मेरी प्राप्ति का मुख्य साधन है।

"तपो न परं प्राणायामात्ततो
विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्व ज्ञानस्य"

प्राणायाम से बढ़ कर और तप ही नहीं है। प्राणायाम से राग-द्वेष की निवृत्ति होकर ज्ञान का प्रकाश होता है। तुम्हारा कच्चा शरीर प्राण-अपान का (प्राणायाम) करते २ प्राण अपान की एकता रूप योग से पक्का बन जायेगा। तब तुम्हें शीत उष्ण, सुख-दु:ख, मरना-जीना, कोई विचलित नहीं कर सकेगा।

प्राण-यज्ञ

मैंने यज्ञ सब ही रचे, परन्तु प्राण-यज्ञ सबसे बड़ा है। 'मरता क्या नहीं करता'—इस उक्ति के अनुसार जब तुम अपने प्रिय प्राण को ही ब्रह्माग्नि में होमना आरम्भ कर दोगे तब तुम्हारे सब कार्य सफल हो जायेंगे। प्राण यज्ञ की सामग्री में न तो अर्थ व्यय करने की आवश्यकता है और न समय की चिन्ता है। प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त्त में आरम्भ करना अच्छा है, क्योंकि उस समय तुम्हें और कोई कार्य नहीं होता। रात्रि मैंने प्राणियों के विश्राम के लिये बनाई है। इसलिये रात्री के तीन प्रहर में से यदि एक प्रहर भी तुम प्रत्यहः यह यज्ञ किया करोगे। तुम्हें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के लिये कोई चिन्ता न रहेगी। जो मनुष्य वीरता से, कर्त्तव्यपरायण होकर प्राण

यज्ञ करते हैं उनके लिये स्वर्ग के द्वार खुल जाते हैं। उनके मन की महत्ता सब देवताओं को प्रसन्न कर लेती है। उनके सत्य सङ्कल्प की आहुति से पितृ प्रसन्न हो जाते हैं और आशीर्वाद देते हैं। मैं स्वयं भी उनका योग क्षेम वहन करता हूँ। मेरे लिये प्राण देने वाला पुरुष मुझे अतीव प्रिय है। जब तक मुझे कोई प्राण अर्पण नहीं करता तब तक मैं प्रसन्न नहीं होता। अतएव तुम लोग मेरे अर्थ प्राण यज्ञ आरंभ करो, क्योंकि प्राण ही मेरी छाया है। मन तो मुझसे बहुत दूर रहता है, परन्तु प्राण मेरे साथ संलग्न है। जब तुम्हारे प्राण में आघात पहुँचेगा तो मैं निश्चय विचलित हो जाऊँगा।

यह प्राण विश्व के प्राणियों का जीवन है। इसकी वृद्धि से तुम लोग आयु, बल, तेज पाते हो और इसके ह्रास से तुम रोगी, दरिद्री होते हो। इसके होम से तुम शतायु होओगे एवं निरोग, निर्भय तथा निश्चिन्त हो जाओगे। तुम्हारे सकट दूर होंगे। तुम प्राणायाम परायण हो जाओ, योग साधन करो, तुम्हारे सारे काम सहज हो जायेंगे। थोड़े ही समय में तुम्हें ससार उलटा चलता दीखेगा। तुम्हारे अन्तर में दिव्य ज्योति जाग उठेगी जो अंधकार को उड़ा देगी। प्रकाश से परे का अनुभव होगा।

जब तुम प्राण की प्रथम आहुति, पूरक करो तब मूलाधार में मन को लगाना। दूसरी आहुति, कुम्भक करके वहां ठहरना, तब नाभि में विष्णु ग्रन्थि में विष्णु के दर्शन करने के लिए योग माता-कुँडलिनी देवी का साक्षात्कार करना। वही शक्ति तुम्हें बड़ी सहायता देगी। उसकी ही कृपा से तुम मुझे निर्गुण रूप से

देखोगे कि मैं विष्णु ही, सर्व व्यापक हुआ, कैसे तुम्हारे शरीर रूपी ब्रह्माण्ड का कार्य चलाता हूँ।

तुम्हारी प्रथम आहुति से तुम्हारे ब्रह्मांड (सहस्रार) का रास्ता साफ होना आरम्भ होगा और दूसरी आहुति से तुम्हारी ब्रह्माग्नि प्रज्वलित हो जायगी जिससे अन्तर की ज्योति जाग उठेगी और प्रयाग तीर्थ में प्रवेश होगा। फिर तीसरी आहुति रेचक धीरे २ छोड़ना जिससे सब पाप दग्ध हो जायगे, पितृ प्रसन्न होंगे। ओम्कार रूप महामन्त्र का जप करते रहना और पुनः पहली, दूसरी और तीसरी आहुति देकर प्रयाग के अधिष्ठातृदेव—वेणी माधव अर्थात् आत्मा, की वन्दना करना। बस, अब तुम्हारा प्रायश्चित् हो गया। तुम्हारे अन्तर्चक्षु (दिव्य नेत्र) खुल जायेंगे। सरस्वती तुम्हारे कण्ठ में वास करेगी। तुम परम शान्ति लाभ करोगे।

अब तुम्हें कुण्डलिनी देवी सब बतायेगी। अतएव आज से तुम्हें अपनी ओर से आहुतियां देने की आवश्यकता नहीं रहेगी। प्रतिदिन प्रातःसायं आंख मून्द कर बैठना ही तुम्हारे लिये यथेष्ट होगा। स्वल्प समय में देखोगे कि तुम्हारा ज्ञान-ध्यान दूसरा ही हो गया है, मानो तुमने अपना नया ही देश बना लिया है। यहां मनुष्य तुम्हें अच्छे नहीं लगेंगे। वहां की बातें तुम यहां वालों को सुनाओगे तो ये लोग तुम्हें पागल कहेंगे और तुम उन्हें पागल समझोगे। ऐसे ही तुम्हारा रोज २ का ज्ञान-ध्यान बदलता जावेगा। तुम विवेक और वैराग्य के साथी बन जाओगे। तुम्हें यहां पर कुछ भी अच्छा नहीं लगेगा। योग माया का चक्र तुम्हें सर्वदा घुमायेगा। स्थिर होकर बैठ नहीं सकोगे। सारा ब्रह्मांड तुम्हें हिलता-चलता नजर आवेगा।

स्थिरता संसार में तुम्हें कहीं नहीं दीखेगी। जगत् में कोई पदार्थ स्थिर नहीं है. यह बात इस यज्ञ के प्रताप से तुम आंखों से देखोगे।

शास्त्र में जगत् को चंचल, अस्थिर और अस्थायी कहा है, परन्तु लोग मानते कब हैं ? तथापि तुम चाक्षुष् देखोगे। तुम जो स्वप्न देखोगे, वह भी अन्तर्जगत् के ही होंगे। वहां तुम जो २ बात देखोगे, वह तुमने कभी न देखी होंगी और न सुनी होंगी। ऐसी घटनायें, स्वप्न में नहीं, बैठकर नेत्र बन्द करते ही साक्षात् देखने लग जाओगे। तब तुम्हें यह भी मालूम नहीं पड़ेगा कि जाग्रत् में हो या स्वप्न में। संसारी लोग सर्वस्व देकर भी जो नहीं पा सकते, वह तुम सहज ही पा लोगे। इसी प्रकार तुम्हारे अनुभव होते रहेंगे और जब तुम्हारे सारे पाप-पुण्य का नाश हो जायेगा, या कहो तुम्हारा सर्वस्व नष्ट हो जायेगा, तब तुम मुझसे मिलोगे।

प्रयाग में प्रायश्चित् करने के पश्चात् तुम्हारे में सत्त्वगुण स्थायी हो जायेगा। 'सत्त्वात् संजायते ज्ञान'—इस वाक्य का अर्थ स्पष्ट होता रहेगा और उत्तरोत्तर आनन्द ही आनन्द बढ़ता जायेगा। यह प्राणयज्ञ अर्थात् प्राणायाम का परिणाम कहा। परन्तु ये बातें आरम्भ में उनको ही होंगी जिन्होंने गुरु के सामने यज्ञ आरम्भ किया हो। जिन पर गुरु कृपा करे, उनको तो प्रथम आहुति से ही ये सब अनुभव होंगे ही, इसमें किंचित् मात्र भी सन्देह नहीं है।

गुरु की आवश्यकता

एकादश स्कन्ध, अध्याय २२

अनाद्यविद्यायुक्तस्य पुरुषस्यात्मवेदनम्।
स्वतो न संभवादन्यस्तत्त्वज्ञो ज्ञानदो भवेत् ॥१०॥

जहां तक हो, शास्त्र की मर्यादा को रक्षा करना ही कर्त्तव्य है, क्योंकि शास्त्र ही मेरी प्राप्ति के पथ-प्रदर्शक हैं उनकी विधि के अनुसार गुरु करना ही आवश्यक है। क्योंकि तुम अनादि काल से अविद्या युक्त हो, इसलिये तुम्हें स्वयं आत्मज्ञान नहीं हो सकता। तुम्हें ज्ञान देने के लिये किसी अन्य तत्त्वज्ञानी गुरु की आवश्यकता है।

छान्दोग्योपनिषद्, अ० ३, मं० ६, खं० १७

"तद्धैतद् घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकी-पुत्रायोक्तवोवाच, आपिपास एव स बभूव।"

रामावतार में मैंने गुरु वशिष्ठ मुनि से उपदेश लिया। उनके शक्तिपात से ही मैंने समाधी में ज्ञान प्राप्त किया तथा मैंने ही देवकीनन्दन श्रीकृष्ण होकर आङ्गिरस ऋषि से उपदेश लेकर शान्ति पाई। तुम्हारे लिये तो भला कहना ही क्या ? जो विद्या गुरुमुख से ग्रहण की जाती है, वही फलीभूत होती है और शास्त्रों की एवं अपनी परम्परा की रक्षा होती है। भला मुझे कोई ज्ञान दे सकता है ? तथापि तुम्हारे लौकिक व्यवहार बनाये रखने के लिये मैंने भी तुम लोगों की तरह सब काम किये थे। वेदों में जितने यज्ञ कहे हैं, उन्हें बिना गुरु के करने में वर्षों लग जायेंगे, परन्तु उपयुक्त गुरु द्वारा उनका फल अल्प समय में मिलता है।

जिन्हें ऐसे गुरु प्राप्त न हों, वे भी कोई चिन्ता न करें और मेरे कथित उक्त यज्ञ का आरम्भ कर दें। उन्हें पहिले २ अवश्य क्लेश उठाना पड़ेगा अर्थात् आहुति देने मात्र से अनुभव नहीं होगा, तथापि वे धैर्य धर कर नित्य आहुति देते रहें ताकि वही समय आ जाय। यदि यज्ञ करने वाला उत्साही, तीव्र सवेग

से व्याकुल हृदय होकर, हवन अर्थात् पूरक, कुम्भक, रेचक करता रहेगा तो वह भी उसी तरह शीघ्र प्रयाग में पहुच जायगा।

प्राणायाम की विधि

जिस यज्ञ को कह रहा हूँ वह समझने में तो सामान्य है परन्तु करने में कठिन और महान् फल आत्मज्ञान का देने वाला है। यदि इस प्राण-यज्ञ को सोच समझ के ठीक ठीक किया जाय तो मुझसे मिलने में विलम्ब नहीं होता। इस यज्ञ के करने का स्थान सर्वत्र एकसा है, क्योंकि मैं सर्वत्र हूँ। अपनी अपनी अनुकूलतानुसार स्थान और समय का निर्देश कर लेना चाहिये। यह यज्ञ साधारणतः शुद्धाशुद्धि की अपेक्षा नहीं करता तथापि तुम्हें चाहिये कि पवित्र, प्रसन्न, राग-द्वेष से रहित रह कर ही प्रातः एव सायंकाल इसका अनुष्ठान करो। यदि घर में करो तो कोई एकान्त घर ठीक कर लेना। उसमें पूर्वाभिमुख आसन स्थापित करना। सिद्धासन या पद्मासन से बैठकर, स्वस्थ चित्त होकर, गुरु, ईश्वर एवं सिद्धों को प्रणाम कर, श्वास-प्रश्वास को देखना। यदि उस समय सुषुम्ना चले तो मन एकाग्र करने में कोई कठिनाई नहीं होती, इसलिये सुषुम्ना को चला लेना चाहिए। आसन जमाने के पश्चात् प्राणायाम करना है।

योग दर्शन, साधन पाद

तस्मिन् सतिश्वास प्रश्वासयोर्गति
विच्छेदः प्राणायामः ॥४९॥
बाह्याभ्यन्तरस्तम्भ वृत्तिर्देश
कालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥५०॥

महर्षि पतञ्जलि के कथनानुसार श्वास-प्रश्वास गति विच्छेद का नाम प्राणायाम है। यह प्राणायाम बाह्य, अभ्यान्तर और स्तम्भवृत्ति है। वह भी देश, काल, संख्या के द्वारा परिदृष्ट होकर दीर्घ और सूक्ष्म होता हैं। अतएव रेचक बाह्य प्राणायाम, पूरक अभ्यान्तिरिक और कुम्भक स्तम्भवृत्ति प्राणायाम कहलाता है। अर्थात् यथाशक्य श्वास बाहर रोकना, यथासाध्य ऊपर खींचना और स्वशक्ति अनुसार कुम्भक करके रोक लेना प्राणायाम कहलाता है। इसमें पूरक करने से प्राण का हवन, रेचक करने से अपान का हवन एवं कुम्भक द्वारा प्राण-अपान को मिलाने से प्राणायाम परायण होना कहलाता है। यही यज्ञ मैंने गीता में कहा है।

प्राणायाम का फल

जब तुम्हारे प्राण अपान मिल जायें अर्थात् कुम्भक हो जायें, तब मूलाधार में मन को लगाना। वहां पर आधार शक्ति कुण्डलिनी सोई हुई है। इस प्रकार प्राण अपान क योग से वह आत्म-शक्ति सहसा जाग उठेगी। उसका जागना ही तुम्हारे साधन का फल समझा जायगा। जब तक वह नहीं जागे, तब तक तुम उसी तरह नियमित रूप से यज्ञ किया करो। जब वह जाग जाये तब तुम को कुछ करने की आवश्यकता नहीं है। कुण्डलिनी के जागने से चुपचाप आसन पर बठने से ही वह शक्ति सब कुछ स्वयं करायेगी।

यज्ञ करते समय यदि तुम्हारा मन इधर-उधर भागे तो शरीर में स्थित नाड़ियों में प्राण का संचरण देखना। इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना—ये तीन नाड़ियां मुख्य कहलाती हैं; जिन में

प्राण की गति देखी जा सकती है। अन्यान्य नाड़ियों में प्राण सूक्ष्म रूप से जाता अवश्य है, परन्तु मन की स्थूलता के कारण अनुभव नहीं होता। वैसे तो शरीर में साढ़े तीन लक्ष नाड़ियां हैं। जैसे पत्तों में सूक्ष्म, अति सूक्ष्म शिरायें होती हैं, इसी तरह तुम्हारे शरीर में ये सब नाड़ियां हैं। साढ़े तीन लक्ष नाड़ियों में से भी बहत्तर हजार में ही प्राण का संचरण होता है। अन्य नाड़ियों में शरीर का व्यापार नियमित न होने से प्राण जा नहीं सकता, इसलिये शरीर एकसा नहीं रहता। योग-शास्त्र कथित नाड़ी-शुद्धि अर्थात् शरीर-शुद्धि की क्रियायें की जायें तो समग्र नाड़ियों में प्राण संचारण हो सकता है। तब योगाभ्यासी का शरीर उसके वश में हो जाता है और साधक की इच्छा बिना उसका प्राण उसके शरीर को नहीं त्यागता। उसकी इच्छा मृत्यु होती है। इसलिये तुम्हें उचित है कि यही लाभ करो ताकि मुझ से मिलने में बाधा न हो। यह शरीर विज्ञान का विषय मैंने तुम लोगों के कल्याणार्थ योगशास्त्र में कहा है।

याज्ञवल्क्य संहिता, अध्याय ४

देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजाम्बुनदप्रभम्।
त्रिकोणं मनुष्याणां चतुरस्त्रं चतुष्पदाम् ॥११॥
मण्डलं तु पतङ्गाना सत्यमेतद्ब्रवीमिते।
सन्मध्येतु शिखातन्वी सदातिष्ठतिपावकः ॥१२॥

शरीर के मध्य में नाभिस्थान है और वहीं पर मैं वैश्वानर रूप से रहता हूँ। कुम्भक प्राणायाम में तुम मुझे वहां जलता हुआ देखोगे। प्राणीमात्र में मैं ही अग्नि रूप से नाभिस्थान में रह

कर प्राण और अपान के संयोग से चार प्रकार के अन्न को पचाता हूँ। देह के मध्य में तप्तकांचन के सदृश त्रिकोण अग्नि का स्थान है। वह मनुष्यों में त्रिकोण, पशुओं में चतुष्कोण और पक्षियों में वृत्ताकार होता है। तुम मुझे कुम्भक करके वहां तप्त सुवर्ण की नाईं प्रकाशमान देखना।

मूलाधार से ही सब नाड़ियों की उत्पत्ति होती है, इसलिए इसको 'मूल-आधार' कहते हैं। यहां से कुछ नाड़ियां ऊपर और कुछ नीचे को विस्तृत होती हैं। मुझ से मिलने वाले को इस मूलाधार के पास आना पड़ता है। इसका रास्ता बंद है। अन्तर में जाने का द्वार यही है। प्राण की सहायता से इसमें प्रवेश किया जाता है। कुम्भक करके तुम प्राण की शक्ति को बढ़ा लोगे तो प्रबल प्राण-प्रवाह से यह द्वार खुल जायेगा और उसमें प्राण के साथ मन भी चला जायेगा, जो मेरुदण्ड सुषुम्ना, मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा चक्र में होते हुए सहस्रार में जा पहुंचेगा। यह सहस्रदल-कमल वाला सहस्रार ही मेरा परम धाम है। यहां आया हुआ मनुष्य पुनः संसार में लौट नहीं सकता। यहां आते २ मार्ग में तुम्हें ऐसे २ अनुभव होंगे कि तुम आश्चर्य, अति-आश्चर्य, स्तम्भित हो जाओगे और यहां का अनुभव जीवन भर लिखते रहने पर भी पूरा-पूरा लिख नहीं सकोगे।

जहां स्वयं ईश्वर विराजते हैं वहां सदा सर्वदा आनन्द ही आनन्द वर्त्तता रहता है। उनके पथ में भी आनन्द की बहार रहती है। जब तुम्हारा मन प्रकृति की सीमा से कुछ आगे चलेगा, तब तुम्हें हमारे प्रथम आनन्द का शब्द सुनाई देगा।

यह अनाहत शब्द ध्वनि तुम्हारे कर्ण में होने लगे तो समझना कि तुम ठीक पथ पर चले आ रहे हो। इन ध्वनियों की मधुरता में तुम्हारा मन निमग्न हो जायगा, तुम्हें अपना ज्ञान नहीं रहेगा। यह दिव्य ध्वनि सुनते ही तुम्हारे कर्ण-कपाट खुल जायेंगे, सब दिशायें तुम्हारा सत्कार करेंगी। दिव्य गंध का सौरभ तुम से सहा नहीं जायेगा। दिव्य ज्योति का प्रकाश तुम्हारी सुध-बुध को हर लेगा। तुम जो जगत् में विद्युत, चद्रार्क, प्रज्वलित अग्नि इत्यादि देखते हो, वे इस महान् ज्योति का एक स्फुलिंग है। तुम्हें आश्चर्य होगा कि यह सब मुझसे बहुत दूर है तथापि तुम्हारे लिये तो ये दिव्य वस्तु महान् हैं। इनकी प्रभा से ही तुम अपने अस्तित्व को खो दोगे, फिर यदि मुझसे मिल गये तब तो कहना ही क्या है ?

जिससे सब प्रभा पाते हैं, वही मैं हूँ। मेरे सदृश ब्रह्माण्ड में और कौन है ? मैं स्वयं ही हूँ। तुम्हारा अभ्यास जैसे २ बढ़ता जायेगा, वैसे अनुभव भी उत्तरोत्तर अधिकाधिक होते जायेंगे। तुम देखोगे कि कोटि २ ब्रह्माण्ड मैंने किस प्रकार धारण किये हुए हैं और उन्हें मैं कैसे चलाता हूँ ? उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय अन्तर में क्षण २ में देखोगे। इन सारे चमत्कारों से निवृत्त होकर तुम जब प्रतिभा को प्राप्त होगे तब मेरा सब कुछ जान लोगे। मेरी महिमा का—"ऋषिभिर्बहुधागीतंछन्दोभिर्विविधैः पृथक् ब्रह्मसूत्र पदैश्चैवहेतुमद्भिर्विनिश्चितैः"—ऋषियों ने नाना प्रकार से वर्णन किया है। ब्रह्म सूत्र मेरा निर्देश करता है।

सर्वप्रिय मैं ही सब यज्ञों का भोक्ता हूँ। तुम लोग मुझ से ही मिलो।

योग यज्ञ का बड़ा साधन 'प्राणायाम' है और हवन की सामग्री वासनाओं की तिलाञ्जलि देना है। जब तुम इस यज्ञ का सहायक अनुष्ठान नियमित रूप से करोगे और आहार का संयम कर, नित्य ब्राह्म मुहूर्त में उठकर श्रोत्र, चक्षु, रसनादि इन्द्रियों के विषयों को ब्रह्माग्नि में होमना आरम्भ करोगे, तो मैं तुम्हें मिले बिना कैसे रह सकता हूँ? तुम्हारा नियमित हवन ही तुम्हारे ऊपर परमानन्द की वृष्टि करेगा, वैराग्य की वृद्धि होगी, समाधि-उन्मनी लता का अंकुर फूटेगा, कल्प वृक्ष और कामधेनु सङ्कल्पमात्र से फल देंगे और इस यज्ञ के प्रभाव से तुम सब कुछ सिद्ध कर सकोगे। जब तुम मरने को ही तय्यार हो जाओगे तो देवता भी तुम्हारा दासत्व करने आवेंगे।

मनुष्य जन्म की महिमा

मनुष्य योनि की महिमा देवता भी गाते हैं, वे भी मनुष्य होना चाहते हैं। बिना मनुष्य शरीर धारण किये मोक्ष नहीं होता, इसीलिये देवता भी तुम्हारे शरीरों का मान करते हैं। जगत् में सभी तुम्हारा भय करते हैं। तुमसे देवता भी डरते हैं क्योंकि तपस्या के बल से तुम उनके पद को छीन सकते हो। तुम अपने बुद्धिबल से महाक्रूर व्याघ्र, सिंह आदि प्राण-घातक हिंस्र जंतुओं को भी वश में कर लेते हो, यहां तक कि भक्ति करके मुझे भी सहज में ही पा सकते हो। तुम्हारी बुद्धि की महानता चारों ओर फैली हुई है, अतएव योग साधन करो।

यदि तुम लोग यही सोचते हो कि हम गृहस्थी हैं, क्या कर

सकेंगे ? तो हम कहते हैं कि संन्यास लेकर तुम सब ही कृतार्थ नहीं हो जाओगे। देखो, जगत् में जोड़ी बिना कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। मैं भी माया द्वारा ही यावतीय ब्रह्मांड का कार्य चलाता हूँ। तुम्हारे पूर्वज अट्ठासी हजार ऋषि प्रायः सभी गृहस्थी और संसारी थे। इने-गिने कपिल, दत्तात्रेय, वामदेव, शुकदेव, जड़ भरत इत्यादि संन्यासी थे, जो गृहस्थी नहीं हुए थे, परन्तु और सब गृहस्थी थे। जिनको तुम महाज्ञानी मानते हो, उन्हीं ज्ञानी वशिष्टमुनि के सौ पुत्र थे। महायोगी याज्ञवल्क्य की दो स्त्रिया थीं। इससे ही तुम्हें समझ लेना चाहिये कि ससार में विडंबना तो केवल अपने मन की है। अतएव मन को योग-साधना से अन्तर्मुख करो। इसमें ही तुम्हारा मंगल है।

षष्ठ प्रकाश

श्रीमहेश्वर कथित महायोग

कूर्म पुराण, उत्तरार्द्ध, अध्याय ११

अतः परं प्रवक्ष्यामि योगं परम दुर्लभम्।
येनात्मानं प्रपश्यन्ति भानुमन्तमिवेश्वरम् ।।१।।
योगाग्निर्दहते क्षिप्रमशेषं पापपञ्जरम्।
प्रसन्नं जायते ज्ञानं साक्षान्निर्वाण सिद्धिदम् ।।२।।
योगात्संजायते ज्ञानं ज्ञानाद्योगः प्रवर्त्तते।
योगज्ञानाभियुक्तस्य प्रसीदति महेश्वरः ।।३।।

एक कालं द्विकालं वा त्रिकालं नित्यमेव च ।
ये युञ्जन्ति महायोगे ते विज्ञेया महेश्वराः ॥४॥

अब श्री महेश्वर परमदुर्लभ महायोग को कहते हैं कि जिस से योगी लोग सूर्य सदृश स्वय प्रकाशमान अपने आत्मस्वरूप ईश्वर को देखते हैं। यह महायोग रूप अग्नि शीघ्र ही सम्पूर्ण कर्मरूप पाप-पञ्जर को जला देता है और महायोग की साधना से कर्म-समूह दग्ध हो जाने पर साक्षात् मोक्ष सिद्धि को देने वाला निर्मल ज्ञान प्रकट होता है। योग साधना से ज्ञान उत्पन्न होता है और ज्ञान से योग-प्रवृत्ति होती है। वह ज्ञान योग के लक्ष्य रूप मोक्ष की प्राप्ति में सहायक होता है। अतएव जो साधक ज्ञान और योग से युक्त हैं, जिनमें योग और ज्ञान दोनों का शुभ योग हुआ है, उनके प्रति श्री महेश्वर प्रसन्न होते हैं। इसलिये जो साधक दिन में एक बार, दो बार अथवा तीन बार नित्यप्रति महायोग का अभ्यास करते हैं, उनको महेश्वर रूप जानना चाहिये।

योगस्तु द्विविधोज्ञेयो ह्यभावः प्रथमो मतः ।
अपरस्तु महायोगः सर्व योगोत्तमोत्तमः ॥५॥

शून्यं सर्व निराभासं स्वरूपं यत्र चिन्त्यत्यते ।
अभावयोगः स प्रोक्तो येनात्मानं प्रपश्यति ॥६॥

यत्र पश्यति चात्मानं नित्यानन्दं निरञ्जनम् ।
मयैक्यं स महायोगो भाषितः परमः स्वयम् ॥७॥

यह योग दो प्रकार का है—पहिला अभावयोग और दूसरा सब योगों में उत्तम से भी उत्तम सर्वश्रेष्ठ महायोग है। जिस योग में शून्य और वेदान्त कथित सर्व प्रकार से निराभास स्वरूप का चिन्तन किया जाता है अर्थात् जिस योग से आत्मा को, निर्गुण शून्य मानकर, ध्यान द्वारा साक्षात्कार होता है उसको अभावयोग कहते हैं और जिस योग में योगी लोग आत्मा को ध्यान द्वारा नित्यानन्द स्वरूप, निरञ्जन देखते हैं एवं समाधि में मेरे साथ एकता लाभ करते हैं, वह दूसरा परम श्रेष्ठ महायोग मैंने स्वयं कहा है।

ये चान्ये योगिनां योगाः श्रूयन्ते ग्रन्थ विस्तरे।
सर्वे ते ब्रह्म योगस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥८॥
यत्र साक्षात्प्रपश्यन्ति विमुक्ता विश्वमीश्वरम्।
सर्वेषामेव योगानां स योगः परमोमतः ॥९॥
सहस्रशोऽथ बहुशो ये चेश्वरवहिष्कृतः।
नते पश्यन्ति मामेकं योगिनो यतमानसाः ॥१०॥

और जो दूसरे योग तुम्हारे लिये योगियों ने कहे हैं वे विस्तार से ग्रन्थों में सुने जाते हैं। वे लोग हमारे इस ब्रह्मयोग की सोलहवीं कला के बराबर भी नहीं हैं, क्योंकि वे योग तो योगियों ने कहे हैं परन्तु महायोग तो मैंने स्वयं कहा है। इस लिये वे योग इस महायोग के तुल्य नहीं हो सकते। इस योग में जीवन्मुक्त योगीजन अखिल विश्व एवं ईश्वर को साक्षात् देखते हैं। इस परम पावन महायोग के प्रभाव से ब्रह्माण्ड के यावतीय तत्त्व यथातथ्य जाने जाते हैं, कुछ भी अज्ञेय नहीं

रहता। इसलिये तुम्हारे जितने भी योग हैं उन सब में हमारा कहा हुआ महायोग ही सर्वोत्तम है जो ईश्वर से मिलाता है। तुम्हारे और बहुत से जो हजारों योग हैं वे सब ईश्वर से बहिष्कृत हैं, उनसे तुम ईश्वर में नहीं मिल सकते। उनकी साधना करने वाले योगी मुझको नहीं देख सकते। केवल महा-योग से ही तुम हम से मिल सकोगे।

एषः पाशुपतोयोगः पशुपाशविमुक्तये।
सर्व वेदान्त सारोऽयं यत्याश्रम इति श्रुतिः ॥११॥

एतत्परतरं गुह्यं मत्सायुज्यप्रदायकम्।
द्विजातीनां तु कथितं भक्तानां ब्रह्मचारिणाम् ॥१२॥

मेरे कहे हुए इस पाशुपत महायोग का ज्ञान जीव के बन्धनों को छुड़ाने के लिये है। यही सम्पूर्ण वेदान्त का सार तथा यतियों का आश्रय है, ऐसा वेद का कथन है। इसलिये मेरे योग का यह परम श्रेष्ठ, गोपनीय ज्ञान मेरी सायुज्यमुक्ति प्रदान करता है। यह महायोग मैंने द्विजातियों के लिए तथा अपने भक्त और ब्रह्मचारियों के लिये कहा है।

महायोग की परम्परा

इत्येतदुक्त्वा भगवानात्मयोगमनुत्तमम्।
व्याजहार समासीनं नारायणमनामयम् ॥१३॥

मयैतद्भाषितं ज्ञानं हितार्थं ब्रह्मवादिनाम्।
दातव्यं शान्तचित्तेभ्यः शिष्येभ्यो भवता शिवम् ॥१४॥

उक्त्वैवमथ योगीन्द्रानब्रवीद्भगवानजः ।
हिताय सर्व भक्तानां द्विजातीनां द्विजोत्तमाः ॥१५॥
भवन्तोऽपिमज्ज्ञानं शिष्याणां विधिपूर्वकम् ।
उपदेक्ष्यन्ति भक्तानां सर्वेषां वचनान्मम ॥१६॥

यह परम पावन सर्वोत्तम महायोग श्री महेश्वर ने भगवान नारायण को देकर कहा कि यह आत्मयोग मैंने ब्रह्मवादियों के लिये कहा है, इसलिये शान्त चित्त वाले शिष्यों को ही देना चाहिये। श्री महेश्वर से महायोग प्राप्त होने पर अजन्मा भगवान नारायण अपने पास बैठे हुए सब योगीन्द्रों से बोले कि हे द्विज श्रेष्ठ महर्षिगण ! मेरे कहने से आप लोग भी सब का हित करने वाले इस महेश्वर कथित महायोग का मेरा ज्ञान द्विजाति भक्तों को तथा अपने सब शिष्यों को विधिपूर्वक उपदेश करना।

अयं नारायणो योऽसावीश्वरो नात्र संशयः ।
नान्तरं ये प्रपश्यन्ति तेषां देयमिदं परम् ॥१७॥
ममैषा परमामूर्तिर्नारायणसमान्ह्वया ।
सर्व भूतात्मभूता सा शान्ता साक्षरसंस्थिता ॥१८॥
येऽन्यथा मां प्रपश्यन्ति लोके भेददृशो जनाः ।
न ते मुक्ति प्रपश्यन्ति जायन्ते च पुनः पुनः ॥१९॥

भगवान महाविष्णु ने सब ऋषि-मुनियों को महायोग प्रचार के लिये कह दिया। तब श्री महेश्वर सब योगी ऋषि-मुनियों से बोले कि जो नारायण हैं वही ईश्वर शिव हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। जो इनमें भेद नहीं देखते उनको यह परम श्रेष्ठ

महायोग देना चाहिये। नारायण नाम वाली यह परमा-मूर्त्ति मेरी ही है जो सब प्राणियों में स्थित, सबकी आत्मस्वरूप, अक्षर और शान्त रूप है। जो लोग, भेद बुद्धि से, शिव और नारायण को पृथक् वा दो रूप देखते हैं उनकी मुक्ति नहीं हो सकती। वे लोग बार २ जन्म लेते और मरते हैं। उनको योग का ज्ञान नहीं देना चाहिये।

ये त्वेनं विष्णुमव्यक्तं माञ्चदेवं महेश्वरम् ।
एकी भावेन पश्यन्ति न तेषां पुनरुद्भवः ॥२०॥
तस्मादनादि निधनं विष्णुमात्मानमव्ययम् ।
मामेव सम्प्रपश्यध्वं पूजयध्वं तथैव च ॥२१॥
येऽन्यथा सम्प्रपश्यन्ति मद्भिन्नं देवतान्तरम् ।
ते यान्ति नरकान् घोरान् नाहं तेषुव्यवस्थितः ॥२२॥

जो लोग अव्यक्त विष्णु और महादेव महेश्वर को एक भाव से अर्थात् एक ही रूप से देखते हैं, उनको महायोग का ज्ञान देना चाहिए। फिर उनका पुनर्जन्म नहीं होता, उनकी मुक्ति हो जाती है। अविनाशी, अनादि, अव्यय, आत्मस्वरूप विष्णु मुझको ही समझ कर देखना और पूजना चाहिये। जो लोग इस तरह न समझ कर, अन्यथा भेद बुद्धि रखकर, मुझ से भिन्न दूसरे देवताओं को देखते हैं, वे घोर नरक में जाते हैं। चाहे वे मेरे भक्त ही क्यों न हों, तथापि मैं उनसे अलग हूँ। उनका दायित्व मैं नहीं लेता।

मूर्खं वा पण्डितं वापि ब्राह्मणं वा मदाश्रयम् ।
मोचयामिश्वपाकं वा नारायणविचिन्तकम् ॥२३॥

तस्मादेष महायोगो मद्भक्तैः पुरुषोत्तमः ।
अर्चनीयो नमस्कार्यो मत्प्रीतिजननाय वै ॥२४॥

श्री महेश्वर भगवान् नारायण के प्रति प्रेमपूर्वक कहते हैं कि आपका भक्त चाहे मूर्ख हो या पंडित, ब्राह्मण हो या मेरे आश्रय वाला हो, या महानीच श्वपच ही क्यों न हो तथापि यदि वह विशेष करके आप नारायण का चिन्तन करने वाला है तो मैं उसका उद्धार कर दूंगा। इसलिये जो कोई मेरा भक्त मुझे प्रसन्न करना चाहे, वह मेरी प्रीति बढ़ाने के लिये, आप महायोगी पुरुषोत्तम का अर्चन-वन्दन करे। आपकी भक्ति करने वालों पर ही मैं प्रसन्न हूँगा, आपसे विमुख पर नहीं।

एवमुक्त्वा वासुदेवमालिङ्ग्य स पिनाकधृक् ।
अन्तर्हितोऽभवत्तेषां सर्वेषामेव पश्यताम् ॥२५॥
नारायणोऽपि भगवांस्तापसंवेषमुत्तमम् ।
जग्राहयोगिनः सर्वा स्त्यक्त्वा वैपरमं वपुः ॥२६॥
ज्ञातं भवद्भिरमलं प्रसादात् परमेष्ठिनः ।
साक्षादेव महेशस्य ज्ञानं संसारनाशनम् ॥२७॥
गच्छध्वं विज्वराः सर्वे विज्ञानं परमेष्ठिनः ।
प्रवर्त्तयध्वं शिष्येभ्यो धार्मिकेभ्यो मुनीश्वराः ॥२८॥

ऐसा कहकर पिनाकधारी शङ्कर भगवान् वासुदेव को दिव्यालिङ्गन करके सब ब्रह्मादि देव, ऋषि, महर्षि तथा सनकादि योगीन्द्रों के सामने, सबके देखते २, अन्तर्ध्यान हो गये। उसके बाद भगवान् नारायण ने, दिव्य शरीर को त्याग कर, तपस्वी का सुन्दर और उत्तम वेष धारण किया और सब योगियों से

बोले कि आप लोगों ने परमेष्ठि की कृपा से साक्षात् देवाधिदेव महादेव का ज्ञान, जो कि संसार-बंधन का नाश करने वाला है, अच्छी तरह जान लिया है। इसलिये, हे मुनीश्वरो ! अब तुम लोग निश्चिन्त हो कर जाओ और परमेष्ठि के विज्ञान का धर्मात्मा शिष्यों में प्रचार करो।

इदं भक्ताय शान्ताय धार्मिकाय द्विजोत्तमः ।
विज्ञानमैश्वरं देयं ब्राह्मणाय विशेषतः ॥२९॥
एव मुक्त्वा स विश्वात्मा योगिनां योगवित्तमः ।
नारायणो महायोगी जगामादर्शनं स्वयम् ॥३०॥
ऋषयस्तेऽपिदेवेशं नमस्कृत्य महेश्वरम् ।
नारायणं च भूतादिं स्वानिस्थानानि भेजिरे ॥३१॥

धर्मात्माओं में भी भक्त, शान्त, अग्निहोत्री तथा विशेष करके ब्राह्मणों को यह ईश्वर सम्बन्धी विज्ञान देना चाहिये। ऐसा कहकर योगियों में सर्वोत्तम योग जानने वाले भगवान विश्वात्मा महायोगी नारायण अन्तर्ध्यान हो गये। इसके बाद सब ऋषिजन भी देवाधिदेव महेश्वर तथा प्राणियों के आदि नारायण को नमस्कार करके अपने-अपने स्थानों को चले गये।

सनत्कुमारो भगवान् संवर्त्ताय महामुनिः ।
दत्तवानैश्वरं ज्ञानं सोऽपि सत्यत्वमाययौ ॥३२॥
सनन्दनोऽपि योगीन्द्रः पुलहाय महर्षये ।
प्रददौ गौतमायाथ पुलहोऽपि प्रजापतिः ॥३३॥
अङ्गिरो वेदविदुषे भारद्वाजायत्तवान् ।
जैगीषव्यायकपिलस्तथा पञ्चशिखाय च ॥३४॥

पश्चात् महामुनि भगवान सनतकुमार ने महायोग का यह ईश्वर सम्बन्धी ज्ञान सम्वर्त को दिया और वह भी अनुभव को प्राप्त हुए । ऐसे ही योगीन्द्र सनन्दन ने महेश्वर के महायोग का ज्ञान महर्षि पुलह को दिया और इसी तरह प्रजापति पुलह ने भी गौतम ऋषि को दिया । अङ्गिरा ऋषि ने वेद को जानने वाले भारद्वाज ऋषि को दिया एवं यही ज्ञान योगीराट् सिद्ध कपिल मुनि ने योगी जैगीषव्य और पञ्चशिखाचार्य को दिया ।

पराशरोऽपि सनकात् पिता मे सर्वतत्त्वदृक् ।
लेभेतत्परमं ज्ञानं तस्माद्वाल्मीकिराप्तवान् ।।३५।।

मामुवाच पुरादेवः सतीदेह भवाङ्गजः ।
वामदेवो महायोगी रुद्रः किल पिनाकधृक् ।।३६।।

नारायणोऽपि भगवान देवकीतनयो हरिः ।
अर्जुनाय स्वयं साक्षाद्दत्तवानिदमुत्तमम् ।।३७।।

भगवान वेदव्यास कहते हैं कि इसी तरह श्री महेश्वर कथित महायोग का ज्ञान सब ऋषि-मुनियों ने आपस में कहा सुना एवं लिया-दिया । सर्व तत्त्वों को जानने वाले मेरे पिता पराशर ऋषि को भी यह परम ज्ञान योगीन्द्र भगवान सनक मुनि से मिला और उनसे वाल्मीकि ऋषि ने प्राप्त किया । पहले यह महायोग का परम ज्ञान शिवजी के तेज एवं सती के देह से प्रकट हुए पिनाकधारी रुद्ररूप महायोगी भगवान वामदेव ने मुझ से कहा भगवान नारायण देवकीपुत्र श्री कृष्ण ने भी स्वयं साक्षात् इसी महायोग का परम श्रेष्ठ ज्ञान अर्जुन को दिया । इसी तरह ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर आदि की परम्परा से यह महायोग चला आता है ।

यदाहंलब्धवान्रुद्राद्वामदेवादनुत्तमम् ।
विशेषाद्गिरीशे भक्तिस्तस्मादारभ्यमेऽभवत् ॥३८॥
शरण्यं शरणंरुद्रं प्रपन्नोऽहं विशेषतः ।
भूतेशं गिरीशं स्थाणुदेवदेवं त्रिशूलिनम् ॥३९॥
भवन्तोऽपिहितं देवं शम्भुं वृषभवाहनम् ।
प्रपद्यन्तां सपत्नीकाः सपुत्राः शरणं शिवम् ॥४०॥
वर्तध्वंतत्प्रसादेन कर्मयोगेन शङ्करम् ।
पूजयध्वं महादेवं गोपतिं व्यालभूषणम् ॥४१॥

भगवान् वेदव्यास कहते हैं कि जब से मैंने रुद्र वामदेव से इस महायोग के उत्तम ज्ञान को पाया है तभी से श्री शङ्कर में मेरी विशेष करके भक्ति हुई है। शरणागत को शरण देने वाले, भूतेश, गिरीश, स्थाणु, त्रिशूली, देवाधिदेव महेश्वर की मै विशेष करके शरण में हूँ। इसलिये, हे मुनीश्वरो ! आप लोग भी अपने स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब सहित श्री वृषभवाहन शम्भु की शरण में जाइये और कर्मयोग से महादेव, पशुपति नाथ, नाग-भूषण का ही पूजन करिये। श्री शङ्कर के ही कृपा-प्रसाद से आप लोगों का अवश्य कल्याण होगा।

एवमुक्ते पुनस्तेतु सौनकाद्या महेश्वरम् ।
प्रणेमुः शाश्वतं स्थाणुं व्यासं सत्यवतोसुतम् ॥४२॥
अब्रुवन् हृष्टमनसः कृष्णद्वैपायनं प्रभुम् ।
साक्षाद्देवं हृषीकेशं शिवं लोकमहेश्वरम् ॥४३॥
भवत्प्रसादादचला शरण्ये गोवृषध्वजे ।
इदानीं जायते भक्तिर्यादेवैरपिदुर्लभा ॥४४॥

ऐसा कहने पर फिर शौनक आदि ऋषियों ने सत्यवती के पुत्र, शाश्वत स्थाणु, श्री व्यास जी को प्रणाम किया और प्रसन्न चित्त होकर, प्रभु कृष्णद्वैपायन व्यास जी से, जो साक्षात् हृषीकेश भगवान् के तुल्य हैं और लोकों के महेश्वर शिवजी के सदृश हैं, कहने लगे कि हे भगवन्! आपके प्रसाद से हमको शरणागत वत्सल वृषभध्वज शिवजी में अब ऐसी अचल भक्ति हुई है कि जो देवताओं को भी दुर्लभ है। इस प्रकार ऊपर कहे हुये महायोग की परम्परा का वर्णन तथा ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर एवं ऋषि, महर्षि, योगीन्द्र, सिद्धों में ज्ञान-प्रचार का संवाद श्री वेद व्यास जी से सुनकर सब शौनक आदि ऋषि अति प्रसन्न हुये और अचल दृढ़ भक्ति से महायोग द्वारा शिवजी की आराधना करने लगे।

शैव पाशुपत धर्म

वायवीय संहिता, उत्तरखण्ड, अध्याय १०

ज्ञानं क्रिया च चर्य्या च योगश्चेति सुरेश्वरि।
चतुष्पादःसमाख्यातो ममधर्मः सनातनः ॥३०॥
पशुपाशपतिज्ञानं ज्ञानमित्यभिधीयते।
षडध्वशुद्धिर्विधिना गुर्व्वाधीनक्रियोच्यते ॥३१॥
वर्णाश्रम विहितस्तु मेऽर्चनादि चर्योच्यते।
मदुक्तेनैव मार्गेण मय्यावस्थितचेतसः।
वृत्यन्तरनिरोधोयो योग इत्यभिधीयते ॥३३॥

जिस पाशुपत महायोग का ज्ञान परम योगेश्वर श्रीं महेश्वर ने योगीश्वर भगवान् श्री महाविष्णु को कहा, महायोगी श्रीं

विष्णु भगवान ने सनक, कपिल आदि योगियों को कहा और उन्होंने दूसरे ऋषि-मुनियों को उपदेश किया, उस परम्परागत पाशुपत महायोग के साधन के लिये साधकों को श्री महेश्वर कथित सनातन चतुष्पाद शैव धर्म का आचरण करना चाहिये। इसके ज्ञान, चर्या, क्रिया और योग चार पाद हैं।

चर्या—शास्त्र विहित वर्णाश्रमों के धर्म, देव पूजन-अर्चन की विधि तथा भिन्न २ आचार, जिनके अनुसार जन साधारण अपनी २ दिनचर्या का आचरण करते हैं, उनका नाम चर्या है। जीवन के विशेष समय में मनुष्य सदा अपने योग-क्षेम के अर्थ अथवा लोक संग्रह के लिये सांसारिक प्रवृत्ति में लगे रहते हैं और आजीवन उससे निवृत्ति परायण नहीं होने पाते। जीवन के इस समय को ही वे सब कुछ समझ बैठते हैं और इसके पार उनके लक्ष्य में उनको और कुछ नहीं दिखाई पड़ता। इसी को जीवन का ध्येय समझ कर मरण पर्यन्त वे भारवाही की नाईं जुते रहते हैं। मनुष्य व्यवहार कुशल होते हुये, ईश्वर में भक्ति पूर्वक, देव परायण होकर, सब दैनिक व्यवहारों को वैराग्ययुक्त यथाविधि सपादन करके, ज्ञान और योग की ओर प्रवृत्त हो सकें, इसीलिये ऋषियों ने वर्णाश्रम धर्म के नियम भगवद्भक्ति तथा देवार्चन-पूजन की विधि का विधान किया है। यह चर्यापाद सनातन धर्म का प्रथम मुख्य अंग है। इसको आचार धर्म भी कहते हैं।

क्रिया और योग—वास्तव में मनुष्य जन्म का ध्येय ज्ञान संपादन करके मोक्ष की प्राप्ति करना है। लोक संग्रह करता हुआ भी मनुष्य यदि कुछ समय प्रतिदिन क्रिया और योग में

लगाता रहता है तो उसको ज्ञान की प्राप्ति यथा समय स्वयं हो जाती है। 'तत्स्वयं योग संसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति'– अर्थात् वह ज्ञान स्वयं योग की पूर्ण सिद्धि के द्वारा यथा समय अपने अन्तरात्मा में ही प्राप्त होता है। क्रिया और योग दोनों सहयोगी हैं। पहले क्रिया फिर योग का साधन किया जाता है। क्रिया की सहायता से योग की सिद्धि होती है। वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं—"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"।

श्री महेश्वर कहते हैं कि मेरे कहे हुये मार्ग से, मुझमें चित्त लगाकर अन्य वृत्तियों के सर्वथा रोकने को योग कहते हैं। योग की सिद्धि के लिये क्रिया का अभ्यास करना आवश्यक है।

षट् चक्रों की शुद्धि करने की विधि के द्वारा, गुरु के अधीन रह कर, उसके शासनानुकूल अभ्यास करने को क्रिया कहते हैं। क्रिया के द्वारा ही छःवों चक्रों की शुद्धि होती है। क्रिया का अभ्यास गुरु कृपा के बिना किसी अन्य उपाय से नहीं मिल सकता, इसलिये गुरु की कृपा-लाभ करना आवश्यक है। गुरु-कृपा से क्रिया, क्रिया द्वारा षडध्व शुद्धि और फिर योग की प्राप्ति होती है।

ज्ञान—ज्ञान बिना मोक्ष नहीं होता, इसलिये 'ज्ञान क्या है'—यह जानना चाहिये। पाशुपत महायोग के मतानुसार (१) जीव (२) उसके बधन रूपी पाश और (३) पाशों से मुक्त होने का उपाय, इन तीनों –पशु, पाश और पति, के ज्ञान को ज्ञान कहते हैं। घृणा, लज्जा, भय, शोक, जुगुप्सा, कुल, शील और जाति—ये आठ पाश हैं। इनसे बंधा जीव पशु कहलाता है और इनसे मुक्त हो कर स्वयं शिव हो जाता है। परब्रह्म

शिव को इसी अभिप्राय से पशुपति कहते हैं।। यह जीव-ब्रह्म का ज्ञान मोक्षप्रद है। चर्या, क्रिया और योग; तीनों के सहयोग से ज्ञान के प्रकाश का अनुभव होता है और ज्ञानाग्नि में आठों पाश भस्म हो जाते हैं। इनकी शुद्ध भस्म से विभूषित जीव कान्तिमान शिवस्वरूप होकर शिवानन्द का अनुभव करने लगता है।

पाशुपत महायोग द्वारा ज्ञान प्राप्ति

ज्ञान और उसके प्राप्त्यर्थ क्रिया और योग का साधन-क्रम महायोग कहलाता है। यह महायोग बिना श्री महेश्वर की अनुकम्पा तथा शिवस्वरूप श्री गुरु की महान् कृपा से उपलब्ध नहीं होता। हृदयस्थ शिवजी की प्रेरणा से जब गुरु प्रसन्न होकर शक्तिपात द्वारा शिष्य पर कृपा करते हैं तब उसमें महायोग का संचार होता है, अन्यथा नहीं।

वायवीय संहिता, अध्याय २९

वृथा परिश्रमस्तस्य निरयवैव केवलम्।
शक्तिपात समायोगादृते तत्त्वानि तत्त्वतः।
तद्व्याप्तिस्तद्विशुद्धिश्च ज्ञातुमेव न शक्यते ॥२७॥

बिना शक्तिपात के शिष्य का सारा परिश्रम वृथा ही केवल नहीं के बराबर है, क्योंकि तत्त्वों का तत्त्वतः ज्ञान बिना शक्तिपात के कभी नहीं हो सकता और उस परब्रह्म की सर्वव्यापकता का अनुभवगम्य ज्ञान, जो पांचों तत्त्वों की शुद्धि होने से ही होना सम्भव है, प्राप्त नहीं किया जा सकता। पांचों तत्त्वों की शुद्धि करने के लिये निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति और शान्त्यातीत—इन पांच प्रकार की अवस्थाओं का मन में उदय

होना आवश्यक है और विद्या के उदय होने पर आनन्दकन्द भगवान के आनन्द, परमानन्द, प्रबोध, चिदुदय और प्रकाश— इन पांच स्वरूपों के ज्ञान का प्रकाश चित्त पर पड़ता है। मोक्ष-प्राप्ति के पूर्व ब्रह्म का पूर्ण ज्ञान ऊपर कहे विस्तार से साधकों के साक्षात् अनुभव में आना चाहिये। जब तक परमात्मा के उक्त गुणों को ग्रहण करने का सधर्मीपना चित्त में नहीं आता तब तक कोई साधक सिद्धि लाभ नहीं कर सकता। केवल शाब्दिक ज्ञान का कि "मैं ब्रह्म हूँ" मुख से उच्चारणमात्र करने से मोक्ष नहीं होता। भिन्न २ भूमिकाओं में से चित्त की गति चढ़कर पर-ब्रह्म परमेश्वर का साक्षात्कार होने से ही मोक्ष प्राप्ति होती है।

तत्त्व शुद्धि

वायवीय संहिता, अध्याय २९

प्रापिका व्यापिका शक्तिः पंचतत्त्व विशोधनात्।
निवृत्या रुद्रपर्यनता स्थितिरण्डस्य शोध्यते ॥२१॥
प्रतिष्ठया तदूर्ध्वन्तु यावदव्यक्तगोचरम्।
तदूर्ध्वं विद्यया मध्ये यावद्विद्येश्वरावधि ॥२२॥
शान्त्या तदूर्ध्वमध्वान्ते विशुद्धि शान्त्यतीतया।
यमाहुः परमं व्योम परप्रकृतियोगतः ॥२३॥

ईश्वर की सर्व व्यापक शक्ति का अनुभव पंच तत्त्व की शुद्धि से होता है। इसलिये पहिले निवृत्ति द्वारा शरीर की रुद्र तत्त्व पर्यन्त शुद्धि होती है अर्थात् जहां तक स्थूल शरीर से सृष्टि, स्थिति और संहार शक्तियों का सबन्ध है वहां तक की शुद्धि निवृत्ति धारण करने से हो जाती है। उसमें आत्म-तत्त्व की छाया वैराग्य की प्रभा के रूप में चमकने लगती है। तत्पश्चात्

उसमें दृढ़ता होने पर, ऊपर जहां तक अव्यक्त इन्द्रियों की पहुंच है वहां तक अर्थात् सूक्ष्म शरीर तक की शुद्धि प्रतिष्ठा से होती है। उसके ऊपर जहां तक विद्या तत्त्व और ईश्वर तत्त्व की अवधि है, उन दोनों के मध्य में विद्या के उदय से शुद्धि होती है। तब क्रमशः प्रकाश, चिदुदय, प्रबोध, परमानन्द और आनन्द का उत्तरोत्तर विकास होता है। इसके ऊपर षडध्व के अन्त में शान्ति के उदय होने पर शुद्धि होती है। उसके ऊपर प्रकृति की सीमा तक, जिसको परमाकाश भी कहते हैं, शान्त्यातीत अवस्था के उदय होने पर शुद्धि होती है। इस प्रकार मन, बुद्धि, अहंकार, महत्तत्त्व तथा अव्यक्त प्रकृति की ज्यों २ शुद्धि होती जाती है, उतना ही पूर्ण ब्रह्म-भाव विकसित होता जाता है।

धारणाज, ध्यानज और समाधिज प्रज्ञा

निवृत्ति के उदय होने पर जो प्रतिभा मन, बुद्धि पर प्रकाशित होती है वह धारणाज प्रज्ञा के उदय की सूचक कही जा सकती है। प्रतिष्ठा में उसकी प्रतिष्ठा और विद्योत्पत्ति में परमात्म तत्त्व के उदय के साथ ध्यानज प्रज्ञा का उदय समझना चाहिये। शान्ति तथा आनन्द के उदय होने पर समाधिज प्रज्ञा आती है।

विद्योत्पत्ति

प्राणतोषणी तन्त्र, षष्ठ काण्ड, ३,

विद्योत्पत्ति स्तदानीन्तु कथ्यते शृणु यत्नतः।
आनन्दः परमात्मेति परमानन्द एकतः॥१॥
प्रबोधः परमानन्द श्चित्तोत्पत्ति प्रबोधकाः।
चिदुदयः प्रकाशश्च एषां पंच तथैव च॥२॥

अब चित्तोत्पत्ति के उदय होने की पांच अवस्थाओं का वर्णन किया जाता है जिनको अच्छी तरह समझने का यत्न करना चाहिये। यह विषय अति सूक्ष्म और गूढ़ है। बिना अनुभव के समझ में आना कठिन है। (१) आनन्दानुभव ब्रह्म स्थिति (२) परमानन्द स्वरूप परमात्मा का अनुभव (३) परमानन्द सहित चित्तोत्पति का प्रबोधक, प्रबोध (४) चिदुदय और (५) प्रकाश। ये पांचों पांच २ गुण वाले हैं।

अविनाश्यक्षयोऽभेदोह्यदाह्योऽस्वाद्य एव च।
एते पंच गुणाः प्रोक्ता आनन्दे पुरवैरिणा ।।३।।

किरण स्फूर्ति विस्फूर्ति हर्ष सत्परमात्मनः।
विचारश्च प्रभोल्लाशविभवश्च लयस्तथा ।।४।।

प्रबोधस्य गुणाः पंच कीर्त्यन्ते तेन हेतवे।
अभ्यास कर्तृक मनाः सर्व तत्त्वप्रभा तथा ।।५।।

चिदुदयस्य पंचेति गुणा ज्ञेया विशेषतः।
बोधनं समयत्वञ्च विस्मृतिः सकला प्रभा ।।
प्रकाशस्य गुणाः पंच चैते ज्ञानकराः शुभाः ।।६।।

जब समाधि का अनुभव होना आरम्भ हो जाता है तब साधक को उस पद के अनुभवों में तारतम्यता रहती है और इस कारण उसको बहुधा यह समझना अति कठिन होता है कि वास्तव में वह ज्ञान का अनुभव कर रहा है या नहीं। प्रायः ऐसा भी देखा जाता है कि ज्ञान का अनुभव करते रहने पर भी साधक उसको ज्ञान का रूप नहीं समझता। इसलिये अनुभवों की तार म्यता के अनुसार उस पद का प्रकाश, चिदुदय प्रबोध,

परमात्म, आनन्द, परम पद अथवा तत्पद, परम शून्य और निरञ्जन नामों से वर्णन किया जाता है। यहां पर इन सब अवस्थाओं के पांच २ लक्षण कह कर इनकी व्याख्या की गई है ताकि साधक अपने २ अनुभवों का उक्त लक्षणों से मिलान कर के समझ सकें कि वे किस स्थिति में हैं। बोधन समयत्व विस्मृति, सकला और प्रभा—इन पांच लक्षणों से युक्त भाव जिस अवस्था में रहता है उसको प्रकाश कहते हैं अर्थात् तब प्रभा, कला और समय का भास रहते हुये भी, इन्द्रिय-ज्ञान तथा विकल्पों की विस्मृति हो जाती है और चित्त लय सा होने लगता है। फिर चिदुदय होता है। तब अभ्यास, कर्तृत्व, मन, तत्त्व और प्रभा का ज्ञान होता है कि मैं अभ्यास कर रहा हूँ। वह उस समय अपने मन द्वारा प्रकाश में अनुभूत तत्त्व और प्रभा का अनुभव करता है ये दोनों चित्त के लय और उदय की अवस्थायें हैं जो बारी २ से, क्रमवार एक दूसरी के पीछे आती रहती हैं। इससे धारणाज प्रज्ञा उत्पन्न होती है। जिस अवस्था में प्रभा, विचार, उल्लास, लय और अविभव—इन पांचों में से कभी किसी का अनुभव होता है, उसको प्रबोध की अवस्था कहते हैं। किरण, स्फूर्ति, विस्फूर्ति, हर्ष और केवल सत्त्व के भाव परमानन्द स्वरूप परमात्मतत्त्व के अनुभव में होते हैं। यहां पर ध्यानज प्रज्ञा होती है। तत्पश्चात् आनन्दमय ब्रह्म की स्थिति में विनाश, क्षय, भेद बुद्धि, दाह अर्थात् चित्त के संताप तथा स्वादादि इन्द्रिय ज्ञान का अभाव हो जाता है। इससे समाधिज अथवा ऋतंभरा प्रज्ञा उत्पन्न होती है। उपरोक्त अन्तिम अनुभव में

केवल आनन्द रूप अव्यक्त पद की स्थिति समझनी चाहिये, क्योंकि इस स्थिति में सुख-दु:खादि इन्द्रिय द्वन्द्व और मानसिक त्रिताप नहीं रहते। यह ही आनन्द का लक्षण है।

अव्यक्तन्तु परं तत्त्वं तन्नित्यंवर्तते सदा।
एको नाम पुमानास्ति तस्मात्परञ्च तत्पदम् ।।७।।
तस्मात्तु परमं शून्यं तस्मात्तत्तु निरञ्जनम् ।
निर्गुणत्वं निर्मलत्वं परिपूर्णत्वमेव च ।।८।।
व्यापकत्वं कैवलत्वमानन्दस्य गुणा इमे।
निराकारं च नित्यत्वं निजतत्त्वं निरञ्जनम् ।।९।।
निर्निकेतनता चेति तत्पदस्येति लक्षणाः।
लीनता शीर्णता मूर्च्छा मोहो मण्डलता चेति ।।१०।।
गुणः पुंसः समाख्याताः शून्यस्य परमस्य वै।
स्वभावं सत्त्वजं सत्यं शान्तिः शान्तिस्वरूपतः।
निरञ्जनस्यगुणाः पञ्चैतज्ज्ञानी महेश्वरः ।।११।।

अव्यक्त परम तत्त्व है। वह प्रकृति का अव्यक्त स्वरूप है। वह सदा नित्य, एक समान, सत् रूप रहता है। उसके परे एक परम पुरुष ही है जिसकी व्याख्या तत्पद, परम शून्य और निरञ्जन नामों से की गई है।

आनन्द का भाव अव्यक्त तक अनुभवगम्य है। उसे निर्गुण, निर्मल, परिपूर्ण, व्यापक और केवल आनन्दमय - इन पांच

लक्षणों से युक्त समझना चाहिये। निराकार, नित्य, निजस्वरूप, निरञ्जन और अनिकेतन अर्थात् स्थान रहित होना तत्पद का अनुभव है। इस समाधि की अवस्था में समय, स्थान और परिणाम का अनुभव नहीं रहता। परम शून्य अवस्था में लीनता, शीर्णता, मूर्च्छा, मोह और मंडलता का भाव रहता है। अपने भाव में स्थिति, सत्त्वगुण से उत्पन्न होने वाली गुणातीतता, सत्त्व, शान्ति और मूर्तिमान् शान्ति स्वरूप अर्थात् निरतिशय शान्तिघन स्वरूपता निरञ्जन भाव के द्योतक लक्षण हैं। जिस साधक को इन अवस्थाओं का अनुभव हुआ है, वह ज्ञानी साक्षात् महेश्वर ही है।

शिव पुराण की वायवीय संहिता के उत्तराखण्ड में महर्षि उपमन्यु ने भगवान श्री कृष्ण से पाशुपत योग, शैव धर्म और शिव ज्ञान का सविस्तार वर्णन किया है। उसमें शैव धर्म के आचार, शक्तिपात, योग साधन, तत्त्वशुद्धि, शिव के व्यक्त-अव्यक्त-वास्तिवक स्वरूप और उनका साक्षात्कार, ॐकार की व्याख्या तथा शैव दशन के ३६ तत्त्वों आदि के सूक्ष्म ज्ञान का वर्णन किया है। ३६ तत्त्वों के नाम ये हैं:—

शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, शुद्ध विद्या, माया, काल, कला, नियति, विद्या, राग, पुरुष, अव्यक्त, महत्, अहंकार, मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पांच कर्मेन्द्रियाँ, पांच तन्मात्रायें और पांच महाभूत।

सप्तम प्रकाश

योग साधन से प्राप्त आत्म-ज्ञान दो प्रकार का है, योग और ज्ञान का अर्थ विज्ञान है।

एकादश स्कन्ध, १९

ज्ञान विज्ञान संसिद्धाः पदं श्रेष्ठं विदुर्मम।
ज्ञानो प्रियतमोऽतोज्ञानेनासौबिभर्तिमाम् ॥३॥
तस्माज्ज्ञानेन सहितंज्ञात्वा स्वात्मानमुद्धव।
ज्ञान विज्ञान संपन्नो भजमां भक्ति भावतः ॥५॥
ज्ञान विज्ञान यज्ञेन मामिष्ट्वात्मानमात्मनि।
सर्वयज्ञपतिं मां वै संसिद्धिं मुनयोऽगमन् ॥६॥

ज्ञान और विज्ञान से कृतार्थ हुए सिद्ध पुरुष मेरे श्रेष्ठ परम पद को जानते हैं। वे निरन्तर ज्ञान द्वारा मेरे में ही लगे रहते हैं, इसलिये ज्ञानी महात्मा मुझे अतीव प्रिय हैं। अतएव तुम भी ज्ञान सहित अपने आत्म स्वरूप को जानकर, ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न होकर, भक्तिपूर्वक मेरा भजन करो। ज्ञान-विज्ञान रूप यज्ञ के द्वारा ही मुझ यज्ञपति को मुनियों ने अपने में आत्म-रूप से प्राप्त किया है।

ज्ञान विज्ञान संयुक्त आत्मभूतः शीरोरिणाम्।
आत्मानुभवनुष्टात्मा नान्तरायैर्विहन्यसे ॥१०।७॥
तपस्तोर्थजपोदानं पवित्राणितराणी च।
नालं कुर्वन्ति तां सिद्धिं या ज्ञान कलयाकृता ॥४॥

इस प्रकार ज्ञान और विज्ञान से युक्त होने पर तुम समस्त देह धारियों के आत्म रूप हो जाओगे तथा आत्मानुभव से ही सन्तुष्ट होने के कारण किसी बिघ्न से बाधित नही होगे। तत्त्व-ज्ञान के एक अंश मात्र से जो सिद्धि होती है वह जप, तप, तीर्थ, व्रत, दान इत्यादि अन्य कोई भी पवित्र कार्य करने से नहीं होती। अतएव इस ज्ञान की प्राप्ति के लिये ही तुम्हें योग साधन करना है।

योगशिखोपनिषद्, अध्याय १

योगेन रहितं ज्ञानं न मोक्षाय भवेद्विधे।
ज्ञानेनैव विना योगो न सिध्यति कदाचन् ।।५१।।
तस्माज्ज्ञानञ्च योगं च मुमुक्षुर्दृढमभ्यसेत्।
जन्मान्तरैश्च बहुभिर्योगो ज्ञानेन लभ्यते ।।५२।।
ज्ञानंतु जन्मनैकेन योगादेव प्रजायते।
तस्माद्योगात्परतरो नास्ति मार्गस्तु मोक्षदः ।।५३।।

योग साधन से प्राप्त ज्ञान ही आत्म-ज्ञान कहा जाता है जिसके प्रभाव से तुम आनन्द रूप हो जाओगे। जन्म और मृत्यु से छुड़ाने वाला ज्ञान-सामान्य और विशेष—दो प्रकार है। साधारणतः तुम जो शास्त्र द्वारा मेरे ज्ञान का निश्चय करते हो, वह शास्त्र-सिद्धि परोक्ष ज्ञान कहलाता है। तपस्या, योग-साधन करके तुम जो अनुभव करोगे, वह साधन सिद्ध अपरोक्ष विज्ञान कहलाता है। इस विशेष ज्ञान के लिये ही तुम्हें योग साधन करना होगा, क्योंकि योग से रहित ज्ञान मोक्षदायक नहीं होता और बिना ज्ञान के योग की सिद्धि भी नहीं होती।

ज्ञान का अर्थ है जानना और योग का अर्थ है मिलना। अतएव जब तक ज्ञान से जानोगे नहीं, तब तक योग से मिल भी नहीं सकोगे और जब तक योग से मिलोगे नहीं, तब तक ज्ञान से जान भी नहीं सकोगे। इसलिये योग साधन और ज्ञान दोनों को तुम पृथक् नहीं कर सकते। योगहीन ज्ञान जैसे मोक्ष नहीं दे सकता है, वैसे ही योग भी बिना ज्ञान के मोक्ष देने में समर्थ नही है। इसलिये यदि तुम योग और ज्ञान दोनों में से किसी एक का भी आश्रय छोड़ दोगे तो हमसे नहीं मिल सकोगे। हमसे मिलने की इच्छा करके तुम्हें यथाविधि ज्ञान और योग दोनों का अनुष्ठान करना चाहिये।

प्रविचार्य चिरं ज्ञानं मुक्तोऽहमिति मन्यते।
किमसौ मननादेव मुक्तो भवति तत्क्षणात् ॥५४॥
पश्चाज्जन्मान्तरशतैर्योगादेव विमुच्यते।
न तथा भवतो योगाज्जन्म मृत्युः पुनः पुनः ॥५५॥
प्राणापान समायोगाच्चन्द्रसूर्यैकता भवेत्।
सप्त धातुमयं देहमग्निना रञ्जयेद्ध्रुवम् ॥५६॥

केवल ज्ञान मात्र का अभ्यास करने से अनेक जन्म के पश्चात् योग की प्राप्ति होती है, परन्तु योग से तो एक ही जन्म में ज्ञान हो जाता है, इसलिये योग को छोड़कर मोक्ष देने वाला और कोई मार्ग नहीं है। यदि चिरकाल तक ज्ञान का विचार करके कोई ऐसा मान लेवे कि मैं मुक्त हूँ तो योग साधन न करके विचार मात्र से, क्या वह मुक्त हो सकता है? पहिले ही कहा गया है कि बिना योग के ज्ञान कदापि नहीं होता। मन से

ऐसा मानने वाला ज्ञानी कहीं सैकड़ों जन्मों में योग से ही मुक्त होगा। योगसाधन न करके, शास्त्र पढ़ कर अथवा अपनी कल्पना से ज्ञान मान लेने से तो जन्म और मरण होते ही रहेंगे। परन्तु योग साधन से तो इसी जन्म में ज्ञान हो जायेगा, क्योंकि योग से बार २ जन्म-मरण नहीं होता है। प्राणापान को एकता-प्राणायाम द्वारा सूर्य-चन्द्र का एक करना ही योग कहलाता है। प्राणायाम द्वारा कुण्डलिनी शक्ति को जगा कर, उसकी सहायता से ब्रह्माग्नि प्रज्वलित करके, मन प्राण और शरीर को सङ्कुठित कर, प्रकृति पर प्रभुत्त्व स्थापन करके, निर्विकल्प समाधि द्वारा जीव-ब्रह्म की एकता रूप योग-साधन करना है।

त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषद् तथा सौ० ल० उ०

योगात्सञ्जायते ज्ञानं ज्ञानाद्योगः प्रवर्तते।
योगज्ञानपरो नित्यं स योगी न प्रणश्यति ॥१६॥
योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्धते।
योऽप्रमत्तस्तु योगेन सयोगी रमते चिरम् ॥१॥

योग से ही ज्ञान उत्पन्न होता है और ज्ञान से ही योग प्रवृत्त होता है, इसलिये तुम नित्य योग-ज्ञान का अभ्यास किया करोगे तो कभी नष्ट नहीं होगे। तुम्हें योग साधना से ही योग जानना चाहिये। योगाभ्यास से ही योग होता है। उत्साह से लगे रहोगे तो योग में ही चिरकाल रमण करोगे।

प्राणायाम से असाध्य कुछ नहीं है, कुण्डलिनी-शक्ति जाग उठेगी

इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये जब तुम भाग्य का भरोसा छोड़ कर, अपने प्रयत्न और ईश्वर कृपा का आश्रय लेकर,

प्राण-अपान का हवन (प्राणायाम) करते रहोगे तो जगत् में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो तुम्हें प्राप्त न हो सके। तुम्हें केवल दृढ़ संकल्पवान् होने की आवश्यकता है। जब प्राण-अपान का हवन करने बैठो तो पहिले पद्मासन लगाना, सद्गुरु को प्रणाम कर मङ्गलमय महेश्वर से प्रार्थना करते रहना कि यज्ञ में कोई विघ्न न आवे। यदि दुर्भाग्यवशात् विघ्न आ जावें तो प्रणव देवता का पूजन-जप करते रहना चाहिये। साथ ही महामाया आद्याशक्ति कुण्डलिनी देवी का ध्यान करना, जिसकी कृपा से योगी लोग सिद्धि को प्राप्त करते हैं। वह सोई हुई शक्ति तुम्हारे प्राण-अपान रूपी हवन के प्रभाव से जाग उठेगी और अनादिकाल की निद्रा त्याग कर महेश्वर से मिलने के लिये दौड़ेगी। उस समय तुम हवन करना भी भूल जाओगे और शिव-शक्ति के साथ मिलने की व्यग्रता में रोने, हंसने एवं नाचने लग जाओगे। तब तुम्हें यह ज्ञान नहीं रहेगा कि मैं प्राणायाम कर रहा हूँ। तुम भयभीत से मालूम होगे। तुम्हें हंसना, कूदना और नाचना ही अच्छा लगेगा। समय २ पर संज्ञाशून्य भी हो जाओगे।

उस अवस्था में तुम्हें सारा ब्रह्माण्ड अपने अन्तर में चित्र-विचित्र रूप से दीखने लगेगा। दिव्य, महादिव्य, ज्योति का प्रकाश तुम्हारे अन्तराकाश में प्रतीत होगा। यह अवस्था प्राण-अपान के हवन रूपी प्राणायाम में प्रायः हुआ करेगी। जब २ तुम प्राण को अपान में और अपान को प्राण में होमते रहोगे, तब २ नाना प्रकार के दृश्य तुम्हारे सामने खड़े हो जायेंगे। तुम्हारी इस मानसिक सृष्टि के विचित्र विकल्प का वर्णन कोई नहीं कर सकता।

आत्मशक्ति के जागने से आश्चर्यजनक अनुभव होंगे

योगशिखोपनिषद्, अध्याय ६

मनसा मन आलोक्य योगनिष्ठः सदाभवेत् ।
मनसा मन आलोक्य दृश्यन्ते प्रत्यया दश ॥६४॥
यदा प्रत्यया दृश्यन्ते तदा योगीश्वरो भवेत् ॥६५॥
बिन्दु नाद कला ज्योतीरविन्दु ध्रुवतारकम् ।
शान्तं च तदतीतं च परंब्रह्म तदुच्यते ॥६६॥

कुण्डलिनी शक्ति की क्रियाओं द्वारा, मन को मन से देखकर सर्वदा योग-साधन करना है। योग-साधन द्वारा मन को मन से देखने से साधन-उन्नति के चिह्न, ब्रह्म के अभिव्यक्ति कारक, दश प्रत्यय दीखते हैं। उनका अनुभव होने लगे तो समझना कि शीघ्र योग की सिद्धि होने वाली है। नाद, बिन्दु, कला, ज्योति, सूर्य, चन्द्र, ध्रुव, तारा आदि अन्तराकाश में दीखते हैं और शान्त हो जाते हैं। तब मन शान्तभाव अवलम्बन करता है। उस समय मन में कोई क्रिया नहीं होती। फिर शान्त्यातीत अवस्था आती है। शान्त्यातीत ही परब्रह्म है, जो मन-वाणी से परे स्वानुभवगम्य है।

हसत्युल्लसति प्रीत्या क्रीडते मोदते तदा ।
तनोति जीवनं बुद्ध्या बिभेति सर्वताभयात् ॥६७॥
रोध्यते बुध्यते शोके मुह्यते न च संपदा ।
कम्पते शत्रुकार्येषु कामेन रमते हसन् ॥६८॥

स्मृत्वा कामरतं चितं विजानीयात्कलेवरे।
यत्र देशे वसेद्वायुच्चित्तं तद्वसति ध्रुवम् ॥६६॥

ऐसे दिव्य अनुभव हो जाने पर योगी आनन्द उल्लास से उत्फुल्ल होकर हंसता है, प्रसन्न होता है, प्रेम से क्रीडा करता है और महासुखी होता है। ऐसा आत्म-सुख अनुभव करके विषयों से विमुख हुआ योगी संसार से भय मानकर पृथक् रहता है। शोक में बुद्धिमत्ता से रहता है और सपदा-प्राप्ति से मोहित नहीं होता। शत्रुता के कार्य से कांपता है। काम जनित विकार से शरीर में होने वाले परिणाम को जानता है, इसलिये सब कामनाओं से मन को रोकता है। शरीर में जिस स्थान पर प्राण वायु रहता है, चित्त भी निश्चय वहां ही होता है।

ये घटनायें गुरु-प्रदत्त शक्ति के प्रभाव से अथवा प्राणयाम द्वारा तुम्हारे पापां के नाश से होंगी। चाक्षुष् दीखने वाली मेरी सृष्टि का सूक्ष्म अंश तुम्हारे अन्तर में समाया हुआ है। कुण्डलिनी शक्ति के क्रियाशील होने से तुम उसको सर्वदा देखा करोगे। तुम्हें सन्तोष और श्रद्धा प्रदान करने के लिये ये सब शुभ लक्षण ब्रह्म की अभिव्यक्ति कराते रहेंगे। जब तक शिव-शक्ति का सम्मिलन नहीं होगा, तब तक ये अलौकिक आश्चर्य अन्तर में अनुभव करते रहोगे। जब तुम्हारा हवन पूर्णाहुति को प्राप्त होगा, तब तुम निर्विकल्प समाधि में पहुचोगे और तुम्हें बाहर का जगत् वास्तविक ही स्वप्नवत् भासेगा।

हवन के प्रारम्भ से पूर्णाहुति पर्यन्त जिन २ घटनाओं का तुम अनुभव करोगे उनका यथातथ्य वर्णन करना मनुष्य बुद्धि से परे है तथापि तुम अनुभव तो करते ही रहोगे। ये अनुभव

कराने वाली अन्तर शक्ति कुण्डलिनी है। जब २ वह ऊपर की ओर चलेगी, तब २ तुम्हें आश्चय, अति आश्चर्य जनक अनुभव होते रहेंगे। परन्तु इन अनुभवों से ही तुम कृतार्थ नहीं हो जाओगे। अभी तुम्हें आगे चलना है। जब वह शक्ति शम्भु के साथ मिलकर स्थित हो जायेगी, तब ही तुम कृतकृत्य और कृतार्थ हो जाओगे।

प्राणायाम की अवधि नहीं है

जहां तक बने, प्राणायाम करते ही रहना चाहिये। जब तक करते २ अपने आप न छूट जाये, तब तक बन्द नहीं करना चाहिए। यह हवन कितने रोज और कब तक करना है, इसकी कोई अवधि नहीं है। इस विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता, करते रहना ही कर्तव्य है। साधारणत: तुम लोग समझते हो कि कुण्डलिनी शक्ति के जागने से ही काम बन जाता है, परन्तु ऐसा नहीं है। कुण्डलिनी के जागने से ही काम नहीं चलता, जाग कर क्रियाशील होने से काम होता है। जैसे सोते हुये किसी व्यक्ति को आवाज देकर जगा दिया जाये और वह जाग भी जाये तथापि काम न करे, तो क्या लाभ? वैसे ही कुण्डलिनी शक्ति जाग जाये और कार्य न करे तो क्या फल?

अतएव यदि मालूम पड़े कि कुण्डलिनी शक्ति जाग गई है तो भी प्राणायाम करते रहना चाहिये। सर्पिणी, प्राणायाम की अग्नि से उत्तप्त होकर, सहस्रार में जाकर और मन-प्राण को समेट कर ब्रह्म में लय करे, तब ही साधन की सफलता हुई समझनी चाहिये। जितना अधिक प्राण-अपान का हवन होगा

उतनी हीं जल्दी आत्म-शक्ति का विकास होगा। अतएव यह कार्य, जब तक स्वतः न छूट जाये तब तक, नियमित रूप से, श्रद्धा-भक्ति, उत्साह और साहस से करते रहना है । हवन की आहुति (कुम्भक) जितनी अधिक संख्या में पहुंचे, उतना ही अधिकाधिक आनन्द होगा।

शक्ति जागरण से महायोग स्वतः होगा

जब कुण्डलिनी शक्ति जागकर क्रियाशील होती है तब जो २ लक्षण होते हैं वे शत-शत लोगों के प्रत्यक्ष अनुभव का परिदर्शन करके लिखे जाते हैं। इस विषय में शङ्का निरर्थक है, क्योंकि योग प्रत्यक्ष फलप्रद है। योग के उपयुक्त सामर्थ्यवान् गुरु के शक्ति-पात से (शक्ति संचार से, शक्ति उद्बोधन या उद्घाटन से) जब कुण्डलिनी शक्ति जागकर क्रिया करने लगेगी, तब तुम में ये लक्षण प्रतीत होंगे:—

योगशिखोपनिषद्, अध्याय ६

आधारवातरोधने शरीरं कम्पते यदा।
आधारवातरोधने योगी नृत्यति सर्वदा ॥२८॥
आधारवात रोधने विश्वं तत्रैव दृश्यते।
सृष्टिराधारमाधारमाधारे सर्वदेवताः ॥

प्राणायाम द्वारा या शक्तिमान् गुरु के अनुग्रह से अन्तर-शक्ति जागती है। आत्मशक्ति के उद्बोधन से प्राण क्षोभित होकर जब आधार चक्र में रुकता है तो साधक का शरीर कांपने लगता है। मूलाधार में प्राण रुकने के कारण साधक योगी आनन्दित होकर नृत्य करने लगता है। आधार चक्र में वायु का

निरोध होने से वहीं सारा विश्व दीखने लगता है, क्योंकि कुण्डलिनी शक्ति मूलाधार में ही निवास करती है। उसकी स्थिति के कारण सृष्टि का आधार मूलाधार ही है। आधार में ही सब देवता निवास करते हैं।

आधारे सर्व वेदाश्च तस्मादाधारमाश्रयेत् ॥२९॥
आधारे पश्चिमे भागे त्रिवेणी सङ्गमोभवेत् ।
तत्र स्नात्वा च पीत्वा च नरः पापात्प्रमुच्यते ॥३०॥
आधारे पश्चिमं लिङ्ग क्वाटं तत्र विद्यते ।
तस्योद्घाटन मात्रेण मुच्चयते भव बन्धनात् ॥३१॥

आधार में ही सब वेद का ज्ञान निहित है। वाग्देवी वेदमयी ज्ञान शक्ति मूलाधार में ही है, इसलिये आधार का ही आश्रय करना चाहिये। आधार के पश्चिम भाग में ईडा, पिङ्गला, सुषुम्ना (त्रिवेणी-गङ्गा, यमुना, सरस्वती) का सङ्गम होता है। वहां पर, मन-प्राण को एकत्र करके गोता लगाकर दिव्य स्नान एवं पान करने से मनुष्य सब पापों से मुक्त हो जाता है। आधार के पश्चिम भाग में स्वयम्भु लिङ्ग प्रतिष्ठित है। वहां पर सुषुम्ना में प्रवेश का मार्ग (ब्रह्म द्वार) है। उसको खोल देने से ही मनुष्य संसार-बन्धन से विमुक्त हो जाता है।

आधार चक्रमहसा पुण्यपापे निकृन्तयेत् ।
आधार वात रोधने लीयते गगनान्तरे ॥२७॥

मूलाधार में कम्पन होने लगे, शरीर कांपने लग जाये, कुम्भक रोके भी न रुके, श्वास-प्रश्वास बलात्कार से बाहर हो जायें, अनिच्छा में भी श्वास-प्रश्वास दीर्घ २ आने-जाने लगें

और शरीर सभाला न जाये, तब समझ लेना कि कुण्डलिनी शक्ति जाग गई और कार्य करने लगी। उस समय तुम्हें निर्भय होकर चुपचाप बैठना और देखना चाहिए कि क्या होता है ?

जब शरीर कांपने लगे, रोमाञ्च हो जाये, अनिच्छा में हास्य आवे या रोने लग जाओ, मुख से विकृत २ शब्द निकलें या वीर्यपात हो जाये, भय उत्पन्न हो जाये अथवा विभिषिका दीखें, अनिच्छा में मूत्र-स्राव हो जाय तो समझ लेना कि कुण्डलिनी शक्ति कार्य-कारिणी हो गई।

जब आसन स्थिर हो जायें, उड्डीयान, जालंधर, मूल बन्ध स्वतः लगते रहें, जिह्वा तालू में उलट कर चली जाये, इतनी स्फूर्ति हो कि स्थिर होकर बैठा न जाये, हाथ पैर बलात्कार से खिचें तो समझ लेना कि परमाशक्ति कुण्डलिनी देवी क्रियाशील हो गई।

जब आसन दृढ़ता से लगा रहे, दृष्टि भृकुटि में रहे, आंखों के तारे घूमने लगें, स्वतः केवल कुम्भक हो जाये, मन बाह्य ज्ञान-शून्य निष्क्रिय हो जाये तो समझ लेना कि महामाया आद्या-शक्ति कुण्डलिनी देवी क्रियाशील हो गई।

जब प्राणकला के स्रोत मूलाधार से सहस्रार में जाते मालूम पड़ें, अन्तर में प्रणव का जप स्वतः होने लगे और प्राण के उठते हुये स्रोतों के साथ २ मन नाना प्रकार का सुख अनुभव करे तो समझ लेना कि जगदम्बा कुण्डलिनी शक्ति क्रियाशील हो गई।

जब नाना प्रकार के नाद होने लगें, मेरुदण्ड में कम्पन मालूम पड़े, शरीर शून्य हो जाये, यह प्रतीत होवे कि शरीर है

ही नहीं, सब शून्य भासे, नेत्र खोलने पर भी न खुलें, शरीर से विद्युत स्रोत चलें या खिचाव होने लगे तो समझ लेना कि महामाया कुण्डलिनी क्रियाशील हो गई।

जब नेत्र मूंदते ही शरीर भूमिष्ठ हो जाये, शरीर चक्की की तरह घूमने लगे, श्वास-प्रश्वास बाहर निकलें ही नहीं, शरीर मेंढक की तरह उछल २ कर जहां-तहां गिरे, सारे स्थान में चक्कर लगावे या मृतवत् भूमि से लग जाये, हाथ उठाये न उठे, पग भी न हिलें, सब नाड़ियों में ऐसा खिचाव होने लगे मानो शरीर से प्राण निकल रहा है, शरीर मछली की तरह उछल २ कर तड़फे, तब समझना कि योगमाया कुण्डलिनी शक्ति क्रियाशील हो गई।

जब मन में आवेश आ जाये, मालूम पड़े कि शरीर में कोई प्रवेश कर गया है, उस आवेश में नाना प्रकार के आसन बलात्कार से होने लगें और कष्ट बिल्कुल कुछ भी न हो वरन् आनन्द ही आनन्द होता जाये, साथ २ विचित्र प्रकार के प्राणायाम होने लग जायें तो समझना कि ईश्वरीय शक्ति कुण्डलिनी देवी क्रियाशील हो गई।

जब आंख मून्द कर बैठते ही सङ्कल्पमात्र से शरीर में चेष्टायें होने लगें, हाथ पैर फेंके जायें और बलात् ऐसे विकट २ शब्द मुख से निकलें जिनकी भाषा विकृत हो, पशु-पक्षी या मेंढक इत्यादि के सदृश शब्द होने लगें अथवा श्रृगाल, श्वान, बिल्ली, व्याघ्र, सिंहादि के कर्णकटु भयानक एवं उच्छृङ्खल शब्द स्वतः बाहर निकलें तो समझ लेना कि रुद्राणी महाशक्ति कुण्डलिनी देवी क्रियाशील हो गई।

जब शरीर के स्थान २ में प्राण की गति मालम होने लगे, जहां २ मन लगाया जाये वहीं २ प्राण की क्रिया प्रतीत होने लगे और स्नायुमण्डल में विद्युत की तरह सुख साध्य क्रियायें अनुभव से आवें तो समझ लेना कि कुण्डलिनी देवी क्रियाशील हो गई।

जब अष्ट प्रहर अन्तर में क्रिया की अनुभूति होती रहे जहां भी मन एकाग्र हो, झट शरीर कांपने लगे या अनिच्छा में शरीर हिला करे, मलीन जघन्य स्थान शौचालय में बठने पर भी मन आनन्द मग्न क्रियात्मक रहे, सोते समय भी प्राणकला के स्रोत सहस्रार में भासें एवं स्वप्न में भी मन क्रियात्मक रहे तो समझ लेना कि आह्लादिनी कुण्डलिनी शक्ति शियाशील हो गई।

जब आसन लगाकर बैठते ही शरीर ढलने लग जाये, मारे खुशी के गाना आरम्भ हो जाये, राग-रागिनी ऐसी विचित्र हों कि सुनने वाले मुग्ध हो जायें—और पद्य की रचना स्वतः होती चली जाये, हाथ से ताल बाकायदा लगती रहे, नाना-प्रकार की भाषा, पद्य स्वयं अर्थ बोध रहित उच्चारण होते जायें जिसकी भाषा कोई समझ ही न सके तथापि मन को आह्लादित करे तो समझ लेना कि सरस्वती रूपा कुण्डलिनी शक्ति क्रियाशील हो गई।

जब बिना भङ्ग पिये ही भङ्ग की तरह नशा चढ़ा रहे, चलते समय हाथ पांव कांपे एवं जहां-तहां पड़ें, मनमें, मस्ती आवे और व्यवहारिक कोई भी कार्य न हो सके, न सुनना अच्छा लगे और न कहना ही अच्छा लगे या मद्यपायी के सदृश मस्ती बनी रहे तो समझ लेना कि आत्म-शक्ति कुण्डलिनी क्रियाशील हो गई।

जब रास्ते चलते समय मन में आवेश आवे कि चलो उड़ें, जमीन पर पैर छूते ही दौड़ना शुरू हो जाये, शरीर पवन की तरह हलका उड़ता हुआ मालूम पड़े, कितना भी क्यों न चला जाये तथापि क्लान्ति न हो, मन प्रफुल्लित और प्रसन्न रहे, स्वप्न में भी अप्रसन्नता न आवे, इष्ट और अनिष्ट से मन विचलित न हो, साधक अक्लिष्ट कर्मा हो जाये तो समझ लेना ब्रह्मशक्ति कुण्डलिनी क्रियाशील हो गई।

जब आसन पर बैठकर, नेत्र बन्द करते ही, स्वप्न जैसी अवस्था हो जाये और देवताओं के दर्शन होने लगें, दिव्य गंध, रूप, रस, शब्द और स्पर्श अनुभव में आवें एव देवताओं से आदेश मिलें तो समझ लेना कि दैवीशक्ति कुण्डलिनी क्रियाशील हो गई।

जब ध्यान में बैठने से भविष्यत् में होने वाली बातों का भान हो जाये, वेद-वेदान्त का गूढ़ रहस्य समझ में आ जाये, मन के सब सन्देह मिट जाये किसी भी शास्त्र को थोड़ा-बहुत पढ़ते ही उसका मर्म (भावार्थ) बुद्धि में समा जाये, व्याख्या करने की विचित्र शक्ति हो जाये, ज्ञान-प्राप्ति के लिये स्वयं ब्रह्मा से भी इच्छा न की जायें और आत्मनिष्ठा हो जाये तो समझ लेना कि सिद्धशक्ति कुण्डलिनी देवी क्रियाशील हो गई।

जब आसन पर बैठने से भृकुटि में दृष्टि स्थिर हो जाये, जिह्वा द्वारा खेचरी हो जाये, प्राण-प्रवाह सर्वथा रुक जाये, मन आनन्द सागर में गोता लगा जाये, शाम्भवी मुद्रा सिद्ध हो जाये, सविकल्प का सुख अनुभव में आवे तो समझ लेना कि योगशक्ति कुण्डलिनी देवी क्रियाशील हो गई।

जब क्रिया करने बैठते ही मन एकाग्र हो जाये, देवी-देवताओं से वार्तालाप होने लगे, उनसे रोगों की औषधि मिले, विघ्न-नाशार्थ दैवी मन्त्र मिलें. सिद्धों से योग-ज्ञान का उपदेश मिले तो समझ लेना कि सिद्धि-प्रदायिनी कुण्डलिनी शक्ति क्रिया-शील हो गई।

जब आसन पर बैठ के क्रिया करने का सङ्कल्प करते ही अपना सूक्ष्म शरीर सामने प्रत्यक्ष भासे, स्थूल शरीर का अस्तित्त्व लोप हो जाये, नेत्र खोलने पर भी सर्वत्र शून्य भासे, और समय की संज्ञा न रहे तो समझ लेना कि चित्तशक्ति कुण्डलिनी देवी क्रियाशील हो गई।

जब प्रातः और सायंकाल, ठीक समय पर, अनिच्छा में भी क्रिया का वेग होने लगे एवं शरीर, मन, प्राण को विवश करे तो समझ लेना कि महादेवी कुण्डलिनी शक्ति ठीक काम कर रही है।

मनुष्य मात्र ज्ञान के अधिकारी हैं—कर्म, जाति अवस्था का भेद-तपस्या में नहीं है

इसी तरह कुण्डलिनी शक्ति भिन्न २ प्रकृति वालों को, उनके मन, प्राण और शरीर के अनुकूल, भिन्न २ रूप से, योग शास्त्र-कथित समाधि के निमित्त, शिव-शक्ति सम्मेलनार्थ, नाना प्रकार की चेष्टा-क्रियायें कराती है। मनुष्य मात्र में, चाहे वे आस्तिक हो या नास्तिक हो, चाहे स्त्री हो, पुरुष हो, बालक हो, वृद्ध हो, रोगी हो, निरोगी हो, पापी हो, पुण्यवान् हो अथवा महा-मूर्ख हों, आत्म-शक्ति के जागने से उपरोक्त लक्षण तत्काल

या क्रम से होने लगते हैं। सिद्धि अपने २ संस्कारों के अनुकूल ही होती है, परन्तु आत्म-शक्ति के जागरण में देश, कालकृत अन्तराय नहीं आता, क्योंकि मनुष्य-मात्र ईश्वर के ज्ञान का अधिकारी है। कर्म, जाति, अवस्था और आश्रम का योग-साधन, तपस्या में विचार नहीं है। प्रज्वलित अग्नि में चन्दन और विष्टा डालने से दोनों ही जब जल कर लाल हो जाते हैं तब चन्दन की सुगन्ध और विष्टा की दुर्गन्ध नहीं रहती। दोनों अग्नि रूप हो जाते हैं। वैसे ही योग-साधन रूप तपस्या से ब्रह्माग्नि में सब ब्रह्मरूप हो जाते हैं। योग-साधन, तपस्या करके तुम्हें इसका अनुभव करना चाहिये।

कुण्डलिनी गुरु के मिले बिना भी जाग सकती है और गुरु के लिये भी तपस्या करनी पड़ती है

एकादश स्कन्ध, अध्याय ७

प्रायेण मनुजा लोके लोकतत्त्व विचक्षणाः।
समुद्धरन्ति ह्यात्मानमात्मनैवाशुभाशयात् ॥१९॥
आत्मनो गुरुरात्मैव पुरुषस्य विशेषतः।
यत्प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रेयोऽसावनुविन्दते ॥२०॥

यह तो गुरु के अनुग्रह से शक्ति जागरण होने का फल हुआ, परन्तु ऐसा भी देखा गया है कि बिना गुरु के प्राणायाम करने वालों में भी कुण्डलिनी शक्ति जागने के बहुत से शुभ-लक्षण प्रकाश पा जाते हैं। प्राणायाम से ही कुण्डलिनी शक्ति जागती है, इसलिए आत्म-शक्ति जागने से सब कुछ स्वतः होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। संसार में तत्त्व की आलोचना करने वाले

मनुष्य प्राय: स्वयं ही अपने चित्त की अशुभ प्रवृत्ति को रोक कर अपना उद्धार कर लेते हैं। समस्त प्राणी आप ही अपने गुरु होते हैं। मनुष्य में तो इतनी विशेषता और भी है कि वह प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा अपने श्रेय का निर्णय कर सकता है क्योंकि वह स्वभावत: विवेकवान् है। इसलिये यदि गुरु न मिले तो भी चिन्ता नहीं, तपस्या करते रहना चाहिए। उपयुक्त गुरु की प्राप्ति के लिये भी तपस्या ही करनी पड़ती है। अतएव तपस्या-साधन गुरु के सहारे से आत्मगुरु को प्राप्त करना चाहिए। यदि दैवयोग से सद्गुरु मिल जायें तो अहोभाग्य है, क्योंकि तुम्हारी दुरावस्था के कारण उपयुक्त गुरु को पाना तुम्हारे लिये सहज नहीं है। गुरु के मिलने के भरोसे रह कर तपस्या का समय नष्ट नहीं करना चाहिए। पुरुषार्थ करते रहना चाहिए। कभी न कभी तो गुरु मिलेंगे ही। किया हुआ किसी का भी व्यर्थ नहीं जाता। समय पाकर सब किये का फल मिलता है। गुरु से भी उपदिष्ट होते ही तुम तत्काल मुक्त नहीं हो जाओगे। उस पर भी तुम्हें साधन-तपस्या करनी ही पड़ेगी। अतएव आत्म-विश्वास रक्खो, सब मङ्गल होगा।

योग का फल प्रत्यक्ष है

कुण्डलिनी शक्ति जाग कर क्रिया करती है—यह तो महायोग साधन करने वाले साधकों का अनुभव कहा। साधकों को उक्त बातों में से प्राय: सब ही बातें होती हैं। जो बातें नहीं हुई वे भी होती जायेंगी। अपने २ संस्कारों के अनुकूल आवश्यकतानुसार सब कुछ होगा, इसमें किञ्चित मात्र भी सन्देह नहीं है। महायोग का माहात्म्य बड़ा भारी है। योग माया

कुण्डलिनी शक्ति क्रियायें कराती है। प्रत्यक्ष में प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। दुर्भाग्यवशात् कोई साधक पूर्ण यज्ञ करने में समर्थ न हो अथवा गुरु की प्रीति अच्छी तरह सम्पादन न कर सका हो तो ऊपर कथित अनुभवों में अपूर्णता रह जाती है। तुम्हें चाहिए कि गुरु की पूर्ण कृपा के पात्र बनो। यज्ञ को विधि-पूर्वक करोगे तो ईश्वर कृपा से सारे काम सिद्ध होंगे। श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, मेधा सम्पादन करो। सदा सर्वदा सत्य का पालन करो। उत्साह, साहस और तत्त्वज्ञान से निश्चय करो। आगे तुम्हें सिद्धावस्था में पहुचना है, इसलिये सर्वदा सावधान रहो। विघ्नों का बड़ा भय है।

मन के दुष्ट संस्कार बाधा देंगे

मन के दुष्ट संस्कार बड़े प्रबल होते हैं। ऐसा प्रत्यक्ष आश्चर्य अति आश्चर्य-सङ्गठन होने पर भी, आत्म-विश्वास न करके बहुत से साधक मन के धोखे में आकर गुरु कृपा से प्राप्त साधन को पाकर भी रह गये, आगे न बढ़ न सके। कारण कि दुर्भाग्य से मन में पहिले ही से दुष्ट संस्कार थे। चित्त-शुद्धि का कोई साधन किया नहीं था। अकस्मात् आत्मशक्ति जगाई गई। सुसंस्कार तो ये ही मात्र आरम्भ हुये। दुष्ट संस्कार नष्ट नहीं हुये, इसलिये साधन करने में बाधा देते हैं, विकल्प उठाते हैं। तुम्हें प्राप्त साधन को दृढ़ता के साथ करते रहना चाहिए, इससे शुभ संस्कार प्रबल होंगे और वे कुसंस्कारों का नाश करेंगे।

इसीलिये शास्त्र में अधिकारी होने की आवश्यकता कही है। बिना अधिकारी हुए अपात्र मनुष्य महान् से भी महान् वस्तु को रख नहीं सकते, इसलिये सावधान होकर सद्गुरु का

स्मरण और ईश्वर के अनुग्रह की कामना करो । प्रयाग में तुमने प्रायश्चित् कर लिया है, इसलिये कुण्डलिनी शक्ति जाग कर क्रियाशील हो गई है । अतः तुम्हारे लिये दिव्य लोकों के द्वार खुल गये हैं; परन्तु अभी तुम वहां जा नहीं सकते । प्रयाग-तीर्थ के अधिष्ठातृदेव (वेणी माधव-आत्मा) का दर्शन करना है।

कुण्डलिनी शक्ति मन, प्राण और शरीर को संगठित करती है

तुमने जो कुछ पढ़ा, सुना है उसको दृढ़ करने के लिये एवं तुम्हारे ज्ञान में जो अपरिपक्वता है उसको परिपक्व और परिपूर्ण करने के लिये कुण्डलिनी शक्ति तुमसे ये सब शारीरिक, मानसिक क्रियायें कराती है ताकि तुम्हारे शरीर, मन, प्राण स्वस्थ और सङ्गठित हो जायें । कच्चे शरीर और दुर्बल मन से तुम आत्म-दर्शन नही कर सकते, इसलिये योग-माया कुण्डलिनी शक्ति आत्म-ज्ञान के लिये आवश्यक साधन सम्पादन करा लेगी, जिससे तुम इसी जन्म में जीवनमुक्त हो सकोगे । जीवन-मुक्ति देने वाला महायोग है । उसकी चार अवस्थायें हैं ।

महायोग की चार अवस्थायें

वराहोपनिषद्, अध्याय ५

आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयोऽपिच ।
निष्पत्तिः सर्वयोगेषुस्यादवस्थाचवष्टयम् ।।७१।।

आरम्भ अवस्था, घटा अवस्था, परिचय अवस्था और निष्पत्ति अवस्था—ये चार अवस्थायें चित्त-वृत्तियों के निरोध रूप सब योगों में हुआ करती हैं ।

आरम्भ अवस्था

करण त्रय संभूतं बाह्यं कर्म परित्यजन् ।
आन्तरं कर्म कुरुते यत्रारम्भः स उच्यते ॥७२॥

करण-त्रय से उत्पन्न हुआ बाह्य कर्म (बाह्य कर्म के कारण तीन होते हैं–बोध, बोध का विषय और बोध का आचार-कर्त्ता कर्म, करण अथवा ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान) का त्याग कर जो आन्तरिक, मानसिक कर्म कुण्डलिनी शक्ति की प्रेरणा से होने वाला योगसाधन किया जाता है उसका नाम आरम्भ अवस्था है। अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति के जाग कर क्रिया करने से योग की आरम्भ अवस्था हुई। वास्तविक योग यहीं से आरम्भ होता है।

आरम्भ अवस्था में योगमाया कुण्डिलिनी शक्ति प्रथम हठयोग आरम्भ करती है। उनमें नाना प्रकार की शारीरिक क्रियायें होती हैं जिनके नाम आसन, बध, मुद्रा, प्राणायाम और नाड़ी-शुद्धि हैं। आसन से शरीर की स्थिरता, बंध-मुद्रा से शरीर की दृढ़ता, प्राणायाम से शरीर की लघुता और नाड़ी-शुद्धि से शरीर की साम्यता होती है। हठयोग द्वारा ही शरीर परिपक्व होता है, अतएव शरीर को वश में रखने का एकमात्र उपाय हठयोग ही है। हठयोग किये बिना ज्ञान-लाभ करना सहज नहीं है।

घटावस्था

वायुः पश्चिमतो वेधं कुर्वन्नापूर्यसुस्थिरम् ।
यत्र तिष्ठति सा प्रोक्ता घटाख्या भूमिका बुधैः ॥७३॥

पश्चात् दूसरी घटावस्था है। घटावस्था में शरीर सम्पूर्णतया

शुद्ध और सत्त्वगुण युक्त होता है, विषय वासनायें ह्रास हो जाती हैं, सर्वदा ईश्वर-स्मरण बना रहता है, हठयोग और लय-योग सुगम हो जाते हैं, साधक पवित्र और प्रसन्न रहता है, वैराग्य दिन २ बढ़ता रहता है, ईश्वर से मिलने के लिये मन उत्साहित और विरह में व्याकुल रहता है। आरम्भ अवस्था और घटावस्था दोनों मिली रहती हैं। आरम्भ अवस्था से शरीर एवं घटावस्था से मन सङ्गिठत होता है। इन दोनों अवस्थाओं से मन और शरीर शुद्ध और स्वस्थ होते हैं जिससे कुण्डलिनी शक्ति के ब्रह्म रन्ध्र में जाने का पथ सुगम और सरल हो जाता है। इसी से साधक प्राणवायु को पश्चिम मार्ग सुषुम्ना में प्रवेश करके रोकने की क्षमता लाभ करता है, जिससे प्राणरोध होने लगता है और मनमें भी स्थिरता आ जाती है। इस स्थिरता-प्राप्ति की अवस्था को ज्ञानियों ने योग-साधन की घटावस्था कहा है। इसके बाद साधक को परिचयावस्था की प्राप्ति होगी।

परिचयावस्था

न सजीवो न निर्जीवः काये तिष्ठति निश्चलम् ।
यत्र वायुः स्थिरः खे स्यात्सेयं प्रचयभूमिका ।।७४।।

परिचयावस्था में साधक का प्राण अन्तर-आकाश बोध गगन में विलीन होता है। प्राणशक्ति कुण्डलिनी देवी, हृदयाकाश में प्राण स्थिरत्व प्राप्त कर, सहस्रार में शिव के साथ संलग्न होती है तो, प्राण का रोध रहने तक, साधक की शारीरिक अवस्था निष्क्रय, निर्जीव हो जाती है। उसे मृतवत् कहा जा सकता है, क्योंकि बाह्य लक्षणों से देह निर्जीव मृतवत् प्रतीत होती है, परन्तु अन्तर में वह सजीव है।

परिचय अवस्था में प्राण के साथ आत्मशक्ति मिलती है, इसलिये महायोग में परिचय अवस्था या सिद्धावस्था की महत्ता बहुत ही बड़ी समझी जाती है। उस अवस्था को प्राप्त हुआ साधक सिद्ध कहलाता है और अलौकिक सामर्थ्य प्राप्त करता है। कुण्डलिनी देवी की कृपा और गुरुदेव के अनुग्रह से परिचय अवस्था प्राप्त होती है तो शरीर का (व्याप्त) प्राण सङ्कल्प मात्र से ही सारे शरीर से खींचकर मूलाधार में एकत्र हो जाता है जब प्राण का एकत्र होना आरम्भ होता है तो साधक योगी अनिर्वचनीय सुख अनुभव करने लगता है। शरीर में जिस २ स्थान से प्राण खिचता है, वहीं २ का अङ्ग मृतवत् निश्चेष्ट और निष्क्रिय हो जाता है।

व्याप्त-प्राण एकत्रित, अङ्गुष्ठ मात्र, अति सूक्ष्म होकर, सुषुम्ना विवर में प्रवेश करके मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा चक्रों में होकर सहस्रार को जाता है। तब साथ ही जठराग्नि और मन भी प्राण में मिल जाते हैं। बिन्दु (वीर्य) स्वस्थान में भस्म होकर ओज हो जाता है। उस समय सारे ब्रह्माण्ड को क्रियाशील करने वाले या सबके जीवन-रूप प्राण का परिचय पाकर साधक योगी कृतार्थ हो जाता है। उस अवस्था में उसकी बुद्धि में आत्म-तेज की छाया पड़ती है। "तत्र ऋतंभरा प्रज्ञा"—उस ज्ञान का अवलम्बन करने वाली बुद्धि ऋतभरा प्रज्ञा कहलाती है। सत्यज्ञान के साक्षात्कार से साधक सिद्ध हो जाता है। एवं प्रकृति पर अपना प्रभुत्व स्थापन करता है। तब उसके लिये सर्वत्र शक्ति का भण्डार खुल जाता है। कुण्डलिनी शक्ति सरलता धारण करती

है और सुषुम्ना विवर में ही अपना स्थान कर लेती है, इसलिये साधक योगी को आत्म-ज्ञान के सब साधन सहज और सरल हो जाते हैं।

वह चाहे तो अपना आत्म-सामर्थ्य जिस किसी को भी दे सकता है और बद्ध जीवों का सामर्थ्य खींच सकता है। अपने प्राण को दूसरे प्राणियों में प्रवेश कर सकता है, दूसरे के प्राण को आकर्षण कर सकता है। प्रकृति उनके अनुकूल हो जाती है, इसलिये उनकी इच्छानुसार कुण्डलिनी शक्ति दूसरे के शरीर में जागती है एवं क्रियायें करने लग जातीं है। दूसरे के प्रारब्ध भोग को अदल-बदल करना उन्हें खेल सा हो जाता है। भोग-रूप व्याधियों को एक शरीर से दूसरे शरीर में सङ्कल्प मात्र से ही कर दे सकता है। यहां तक की जड़ पदार्थ पाषाणादि में दूसरे के रोगों को शुद्ध सङ्कल्प से भोगा देता है।

उनके मन, प्राण आत्म-तत्त्व में आकर्षित होते रहते हैं। हृदय ग्रन्थि खुल जाती है। सब संशय छिन्न हो जाते हैं। कर्म-पाश कट जाते हैं। परमेश्वर की कृपा के कारण वह कृतार्थ हो जाता है और बहुतों को कृतार्थ कर देता है। व्यवहारिक दृष्टि से वह कितना भी दुराचारी क्यों न हो, तथापि उसका ज्ञान आवरण से आच्छादित नहीं होता। निन्दा करने वाले उसके पाप ले जाते हैं और स्तुति करने वाले पुण्य ले जाते हैं। ब्रह्म लोक का मार्ग उसने देख ही लिया है। जब यहां से प्रस्थान करेगा तो सीधा सत्य लोक में पहुंचेगा। परिचय अवस्था को प्राप्त हुआ पुरुष ही तुम लोगों को हमसे मिलायेगा। उसने

मुझसे परिचय कर लिया है, इसलिये वह जिसको जब चाहे मुझसे मिला सकता है।

निष्पत्ति अवस्था

यत्रात्मना सृष्टिलयौ जीवन्मुक्तिदशागतः ।
सहजः कुरुते योगं सेयं निष्पत्तिभूमिका ।।७५।।

जिस अवस्था में महासिद्धि आत्मज्ञान का उदय होता है, उस दशा में स्वयं आत्मा द्वारा ही सृष्टि-लय साधित होते हैं। उस समय सिद्ध योगी अपने जीवत्व को छोड़ कर शिवत्व लाभ करता है और कुण्डलिनी महाशक्ति अपने आधार रूप परम शिव में विलीन होती है। तब योगी की जीवनमुक्त दशा होती है। तब वह जीवनमुक्त योगी सृष्टि, संहार के कर्त्ता परम शिव में अभेद रूप से सम्पूर्ण एकतत्त्व प्राप्त अपने आत्मा में ही सृष्टि लय बोध करता है। तब योगी कुण्डलिनी शक्ति को परम शिव में विलीन करने में समर्थ हो जाता है, जिससे वह कुण्डलिनी शक्ति का परशिव में योग सहज ही कर लेता है।

अष्टम प्रकाश

सम्प्रदाय में दीक्षा की विधि

कुलार्णवतन्त्र त्रयोदश उल्लास

शिवादिगुरुपर्यन्तं पारम्पर्यक्रमेण यः ।
अवाप्ततत्त्वसंभारः स गुरुर्नाऽपरः प्रिये ।।१।।

ज्ञान मार्ग के वेदान्त, योग, मन्त्र, तन्त्र, भक्ति आदि जितने

भी तुम्हारे सम्प्रदाय हैं, उन सब में ही दीक्षा दी जाती है। दीक्षा में गुरु शिष्य में अपनी शक्ति-संचार करते हैं, ताकि शिष्य की बुद्धि अतीन्द्रिय विषय को ग्रहण कर सके, इसलिये इसको शक्तिपात कहते हैं। शक्तिपात सहित प्राप्त दीक्षा के नाना प्रकार के भेद हैं। शक्तिमान् गुरु के सामर्थ्य और शिष्य की योग्यता से इसका परिचय होता है।

शक्तिपात् की यह विधि श्री महेश्वर से परम्परागत सदा से चली आती है। वर्तमान युग में इसका प्रकाश बहुत कम दृष्टिगोचर होता है, इसलिये तुम लोग इस विषय से अनभिज्ञ ही हो। परन्तु विद्या का बीज नष्ट नहीं होता। अध्यात्म ज्ञान की महत्ता इस शक्तिपात रूपी श्री शम्भु के प्रसाद से तत्काल ही दर्शाई जा सकती है। जैसे स्पर्श से मणि लोहे को सोना बनाती है, तैसे ही गुरु लोग भी मलीन संस्कार वाले शिष्यों को सुवर्ण सदृश शुद्ध बना देते हैं, ताकि वे अपना कल्याण कर सकें। जिनको अपने कल्याण की दीक्षा दी जाती है उनसे दूसरों का भला नहीं हो सकता है। स्पर्श मणि का तो एक मात्र यही गुण है कि वह लोहे को काञ्चन कर सकती है, परन्तु गुरुओं का यह विशेष गुण है कि वे अपने तुल्य दिव्य स्पर्श मणि बना देते हैं जो गुरु के द्वारा स्पर्श मणि बने हैं वे औरों का मङ्गल कर सकते हैं। जब तक गुरु ही शिष्य को गुरुपद पर नहीं बिठाते, तब तक कोई शिष्य गुरु नहीं हो सकता।

अतएव योग्य शिष्य का गुरु पने का अधिकार गुरु परम्परा से चला आता है। गुरु को चाहिये कि उपयुक्त शिष्य को दीक्षा द्वारा शक्ति सञ्चार करके शिवतत्त्व, जीवतत्त्व, प्रकृतितत्त्व,

आत्मतत्त्व एवं गुरुतत्त्व पर पर्यन्त अर्थात् मूलाधार शिवतत्त्व से लेकर स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध तथा आज्ञा चक्र और सहस्रार में गुरुतत्त्व पर्यन्त परम्परा क्रम से सब तत्त्व समूह का उस शिष्य को बोध कराकर अपने तुल्य दिव्य स्पर्श मणि बना दे, कि जिससे विद्या का बीज नष्ट न हो और विद्या की गुरु शिष्य परम्परा बनी रहे।

यह बोध क्रम श्री महेश्वर से गुरु परम्परा द्वारा सदा से चला आता है, इसलिये जिन शिष्यों को गुरुओं ने अपने तुल्य स्पर्श मणि बना दिया है वे ही शिष्य गुरु पद वाले पूजने योग्य गुरु हैं और नहीं; गुरु से अपने ही कल्याण की दीक्षा लेने वाले सुवर्ण बने हुए दूसरों के कल्याण का अधिकारी नहीं रखते, परन्तु गुरु की कृपा से जो स्पर्श मणि गुरु बने हुए हैं, वे ही तुम लोगों का त्राण करेंगे, अतएव जिस तिस के चरणों में शिर रखने से तुम्हारा मङ्गल नहीं हो सकता।

दीक्षा का अर्थ

विश्वसार शारदातिलक तथा रुद्रयामल तंत्र

अथ दीक्षां प्रवक्ष्मामि शृणुष्व कमलानने।
अस्यविज्ञानमात्रेण देवत्त्वं लभते नरः ॥१॥

श्री महेश्वर भगवती से दीक्षा के विषय में कहते हैं कि जिसके विज्ञान-जानने मात्र से मनुष्य देवत्त्व लाभ करता है अर्थात जिस दीक्षा से मनुष्य को दैव शक्ति प्राप्त हो जाती है।

दिव्य ज्ञानं यतो दद्यात् कुर्यात्पापक्षयं ततः।
तस्मात् दीक्षेति सा प्रोक्ता सर्व तंत्रस्य सम्मता ॥१॥

ददाति शिवतादात्म्यं क्षिणोति च मलत्रयम् ।
अतो दीक्षेति संप्रोक्ता दीक्षातंत्रार्थवेदभिः ॥१॥
दीयते परमं ज्ञानं क्षीयते पाप पद्धतिः ।
तेन दीक्षोच्यते मंत्रे स्वागमार्थबलाबलात् ॥२॥

इस 'दीक्षा' शब्द में दी+क्षा दो अक्षर हैं जिनका अर्थ होता है कि 'जो दिव्यज्ञान को देती है और जिससे सब पापों का क्षय होता है, इसलिये उसे दीक्षा कहते हैं। जो सर्व तन्त्र सम्मत सब शास्त्रानुसार हैं, जो श्री शिवजी की तद्रूपता समाधि को देती है और आणव, कर्मण, मायिक तीनों मलों का नाश करती है, इसलिये दीक्षा-तंत्र के अर्थ के ज्ञाता ऋषि मुनियों ने इसको 'दीक्षा' नाम दिया है जो परम ज्ञान को देती है और पाप शृङ्खला का नाश करती है इसलिये इसको मन्त्र शास्त्र में और आगम शास्त्र में 'दीक्षा' कहा है।

योगिनी तन्त्र ३-६

दीयते ज्ञानमत्यर्थं क्षीयते पाशबन्धनम् ।
अतो दीक्षेति देवेशि कथिता तत्त्वचिन्तकैः ॥१॥
मनसा कर्मणा वाचा यत्पापं समुपार्ज्जितम् ।
तेषां विशेषा करणी परमज्ञानदायतः ॥२॥
तस्मात् दीक्षेति लोकेऽस्मिन् गीयते शास्त्र वेदकैः ।
विज्ञानफलदा सैव द्वितीया लयकारिणी ।
तृतोयामुक्तिदा चैव तस्माद्दीक्षेतिधीयते ॥३॥

जो महान् ब्रह्मज्ञान को देतीं है और पाश तथा कर्म बंधनों का नाश करती है इसलिये तत्त्व चिन्तन करने वाले ज्ञानियों ने

इसको दीक्षा कहा है। मन वाणी और कर्म से जो पाप सञ्चय किये हैं उनको समूल नष्ट करने वाली एवं परमज्ञानप्रदायिनी होने से इसको शास्त्रवेत्ताओं ने दीक्षा कहा है। प्रथम तो प्रत्यक्ष विज्ञान फल देने वाली, दूसरे द्वैतभाव और मन का लय करने वाली एवं तीसरे मुक्ति देने वाली होने से इसको दीक्षा कहा गया है।

दीक्षा के प्रकार

कुलार्णवतन्त्र तथा वायवीय संहिता अध्याय १५

स्पर्शाख्या देवि दृक्संज्ञा मानसाख्या महेश्वरी।
क्रियायासादिरहिता देवि दीक्षा त्रिधा स्मृता ।।१।।
शांभवो चैव शाक्ती च मांत्री चैव शिवागमे।
दीक्षोपदिश्यते त्रेधा शिवेन परमात्मना ।।६।।

श्री गुरु से प्राप्त मङ्गलमयी दीक्षा तीन प्रकार की है, स्पर्श दीक्षा, दृग् दीक्षा और मानस दीक्षा। सामर्थ्यवान् गुरु के अनुग्रह से शिष्य को शिवहस्त से स्पर्श करने पर स्पर्श दीक्षा और गुरु के दिव्य दृष्टि से देखने पर दृग् दीक्षा एवं सिद्ध गुरु के सत्यसङ्कल्प के मनन से मानस दीक्षा होती है। दीक्षा से कुण्डलिनी शक्ति जागने के कारण उसके द्वारा ही सब साधन स्वतः होते है, इसलिये साधक शिष्य को अपनी ओर से कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं होती।

परमात्मा शिवजी ने शिवागम में शाम्भवी, शाक्ती और मान्त्री इन तीन दीक्षाओं का उपदेश दिया है, इन दीक्षाओं का विषय वर्तमान काल में सम्प्रदाय वालों ने अपनी अयोग्यता के कारण और ही रूप में परिणत कर दिया है, इसलिये जिनको

परम्परा से ये दीक्षायें प्राप्त नहीं हैं वे न दे सकते हैं और न कह सकते हैं। ये कल्याणकारी दीक्षायें शास्त्र में नाना प्रकार की हैं।

नाम क्रिया भेद से दीक्षा के भेद

विश्वसार शारदा तिलक तथा प्राणतोषणी तन्त्र

चतुर्विधातु सा दीक्षा ब्रह्मणा भाषिता पुरा।
क्रियावती कलावती वर्ण वेधमयी पुनः॥
ताः क्रमेण च कथ्यन्ते सर्व सम्पत्प्रदाः शुभाः॥१॥

उसी दीक्षा को ब्रह्मा ने पहिले क्रियावती, कलावती, वर्णमयी और वेधमयी ऐसे चार प्रकार की कहा है। सब सम्पत्तियों को देने वाली शुभ रूप वे दीक्षायें अब क्रम से कही जाती हैं, जो नाना प्रकार की हैं।

स्मार्त्ती मानसिकी योगी चाक्षुषी स्पार्शिकी तथा।
वाचिकी मांत्रिकी होत्री शास्त्री चेत्यभिषेचिका॥१॥
चतुर्विधा सा सन्दिष्टा क्रियावत्यादि भेदतः।
क्रियावती वर्णमयी कलात्मावेधमय्यपि॥२॥
आणवी बहुधा दीक्षा शांभवी च तथा पुनः।
एकैका वापि विद्वद्भिः पठ्यते शास्त्रकोविदैः॥३॥

स्मार्ती दीक्षा, मानसिकी दीक्षा तथा योग दीक्षा और चाक्षुषी दीक्षा, स्पार्शिकी दीक्षा, वाचिकी दीक्षा एवं मांत्री दीक्षा तथा होत्री शास्त्री और अभिषेचिका आदि हैं। वैसे तो पहिले, ब्रह्मा ने क्रियावती आदि भेद से दीक्षायें चार प्रकार की कही हैं, परन्तु वे क्रियावती, वर्णमयी, कलात्मा, वेधमयी तथा

आणवी और शाम्भवी आदि दीक्षायें कई प्रकार की हैं इसलिये शास्त्र को जानने वाले विद्वान् पुरुष एक-एक करके नाना प्रकार से कहते हैं।

श्री महेश्वर के कथानुसार दीक्षा स्पर्श द्वारा, दृष्टि द्वारा, और मन द्वारा तीन प्रकार से होती हैं, इसलिये तीन ही प्रकार की है। ऐसे ही श्री ब्रह्मा जी के कथनानुसार ये दीक्षायें मन द्वारा वाणी द्वारा, दृष्टि द्वारा और स्पर्श द्वारा चार प्रकार से होती हैं, इसलिये मानसिकी, वाचिकी, चाक्षुषी, स्पार्शिकी चार प्रकार की कहलाती हैं, परन्तु नाना प्रकार के नाम इसलिये दिये जाते हैं कि स्थान, समय और अधिकारी भेद से उपास्य देवता, उपासक की रुचि और उपासना की विभिन्नता के कारण सब की क्रियायें एक सी नहीं होने से और कर्म विधि की पृथक्ता से नाम में भिन्नता हो जाती है।

तुम लोग समझते होगे कि ज्ञान देने की चीज नहीं है, कहने ही से होता है जैसा कि वर्तमान समय में वाचिक वेदान्तिक लोग कहते हैं, परन्तु तुम्हें समझना चाहिये कि जहां कहने से न हो सके वहां देने से तो अवश्य होता है। इसी तरह यह दीक्षा का विषय ज्ञान भी कहने से नहीं होता, वरन् देने से ही होता है इसलिये जिन्हें यह प्राप्त नहीं है वह तुम्हें क्या दे सकेंगे? अतएव तुम निश्चयपूर्वक जान लो कि दीक्षा एवं ज्ञान कहने का विषय नहीं है, देने की चीज है, इसलिये कहने से नहीं होगा, देने से ही होगा। जिसने इसको दिया है और लिया है वही जानते हैं, इसलिये यह कहने सुनने की बात नहीं है लेने और देने का है।

ये दीक्षायें देश, काल और पात्रानुसार दी जाती हैं, इसलिये वेदान्त मार्ग शाम्भवी दीक्षा, योग मार्ग में योग तथा शाक्ती दीक्षा, तन्त्र मार्ग में वेध दीक्षा, मन्त्र मार्ग में मान्त्री एवं आणवी दीक्षा और भक्ति मार्ग में वैष्णवी दीक्षा होती है, इसी तरह तुम्हारे वेदान्त, योग, मन्त्र, तन्त्र, भक्ति इत्यादि जितने भी सम्प्रदाय हैं उन सब में दीक्षा की विधि परम्परा से चली आती है। इसलिये तुम लोग संसार बन्धन से मुक्त होने के लिये सब ही अपने-अपने गुरुओं से दीक्षा लेते हो, परन्तु काल प्रभाव से अथवा यों कहो कि अपने दुर्भाग्य से जैसा कि श्री महेश्वर और ब्रह्मा जी ने कहा है वैसा दीक्षा का फल-ज्ञान और परम शान्ति वर्तमान में तुम में से कोई विरला ही भाग्यवान् अनुभव करता होगा।

वेदान्त मार्ग में शाम्भवी दीक्षा

वायवीय सहिता अध्याय २५

दर्शनात् स्पर्शनात् शब्दात् कृपया शिष्यदेहके ।
जनयेद्यः समावेशं शांभवं सहि देशिकः ॥१॥

सामर्थ्य वाले गुरु लोग कृपा करके देखने से, स्पर्श से या वाक्य से ही शिष्य में अपने ज्ञान का समावेश कर देते हैं, ऐसे शाम्भव शम्भु पद प्राप्त कराने वाले शिवभावापन्न गुरु की कृपा होने से शिष्य को कुछ भी करना धरना नहीं पड़ता।

गुरोरालोकमात्रेण भाषणात्स्पर्शनादपि ।
सद्यः सञ्जायने ज्ञानं सा दीक्षा शांभवीमता ॥७॥
देशिकानुग्रहेणैव शिवता व्यक्तकारिणी ॥

सेयन्तु शांभवी दीक्षा शिवादेशस्य कारिणी ।।
चरणद्वयसंभूता शांभवी शीघ्रसिद्धिदा ।।८।।

परम कृपालु गुरुदेव की दृष्टि मात्र से या उनके वाक्य से अथवा सिद्ध गुरु के स्पर्श से ही दीक्षा द्वारा गुरु की शक्ति शिष्य में संक्रमण होती है तब तत्काल ही शिष्य को दिव्यज्ञान उत्पन्न हो जाता है। गुरु की महती कृपा और शिष्य के सौभाग्य से इस महान् आत्म-साक्षात्कार की जो अवस्था जिससे आती है उसको तत्त्व वेत्ताओं ने शम्भु पद प्राप्त कराने वाली शाम्भवी दीक्षा माना है। श्री गुरु के अनुग्रह की महानता सब ही शास्त्र कहते हैं, जिनकी कृपा से शिव रूपता समाधि का स्वरूप व्यक्त हो जाता है, जो प्रसन्न होकर अपने शिष्यों पर अनुग्रह करते हैं तो दीक्षा द्वारा अपने शिष्यों को कृतार्थ कर देते हैं, जिससे कृतार्थता आती है वह मङ्गलमयी शाम्भवी दीक्षा है जो शिवजी का आदेश करती है। शिव-शक्ति के सहयोग चरण द्वय से सम्यक् प्रकार से दी हुई शाम्भवी दीक्षा शीघ्र सिद्धि देती है।

योग मार्ग में योग-दीक्षा तथा शाक्ती-दीक्षा

प्राणतोषणी तन्त्र द्वितीय काण्ड ५

योगोक्तक्रमतो योगी शिष्यदेहं प्रविश्यतु ।
गृहीत्वा तस्य चात्मानं योजनात्मिका ।।
योग दीक्षेति सा प्रोक्ता मलत्रय-विनाशिनी ।।१।।

अब योग साधन के लिये योग दीक्षा कही जाती है, उसका कार्य शक्तिमान् योगी गुरु के सामर्थ्य पर निर्भर करता है। "निर्माण चित्तान्यस्मिता मात्रात्" इस सूत्र की सूचना है कि

योगी लोग अपने एक रूप से एक होते हुए भी आवश्यकतानुसार अपने सङ्कल्प से दूसरों में भिन्नाभिन्न चित्त निर्माण कर देते हैं और उन निर्माण चित्तों से भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में विभिन्न प्रकार की क्रियायें उत्पन्न कर देते हैं, इसलिये योग का प्रभाव और सामर्थ्य श्री महेश्वर के अनुग्रह से प्रकाश्य और प्रसिद्ध हैं। 'आदि विद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद्भगवान्परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच'। पातञ्जलदर्शन व्यासभाष्य में पञ्चशिखाचार्य के सांख्य तंत्रोक्त प्रथम सूत्र से ज्ञात होता है कि आदि विद्वान् परमऋषि भगवान कपिल मुनि ने अपने जिज्ञासु शिष्य आसुरि मुनि को सांख्य तंत्र के ज्ञान का उपदेश निर्माण चित्त द्वारा प्रदान किया था।

प्रकृति के प्रभु योगियों के लिये विश्व में कोई कार्य असाध्य या असम्भव नहीं है। वे अपने योग बल से जिसको जैसा चाहें वैसा बना सकते हैं, यही तो योग में विशेषत्व है। योगशास्त्र के अतिरिक्त अन्यान्य शास्त्र के साधन के ज्ञान का विषय अनुमान और आगम पर ही निर्भर करता है, जिसका फल कालान्तर में या जन्मान्तर में मिलेगा। परन्तु योगशास्त्र कथित साधन के ज्ञान का फल तत्काल या क्रम से इसी जन्म में एवं स्वल्प समय में मिलता है। इसीलिये योगशास्त्र और योग साधन को प्रत्यक्ष दर्शन कहा है।

श्री महेश्वर कथित योग के उक्त क्रमानुसार योगी शिष्य के शरीर में प्रवेश कर, उसकी आत्मा को ग्रहण करके, अपनी आत्मा में योजना करें अर्थात् शिष्य को अपना सामर्थ्य देके निर्विकल्प में जोड़ देवें। इसमें गुरु के आत्म-सामर्थ्य से शिष्य

को ज्ञान एवं समाधि की सिद्धि होती है और अणिमादि महा ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। ऐसी तीनों मलों का नाश करने वाली योग-दीक्षा कहलाती है।

वायवीय संहिता, अ० १५ रुद्रयामल तंत्र

शाक्ती ज्ञानवती दीक्षा शिष्यदेहे प्रविश्यतु ।
गुरुणा योग-मार्गेण क्रियते ज्ञानचक्षुषा ।।१०।।
सिद्ध्यैच शक्तिमालोक्य त्वया केवलया शिशोः ।
निरूपायं कृता दीक्षा शाक्तेयी परिकीर्त्तिता ।।१।।
अभिसन्धिं विनाचार्यशिष्ययोरुभयोरपि-
देशिकानुग्रहेणैव शिवता व्यक्तकारिणी ।।२।।

गुरु योगमार्ग से शिष्य के शरीर में प्रवेश करके ज्ञानचक्षु दिव्यदृष्टि से जो दीक्षा करते हैं वह ज्ञानवती शाक्ति दीक्षा है। शाक्ती दीक्षा में गुरु को चाहिए कि शिष्य का सामर्थ्य देख लेवें कि वह इस शक्ति योग्य है कि नहीं, तब दीक्षा देवें। क्योंकि और जितनी भी दीक्षायें हैं उन सब में शिष्य को गुरु के पास आना पड़ता है अथवा गुरु को ही शिष्य के पास जाना आवश्यक होता है, परन्तु इस शाक्ती दीक्षा में यह बात नहीं है। शाक्ती दीक्षा गुरु की योगशक्ति से होती है, इसलिये और किसी उपाय की आवश्यकता नहीं होती। शाक्ती-दीक्षा का यह विशेषत्व है कि जहां गुरु और शिष्य का मिलना नहीं हो सकता ऐसी निरुपाय अवस्था में भी यह दीक्षा गुरु की शक्ति से होती है इसलिये इसको शाक्ती दीक्षा कहा है।

गुरु और शिष्य किसी कारण से मिल न सकें। शिष्य दूर देश में हो और गुरु भी जह-तहां विचरते हों। परन्तु शिष्य को दीक्षा लेने की इच्छा है और गुरु को भी दीक्षा देने की इच्छा है। मिलने का सयोग नहीं है। ऐसी दशा में गुरु और शिष्य के परस्पर मिले बिना भी गुरु के अनुग्रह से शिव भाव को व्यक्त करने वाली ज्ञानवती शाक्ती दीक्षा हो जायेगी। श्रीमहेश्वर के अनुग्रह से योग में ऐसा होना स्वाभाविक है, इसलिये इसमें सन्देह होने का कोई कारण नहीं है। जहां इस विषय की घटनायें प्रत्यक्ष देखी जाती हैं वहां अनुमान की भी आवश्यकता नहीं होती। देश, काल और पात्र के शुभ संयोग से योगसाधन में सब कुछ हो जाता है।

शाक्ती शक्तिभवा दीक्षा शक्तिः श्रीपरकुण्डली।
तस्याः प्राण विलोमेन प्रवेशः परशम्भवे ॥३॥

श्री महेश्वर कहते हैं कि गुरु की योगशक्ति से होने वाली यह शाक्ती दीक्षा है और शक्ति पराकुण्डलिनी देवी है। गुरुदेव अनुग्रह करके दीक्षा देते हैं तो कुण्डिलिनी शक्ति के जागने से सब शक्तियों का भण्डार खुल जाता। शिष्य को अपनी ओर से कुछ भी नहीं करना पड़ता। स्वयं कुण्डलिनी देवी सब क्रियायें कराती है जिससे शिष्य का प्राण पश्चिम मार्ग सुषुम्ना में प्रव हित होने लगता है और कुण्डलिनी शक्ति प्राण के साथ ब्रह्म नाडी में प्रवेश करके सहस्रार में परमशिव में संलग्न होती है। तब प्राण ब्रह्म-रन्ध्र में लय हो जाता है। सुषुम्ना मार्ग से कुण्डलिनी शक्ति का परशिव में प्रवेश करना ही शाक्ती दीक्षा है। इसलिये शक्ति के शम्भु में मिल जाने से शिष्य के लिये और

कोई उपाय करना शेष नहीं रहता। तभी गुरु का गुरु होना और शिष्य का शिष्य होना सार्थक होता है। शिष्य चाहे गुरु के समीप हो या दूर हो परन्तु शिष्य को गुरु की शक्ति का आदेश ज्ञान सर्वदाकाल अथवा आवश्यकतानुसार मिलता रहे, शिष्य गुरु के ज्ञान का बोध करे, ऐसी गुरु के सामर्थ्य से होने वाली यह ज्ञानवती शाक्ती दीक्षा है।

मन्त्रमार्ग में मान्त्री तथा आणवी दीक्षा

प्रयोग सार तथा रुद्रयामल तंत्र

मंत्र मार्गानुसारेण साक्षात् कृतेष्टदेवताम्।
गुरुश्चोद्बोध्येच्छिष्यं मंत्रदीक्षेति सोच्यते ॥१॥
स्वयं मंत्रतनुभूत्वा संक्रमं मंत्रमादरात्।
दद्यात् शिष्याय सा दीक्षा मांत्रीमलविघातिनी ॥१॥
मांत्री मंत्रोद्भवादीक्षा तच्छक्तिः स्वात्मसम्भवा।
मंत्र यंत्रार्चनादुक्तक्रियाभिर्भोगमोक्षदा ॥२॥

गुरु मन्त्रमार्गानुसार अपने इष्ट देवता का साक्षात्कार करके उसका शिष्य को बोध करावें, यह मन्त्र दीक्षा कहलाती है। गुरु को चाहिये कि स्वयं मन्त्र मूर्ति होकर आदर से प्रेमपूर्वक शिष्य में मन्त्र शक्ति का ऐसा संक्रमण करें कि जिससे शिष्य का मन्त्र चैतन्य हो जाये और मन्त्र प्रतिपाद्य शक्ति कुण्डलिनी देवी जाग जाये एवं शिष्य को अपने उपास्य देवता को सिद्धि हो जाये। शिष्य को ऐसी जो दीक्षा दी जाती है, वह विशेष कर मल का नाश करने वाली मान्त्री दीक्षा है। यह मान्त्री दीक्षा मन्त्र से ही होती है और इसकी शक्ति गुरु के आत्मबल से

प्रकाश पाती है। तब शिष्य को गात्र कम्प होने लगता है, इष्ट देवता के आवेश से शिष्य आप्लुत हो जाता है। उसके मन प्राण और शरीर में विकृति आ जाती है और भाव समाधि हो जाती है। यह मांत्री दीक्षा, मंत्र, यंत्र, गुरु-पूजन अर्चनादि क्रियाओं से की जाती है जिसका फल प्रवृत्ति परायण रहने से भोग और निवृत्ति-परायण रहने से मोक्ष होता है। इस प्रकार मान्त्री दीक्षा भोग और मोक्ष दोनों देती है।

आणवी दीक्षा

मंत्रार्चनासनन्यासध्यानोपचारकादिभिः ।
दीक्षा सा आणवी प्रोक्ता यथाशास्त्रोक्तरूपिणी ॥३॥
शिवशक्तिसमायोगाज्जन्मान्तरकृतात् शुभात् ।
शिवपूजानुसन्धानात् कर्मसाम्यं यदा भवेत् ॥४॥
शिव एव तदा साक्षादाणव्यादीक्षया भवेत् ।
सर्वेषामेव दीक्षाणां मुक्तिः फलमखण्डितम् ॥५॥

जैसा कि मन्त्र शास्त्र में कहा है, मन्त्र, अर्चन, आसन, न्यास, ध्यान, उपचार आदि की यथा शास्त्र-विधि से जो दीक्षा दी जाती है वह आणवी दीक्षा कहलाती है। शिव शक्ति के समायोग से, पूर्व-जन्म के प्रबल पुण्य-प्रताप से अथवा शिव पूजनादि के अनुसन्धान से, जब साधक के कर्म साम्यता को प्राप्त होते हैं तो आणवी दीक्षा से साधक शिवरूप हो जाता है। अतएव निष्काम परमार्थ बुद्धि रख कर, शास्त्र-विधि-अनुसार उपयुक्त सामर्थ्य वाले गुरुओं से उनकी प्रसन्नता करके, जो दीक्षायें ग्रहण की जाती हैं उन सब दीक्षाओं का फल अन्त में अखण्ड मुक्ति होता है।

तन्त्र मार्ग में वेध दीक्षा

शारदा तिलक तंत्र, पञ्चम पटल

ततो वेधमयीं वक्ष्ये दीक्षां संसारमोचिनीम् ।
ध्यायेच्छिष्यतनोर्मध्ये मूलाधारे चतुर्दले ॥१२७॥
त्रिकोणमध्ये विमले तेजस्त्रयविजृम्भिते ।
वलयत्रयसंयुक्तां तड़ित्कोटिसमप्रभाम् ॥१२८॥
शिवशक्तिमयीं देवीं चेतनामात्रविग्रहाम् ।
सूक्ष्मां सूक्ष्मातरां शक्ति भित्त्वाषट् चक्रमञ्जसा ॥१२९॥
गच्छन्ति मध्यमार्गेण दिव्यां परशिवावधि ।
सहैवमात्मनः शक्ति वेधयेत्परमेश्वरे ॥१३०॥

संसार-बन्धन का नाश करने वाली वेधमयी दीक्षा कही जाती है। गुरु को चाहिये कि शिष्य के शरीर में चतुर्दल मूलाधार कमल में तीन प्रकार के रङ्ग युक्त, विमल, तेजत्रय से देदीप्यमान्, त्रिकोण योनिस्थान के मध्य में निवास करने वाली, त्रिवलयाकार, कोटि २ विद्युत-पुञ्ज के सदृश महाप्रकाशयुक्त, शिवशक्तिमयी कुण्डलिनी देवी का ध्यान करें जिसका दिव्य शरीर चेतनामात्र ही है और जो सूक्ष्म से सूक्ष्मतर शक्ति है। उस दिव्य शक्ति को मध्यमार्ग सुषुम्ना में प्रवेश कराकर, षट्चक्र का वेध करके, परशिव में विलीन करें। इसी तरह गुरु अपनी आत्मशक्ति का सञ्चार करके शिष्य को परमेश्वर के स्वरूप का बोध कराके उसमे स्थित करे।

कुलार्णव तंत्र, चतुर्दश उल्लास:

गुरुपदिष्ट मार्गेण वेधं कुर्याद्विचक्षणः।
पाप मुक्तः क्षणाच्छिष्यश्छिन्नपाशस्तथा भवेत ॥१॥
बाह्यव्यापारनिर्मुक्तो भूमौ पतति तत्क्षणात्।
सञ्जादिव्यभावोऽऽसौ सर्व जानाति शाम्भवी।
यदस्ति वेधकं तत्तत्स्वयमेवानुभूयते ॥२॥

श्री महेश्वर से परम्परा गुरु के उपदेश किये हुये मार्गानुसार जब ज्ञानी पुरुष वेध दीक्षा देते हैं तो गुरु के शक्तिपात के कारण शिष्य पाप रहित होकर पाश मुक्त हो जाता है और बाह्य व्यापार को भूल कर तत्क्षण ही भूमि में गिर जाता है। दिव्य भाव को प्राप्त हुआ वह सब जान जाता है एव दीक्षा में गुरु का जो भाव होता है शिष्य उसे स्वयं अनुभव करता है।

प्रबुद्धः सहसा शिष्यस्तत्सौख्यं बहुधेश्वरि।
वेधविद्धः शिवः साक्षान्न पुनर्जन्मतां व्रजेत् ॥३॥
एषा तीव्रतरा दीक्षा भवबन्धविमोचिनी।
शिवभावप्रदा देवि त्वां शपे कुलनायिके ॥४॥

अतएव तत्काल ही शिष्य को बोध हो जाता है जिससे महा-सुख अनुभव करता है। ऐसी सुख कर वेध दीक्षा को प्राप्त करने वाला साक्षात् शिव रूप हो जाता है। उसका पुनर्जन्म नहीं होता। श्री महेश्वर शपथ करके कहते हैं कि ऐसी तीव्रतर वेध दीक्षा भव-बन्धन का नाश करके शिव-भाव (कल्याण) को प्राप्त कराती है।

आनन्दश्चैव कम्पञ्चोद्भवो घूर्णा कुलेश्वरि ।
निद्रा मूर्च्छा च वेधस्य षडवस्थाः प्रकीर्तिताः ॥५॥
दृश्यन्ते षडगुणा ह्येते वेधनेन कुलेश्वरि ।
वेधितो यत्र कुत्रापि तिष्ठेन्मुक्तो न संशयः ॥६॥
वेधदीक्षाकरो लोके सद्गुरुर्दुर्लभः प्रिये ।
शिष्योऽपि दुर्लभस्तादृक् पुण्ययोगेन लभ्यते ॥
न दद्यादस्य कस्यापि इत्याज्ञा परमेश्वरि ॥७॥

गुरुदेव के अनुग्रह से वेध दीक्षा होती है तो आनन्द, कम्प, उद्भव, घूर्णा, निद्रा और मूर्च्छा–ये छः अवस्थाएं शिष्य में प्रकाश पाती हैं। ये छः अवस्थायें होने लगें तो समझ लेना कि वेध दीक्षा हो गई। वेध दीक्षा लाभ होने पर शिष्य, चाहे जहां कहीं भी रहे, निःसन्देह मुक्त हो जाता है। ऐसी परम कल्याण-कर वेध दीक्षा देने वाला सद्गुरु इस लोक में दुर्लभ है और ऐसा शिष्य भी दुर्लभ है जो पुण्य के योग से ही मिलता है। इसलिये श्री महेश्वर की यही आज्ञा है कि जिस-तिस को यह वेध दीक्षा नहीं देनी चाहिये।

शक्तिपातानुसारेण शिष्योऽनुग्रहमर्हति ।
यत्र शक्तिर्न पतति तत्र सिद्धिर्न जायते ॥८॥

शक्तिपात के अनुसार ही शिष्य अनुग्रहीत होता है। जहां शक्ति का पात नहीं होता वहां सिद्धि नहीं हो सकती। अतएव सामर्थ्यहीन गुरु द्वारा शिष्य का मङ्गल नहीं हो सकता। शांभवी दीक्षा, योग दीक्षा और वेध दीक्षा में शक्तिपात किया जाता है,

फलस्वरूप आत्मज्ञान का अभ्युदय होता है और शिष्य लक्ष्यार्थ बोध करने में समर्थ हो जाता है। योग, वेदान्त और तन्त्र-कथित दीक्षा के विषय इस शक्ति-पात का कार्य अतीव आश्चर्य जनक, प्रभावशाली एव प्रत्यक्ष फल-प्रद है।

वशिष्ठ मुनि का गुरुत्व और शक्तिपात का लक्षण

योग वाशिष्ठ

हे वशिष्ठ महाभाग ब्रह्मपुत्र महानसि।
गुरुत्वं शक्ति-पातेन तत्क्षणादेव दर्शितम् ॥१॥

श्री शम्भु के इस प्रसाद का परिचय महाज्ञानी वशिष्ठ मुनि ने भगवान् श्री रामचन्द्र को कराया था। श्री रामचन्द्र को जब संसार से वैराग्य हो गया तब उन्होंने खाना, पीना, ओढ़ना, पहनना इत्यादि राजवैभव का सुख त्याग दिया और शरीर से जीर्ण शीर्ण हो गये। तब ऋषि-मुनि एकत्र होकर उन्हें राजसभा में लिवा ले गये और उनको उपदेश देने लगे। उस समय विश्वामित्र ऋषि ने ब्रह्मर्षि वशिष्ठ मुनि से कहा कि हे महाभाग वशिष्ठ ! तुम ब्रह्मा के बड़े पुत्र हो, गुरु हो ! तुमने श्री रामचन्द्र के प्रति शक्तिपात करके तत्क्षण ही अपने गुरुपने का परिचय दिया है। इसी के फल स्वरूप पीछे बृहत् योग-वशिष्ठ-ज्ञान का ग्रन्थ बना।

अधर्मधर्मयोः साम्ये जाते शक्तिः पतत्यसौ।
ज्ञानात्मिका पराशक्तिः शंभोर्यास्मिन्निपातिता ॥२०॥

जब गुरु के अनुग्रह से अथवा तुम्हारे प्रबल पुण्य-प्रताप से धर्माधर्म रूप संस्कार साम्यता को प्राप्त होते हैं तब श्री शम्भु से

आई हुई ज्ञानात्मिका पराशक्ति का गुरु द्वारा शक्तिपात होता है। तब तुम्हें यह लक्षण होंगे:—

देहपातस्तथा कम्पः परमानन्दहर्षणे।
स्वेदो रोमाञ्च इत्येतच्छक्तिपातस्य लक्षणम् ॥२१॥
शिष्यस्य देहे विप्रेन्द्राः धरण्यां पतितेसति।
प्रसादः शाङ्करस्तस्य द्विजाः सञ्जात एव हि ॥२२॥
यस्य प्रसादः सञ्जातो देहपातावसानकः।
कृतार्थं एव विप्रेन्द्रा न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥

शक्तिपात होते ही शरीर भूमिष्ठ हो जाता है, कम्प होने लगता है, मन अतीव प्रसन्नता लाभ करता है एवं परम आनन्दित होता है जिससे रोमाञ्च हो जाते हैं, प्रस्वेद आ जाता है। इस प्रकार शक्ति के पात से देहादि पात के लक्षण प्रकाश पायें तो तुम्हें समझना चाहिये कि मङ्गलमय महेश्वर की परम कृपा हुई। जब गुरु के शक्ति सञ्चार से देहपात आदि शुभ लक्षण तुम में होने लगें तो समझना कि तुम कृतार्थ हो गये। तुम्हारा पुनर्जन्म नही हो सकता।

तस्य प्रसादयुक्तस्य विद्यावेदान्तवाक्यजा।
दहत्यविद्यामखिलां तमः सूर्योदये यथा ॥२४॥
शक्तिपातविहीनोऽपि सत्यवाग्गुरुभक्तिमान्।
आचार्याच्छ्रुतवेदान्तः क्रमान्मुच्येत बन्धनात् ॥२५॥
शक्तिपातेन संयुक्ता विद्या वेदान्तवाक्यजा।
यदा यस्य तदा तस्य विमुक्तिर्नात्र संशयः ॥२६॥

इसी तरह श्री शङ्कर के प्रसाद को प्राप्त करके वेदान्त कथित विद्या जनित ब्रह्मज्ञान से शिष्य की समस्त अविद्या दूर हो जाती है जैसे सूर्य उदय होने से अन्धकार चला जाता है। जो सत्यवादी गुरु भक्ति वाला शिष्य शम्भु के प्रसाद रूपी गुरु-कृपा-शक्तिपात-से वञ्चित है वह गुरु से वेदान्त वाक्य सुनकर, क्रम से संसार बन्धन से मुक्त होता है। परन्तु शक्तिपात से युक्त शिष्य को वेदान्त शास्त्र प्रतिपादित यह विद्या जिस समय प्राप्त होती है, निस्सन्देह वह उसी समय मुक्त हो जाता है। अतएव वेदान्त कथित साधन से इसी जन्म में जीवन-मुक्ति लाभ करने के लिये श्री महेश्वर का प्रसाद गुरु-कृपा-होना अति आवश्यक है।

अधिकारी भेद से शक्तिपात के फल में तारतम्य

कुलार्णव तंत्र चतुर्दश उल्लास

आदिमध्यावसानेषु योग्ये शक्तिर्निपातिता।
अधमा मध्यमाः श्रेष्ठाः शिष्या देवि प्रकीर्त्तिताः ॥१॥
आदौ भक्तिर्भवेद्देवि दीक्षार्थं समुदन्ति ये।
पुनर्विह्वलहृष्टास्ते आदि योग्या इतीरिता ॥२॥
यथा विहङ्गमः शीघ्रं फल एव निषीदति।
तथा ज्ञानोपदेशश्च कथितः कुल नायिके ॥३॥

श्रीशम्भु से परम्परागत शक्ति का सामर्थ्य एक समान होते हुए भी, शिष्य के उत्तम, मध्यम तथा अधम अधिकारी होने से, दीक्षा के समय शक्तिपात के विकास के लक्षण भी तीन प्रकार के हो जाते हैं जिनका फल तत्काल, क्रम से या विलम्ब

से मिलता है। जिनमें पहिले से ही भक्ति होती है, जो दीक्षा ग्रहणार्थ प्रसन्नता से उत्सुक होते हैं एव दीक्षा के पश्चात् हर्ष से विह्वल हो जाते हैं, वे उत्तम शिष्य आदि योग्य अधिकारी कहलाते हैं। उनको दीक्षा-जनित ज्ञान का फल तत्काल ही मिलता है जैसे पक्षी सीधा फल पर ही बैठ जाता है।

दीक्षासमयसम्प्राप्ता ज्ञानाज्ञानविवर्जिताः।
भक्त्या प्रध्वस्त सुधियो मध्य योग्याश्चेते स्मृताः ॥४॥
यथा कपिश्च शाखायाः शाखामुलङ्घ्य यत्नतः।
फलं प्राप्नोति धर्मस्य चोपदेशस्तथा प्रिये ॥५॥

जो दीक्षा के समय ज्ञानाज्ञान से रहित हैं, जिनको दीक्षा और योग सम्बन्धी जानकारी ही नहीं है, परन्तु दीक्षा प्राप्त होते ही जिनको भक्ति का उदय होता है, बुद्धि निर्मल होती है--ऐमे शिष्य मध्य योग्य अथवा मध्यम अधिकारी कहलाते हैं। उनको उपदेश का फल क्रम से मिलता है, जैसे कपि वृक्ष की एक शाखा से दूसरी शाखा उल्लङ्घन करके फल को ग्रहण करता है।

आदौ भक्तिविहीना ये मध्य भक्तास्तु ये नराः।
अन्ते भक्ताः प्रबुद्धा स्युर्ह्यन्तयोग्या भवन्ति ते ॥६॥
यथा पिपीलिका मन्दं मन्दं वृक्षाग्रमं फलम्।
चिरेणाप्नोति धर्मोपदेशश्चापि तथा स्मृतः ॥७॥

जिसमें पहिले भक्ति होती ही नहीं, दीक्षा के बाद भक्ति उत्पन्न होती है। ऐसे अन्त में ज्ञान-भक्ति-युक्त होने वाले अन्त योग्य अधिकारी अधम (कनिष्ट) कहलाते हैं और वे गुरु प्रदत्त

कृपा का फल चिरकाल में पाते हैं, जैसे चींटी मन्द २ चल कर वृक्ष के ऊपर फल पर पहुंचती है। इस प्रकार अधिकारी के भेद से गुरु कृपा के फल में समयान्तर हो जाता है।

भक्ति मार्ग में भी शक्तिपात है

जैसे वेदान्त सम्प्रदाय और योग में दीक्षित होने से, गुरु-कृपा के कारण आत्मशक्ति जागने के कारण मन, प्राण और शरीर में नाना प्रकार की क्रियायें उत्पन्न होकर शिष्य आत्म-ज्ञान के लिये आवश्यक साधन करने लग जाते हैं वैसे ही भक्तिमार्ग में भी श्री शम्भु के प्रसाद गुरु कृपा से या पूर्व के संस्कार से अथवा अपने पुरुषार्थ से आत्मशक्ति कुण्डलिनी देवी जाग जाती है।

भक्ति रसामृत सिन्धु

अनुभावास्तु चित्तस्थभावानामवबोधकाः।
ते बहिर्विक्रियाप्राया प्रोक्ता उद्भास्वराख्यया ॥१॥
नृत्यं विलुंठितं गीतं क्रोशनं तनुमोटनम्।
हुङ्कारो जृम्भणं श्वास भूमा लोकानपेक्षिता ॥२॥
लालास्रावोऽट्टहासश्च घूर्णा हिक्कादयोऽपिच।
ते शीताः क्षेपणाश्चेति यथार्थाख्या द्विधोदिताः ॥३॥

तब भक्ति साधन में भी शक्तिपात से चित्तस्थ भाव के व्यञ्जक सब बाह्य लक्षण प्रकाश पाते हैं। नाचना, गीत गाने लग जाना, भूमि लुण्ठन (भूमि में लोट पोट हो जाना), उच्च स्वर से श्री भगवान का नाम लेकर चिल्लाना, शरीर का तोड़ना मरोड़ना, हुङ्कार करना, जृम्भण (जंभाई आना), दीर्घ २ श्वास

लेना और छोड़ना, लोक की निन्दा स्तुति के प्रति उपेक्षा, लालास्राव (मुख से लार गिरना), अट्टहास (खिलखिला कर हंसना), घर्णाहिक्का (हिचकी आना) शीत बोध और हस्त पादादि का क्षेपण (पटकना) इत्यादि लक्षण प्रकाश पाते हैं।

चित्तं सत्वीभवत् प्राणे न्यस्यत्यात्मानमुद्भटम्।
प्राणस्तु विक्रियां गच्छन्देहं विक्षोभयत्यलम् ॥४॥
तदास्तंभादयो भावा भक्तदेहे भवन्त्यमी।
ते स्तम्भस्वेदरोमाञ्चाः स्वरभेदोऽथवेपथुः।
वैवर्णमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्विकाः स्मृताः ॥५॥

जब चित्त स्वस्थ होकर प्राण में लीन होता है अर्थात् प्राणायाम हो जाता है एव प्राण में नाना प्रकार की साभ्यान्तरिक क्रियायें होने लगती हैं, तब प्राण की क्रिया शक्ति के कारण शरीर विशेष रूप से क्षोभित होता है। तब भक्त साधक के शरीर में स्तम्भनादि भाव-समूह प्रकाश पाते हैं। स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वर भेद, कम्प, शरीर की वर्ण विकृति, अश्रु और निद्रा—ये आठ सात्विक भाव होने लगते हैं।

चत्वारि क्ष्मादि भूतानि प्राणो जात्ववलम्बते।
कदाचित् स्वप्रधानः सन्देहे चरति सर्वतः ॥६॥

स्तम्भन्भूमिस्थितः प्राणस्तनोत्यश्रुं जलाश्रयः।
तेजस्थः स्वेदवैवर्ण्यं प्रलयं वियदाश्रितः ॥७॥

स्वस्थ एव क्रमान्मन्दमध्यतीव्रत्व भेद भाक्।
रोमाञ्चकम्पवैस्वर्यान्यत्र त्रीणितनोत्यसौ ॥८॥

प्राण कभी देह के मध्य में पृथ्वी, जल, तेज और आकाश इस भूत चतुष्टय में किसी एक का अवलम्बन करके शरीर में सर्वत्र विचरता है। भूमि तत्त्व का अवलम्बन करने से प्राण स्तम्भ भाव को प्राप्त होता है, जल तत्त्व का आश्रय करने से अश्रुपात एवं तेज तत्त्व में स्थित होने से स्वेद और वर्ण-विकृति होती है। आकाश तत्त्व में स्थित होने से प्रलय, भाव समाधि, मूर्च्छा, तन्द्रा अथवा निद्रा होती है। जब प्राण स्वस्थ होता है तब मन्द, मध्यम और तीव्र भेद से यथा-क्रम रोमाञ्च, कम्प एवं स्वर विक्रिया—ये तीन भाव प्रकाश पाते हैं।

श्री गुरु के शक्तिपात से मन, प्राण और शरीर में अध्यात्म-प्रसाद के आनन्द का आविर्भाव हो जाता है। साधक शिष्य चाहे वेदान्ती हो, चाहे योगी हो अथवा साकार उपासना करने वाला भगवान का भक्त हो, चाहे कुछ भी न जानता हो, तथापि आत्मशक्ति, प्राणकला उद्‌बोधन के लक्षण सभी प्रकाश पा जाते हैं। इस प्रकार श्री महेश्वर कथित महायोग का साधन ज्ञात या अज्ञात रूप से ज्ञानी, ध्यानी, योगी, यति, भक्त इत्यादि सब को ही करना पड़ता है। अतएव तुम लोग निश्चयपूर्वक समझलो कि योग, भक्ति और ज्ञान पृथक् नहीं हैं।

ज्ञान के बीज का गर्भ

श्री शम्भु का प्रसाद सब के लिये एक सा है। शक्तिपात से शिष्य लक्ष्यार्थ का बोध कर लेता है। उसकी बुद्धि में ज्ञान के बीज का अंकुर उत्पन्न हो जाता है। बहुधा परीक्षा करके देखा गया है कि यदि शिष्य वास्तविक ही शास्त्र कथनानुसार उपयुक्त अधिकारी है तो दीक्षा का फल जैसा कहा वैसा ही

तत्काल मिलता है अन्यथा कथित अनुभव होने पर भी शिष्य को साधना करनी पड़ती है। शिष्यों के शरीर, मन, प्राण, आत्म-ज्ञान के उपयुक्त बन जायें, इसलिये उनकी शक्ति उनके संस्कारानुसार स्वतः ही वेदान्त, योग अथवा भक्तिमार्गानुसार साधन कराती है। अतएव शक्तिपात मात्र से ही सब शिष्य साधन मुक्त नहीं होते। उनके मन, प्राण और शरीर में एक प्रकार का विशेष परिवर्तन अवश्य हो जाता है।

जैसे गर्भ स्थापन मात्र से ही सन्तान तो प्रसव नहीं होती, परन्तु स्त्री गर्भ रहने का लक्षण जान जाती है, वैसे ही गुरु के शक्तिपात से हर एक शिष्य अनुभव करता है कि ज्ञान के बीज का गर्भ स्थापन हो गया। समय में ज्ञान उत्पन्न होगा ही। जैसे गर्भवती नारी गर्भ वृद्धि का लक्षण अनुभव करती रहती है वैसे ही हर एक शिष्य कुण्डलिनी शक्ति की क्रिया से ज्ञान-वृद्धि का अनुभव करता रहता है। जैसे जननी गर्भस्थ सन्तान की सुरक्षार्थ आवश्यक नियम पालती रहती है वैसे ही शिष्य को भी ज्ञान-रक्षार्थ शास्त्र कथित नियम पालन करने चाहियें।

जैसे गर्भधारिणी, उदरस्थ सन्तान की रक्षा न करके, दुष्ट बुद्धि से नष्ट करना चाहे तो गर्भ नष्ट हो सकता है, वैसे ही गुरु द्वारा किया हुआ शक्तिपात रूपी गर्भ भी शिष्य के दुष्ट कर्म के आचरण से अथवा शास्त्र कथित आवश्यक धर्म पालन न करने से नष्ट हो सकता है। जब तक ज्ञान उत्पन्न न हो तब तक धर्माधर्म रूप संस्कार नष्ट नहीं होते, इसलिये ज्ञान उत्पन्न होने तक शास्त्र कथित विधि वाक्य का पालन करना आवश्यक है। वैसे तो सद्विद्या का बीज नष्ट नहीं होता। पुनः जन्मान्तर में

बोध के बीजांकुर प्रस्फुटित होने का संयोग उपस्थित हो सकता है, तथापि जब तक ज्ञान परिपक्व न हो तब तक स्वेच्छा से नहीं वर्तना चाहिये।

श्री महेश्वर की कृपा से गुरु द्वारा या तुम्हारे प्रबल पुण्य प्रताप से तुम्हारी आत्मसत्ता जाग उठती है। उसी को योगी लोग कुण्डलिनी शक्ति, भक्ति मार्ग वाले आह्लादिनी शक्ति, वेदान्त वाले चित्त शक्ति या आत्मसत्ता और तन्त्र-मन्त्र वाले महामाया आद्याशक्ति, कुल कुण्डलिनी इत्यादि नाना प्रकार के नामों से कहते हैं। इसके अनुग्रह को सभी कामना करते हैं क्योंकि इसी की सहायता से तुम परमात्मा से मिल सकोगे। इसलिये ज्ञान, योग और भक्ति—ये तीन मार्ग मैंने ही अपनी प्राप्ति के कहे हैं और तीनों में ही दीक्षा द्वारा तुम मुझसे ही मिलोगे।

दीक्षा का फल मोक्ष है

कुलार्णव तंत्र, चतुर्दश उल्लास

यया दीक्षितमात्रेण जायन्ते प्रत्ययाः प्रिये।
सा दीक्षा मोक्षदा ज्ञेया शेषास्तु जनसेविकाः ॥१॥
उपासनाशतेनापि या चिन्ता नैव नश्यति।
तां दीक्षामाश्रयेद्यत्नात् श्रीगुरोर्मन्त्रसिद्धये ॥२॥
रसेन्द्रेण यथा विद्धमयः सुवर्णतां व्रजेत्।
दीक्षान्वितस्तथा ह्यात्मा शिवत्वं लभते प्रिये ॥३॥

अतएव जिस दीक्षा में दीक्षित होने से तात्कालिक अनुभव, आत्मप्रतीति और विश्वास हो वही दीक्षा मोक्ष देने वाली

जानना। जिसमें उक्त अनुभव न हों वह दीक्षा केवल नाम मात्र की ही है, उससे फल कुछ नहीं होता। सैकड़ों प्रकार की उपासना करने पर भी जिस चिन्ता का नाश नहीं होता, वह यत्नपूर्वक गुरु से दीक्षित होने पर सर्वथा नष्ट हो जाती है। जैसे रासायनिक क्रिया के संयोग से पारद निकृष्ट धातु को भी भेदन करके सुवर्ण कर देता है, वैसे ही दीक्षा के संस्कार से तुम शिवरूप हो जाओगे।

दीक्षाग्निदग्ध कर्माऽसौ मायाविच्छिन्नबन्धनः।
गतां परां ज्ञाननिष्ठां निर्बीजस्तु शिवो भवेत् ॥४॥

गतं शूद्रस्य शूद्रत्वं विप्रस्यापि च विप्रता।
दीक्षासंस्कार-सम्पन्ने जातिभेदो न विद्यते ॥५॥

येन पूजितमात्रेण चाब्रह्मभुवनान्तिकम्।
पूजित तेन सर्वं स्याद्दीक्षितेन न संशयः ॥६॥

दीक्षा रूपी अग्नि से तुम्हारे कर्मसमूह दग्ध हो जायेंगे। कर्म का बीज दग्ध होने के कारण माया का बन्धन कट जायेगा तब तुम ज्ञान की पराकाष्टा (निर्बीज समाधि) को प्राप्त होकर शिवरूप हो जाओगे। इस दशा में तुम्हें अपनी जाति का अभिमान (ब्राह्मण का ब्राह्मणत्व, शूद्र का शूद्रत्व) जाता रहेगा, क्योंकि दीक्षा संस्कार सम्पन्न होने से जाति भेद नहीं रहता। जिस शिव की पूजा करने से यहां से लेकर ब्रह्मलोक तक की पूजा हो जाती है, उसी शिव की पूजा करके दीक्षित व्यक्ति ने सब की पूजा कर ली, इसमें कोई सन्देह नहीं।

शक्ति जागरण के लिये ही पूजा की जाती है और दीक्षा द्वारा शक्ति जागृत होती है।

दीक्षितस्य न कार्यं स्यात्तपोभिर्नियमव्रतैः ।
न तीर्थक्षेत्रगमननैर्न च शारीरयन्त्रणैः ॥७॥
अदीक्षिता ये कुर्वन्ति जपपूजादिकाः क्रियाः ।
न फलन्ति प्रिये तेषांशिलायामुप्तबीजवत् ॥८॥

विधिपूर्वक दीक्षा द्वारा संस्कृत होने पर दीक्षित को नित्य नैमित्तिक कर्म करने की आवश्यकता नही रहती। जप, तप, नियम, व्रत, तीर्थयात्रा आदि शारीरिक कष्ट करने की भी दीक्षित को आवश्यकता नहीं है, क्योंकि दीक्षा से ही उक्त सब जप, तप आदि के फल की प्राप्ति हो जाती है। जो लोग अदीक्षित हैं वे जो कुछ जप, पूजादि क्रिया करते हैं, दीक्षित न होने के कारण पत्थर पर बोये हुए बीज की तरह उनको उसका कुछ भी फल नहीं मिलता।

नवम प्रकाश

कुण्डलिनी शक्ति की स्थिति और स्वरूप

हठयोग प्रदीपिका तृतीय उपदेश

सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः ।
सर्वेषां योगतंत्राणां तथाधारो हि कुण्डली ॥१॥

योगशास्त्र के सिद्धान्त से कुण्डलिनी, मन, प्राण, नाद और बिन्दु –ये पांच विषय ब्रह्माण्ड के यावतीव तत्त्व को ज्ञात कराते हैं। इसलिये योगसाधन में इनका जानना अतीव आवश्यक है। कुण्डलिनी के विषय में जो कुछ कहा जाये थोड़ा ही है जैसे वन, पर्वत, नदी, सरोवर और समुद्र सहित पृथ्वी का आधार शेषनाग (ब्रह्म की शक्ति) है वैसे ही सब योग और तन्त्र का आधार कुण्डलिनी शक्ति है।

रुद्रयामल तन्त्र तथा शिव संहिता, पञ्चम पटल

ध्यायेत् कुण्डलिनी सूक्ष्मां मूलाधारनिवासिनीम् ।
तामिष्टदेवतारूपां सार्द्धं त्रिवलयान्विताम् ॥१॥
कोटिसौदामिनीभासां स्वयम्भूलिङ्ग वेष्टिणीम् ।
तामुत्थाप्य महादेवीं प्राणमन्त्रेण साधकः ॥२॥
सुप्ता नागोपमा ह्येषा स्फुरन्ती प्रभया स्वया ।
अहिवत सन्धिसंस्थाना वाग्देवी बीजसंज्ञका ॥८३॥

इसलिये मूलाधार में निवास करने वाली सूक्ष्म शक्ति (इष्ट-देवता, कुण्डलिनी देवी) का ही तुम्हें ध्यान करना है जो साढ़े तीन फेरे लगा करके स्वयभू लिङ्ग का वेष्टन किये हैं जिसका

रूप कोटि २ विद्युतपुञ्ज के सदृश है, उस महादेवी को प्राणमन्त्र अर्थात् प्राणायाम से उत्थान करके ब्रह्मरन्ध्र में लाओगे तब तुम्हारी मुक्ति होगी। वह सोई हुई नागिनि के सदृश चञ्चल शक्ति अपनी ही प्रभा से महातेज रूप मे स्वयं प्रकाशित होती है। सुषुम्ना में संलग्न मूलाधार के सन्धिस्थान में, जैसे सर्प कुण्ठली मार के सूक्ष्म होकर निष्क्रिय, निर्जीव सा मृतवत् समाधिस्थ रहता है वैसे ही यह वाग्देवी यावतीव मन्त्र बीज रूपिणी कुण्डलाकार होकर स्वर्ण के सदृश कान्तिविशिष्ट प्रतीयमान होती है।

ज्ञेयाशक्तिरियं विष्णोर्निर्भया स्वर्णभास्वरा।
सत्त्वं रजस्तमश्चेति गुणत्रयप्रसूतिका ॥८४॥
मूलाधारस्थ वन्ह्यात्मतेजो मध्येव्यवस्थिता।
जीवशक्तिः कुण्डलाख्याप्राणाकाराथ तेजसी ॥
महाकुण्डलिनी प्रोक्ता परब्रह्मस्वरूपिणी ॥१॥
शब्दब्रह्ममयी देवी एकानेकाक्षराकृतिः ॥
शक्ति कुण्डलिनीनाम विसतन्तु निभा शुभा ॥२॥

इसको ही निर्भय पद देने वाली विष्णु की शक्ति जानना। यही वैष्णवी महाशक्ति सत्त्व, रज और तमोगुण की जननी है जो मूलाधारस्थ अग्नि तेजपुञ्ज के मध्य में व्यवस्थित, स्वयं देदीप्यमान, जीवशक्ति कुण्डलिनी कहलाती है और प्राणरूप से प्राणियों में प्रकाश पाती है। तुम भी प्राणायाम द्वारा उसे अपने अन्तर में प्राणाकार से देखोगे। वह परब्रह्मरूपिणी महाशक्ति कुण्डलिनी सब कुछ ही कही गई है। उस शब्दब्रह्ममयी देवी के रूप की एक से एक बढ़कर अनेकानेक आकृतियां हैं जिनकी

वर्णना नहीं की जा सकती। ऐसे अवर्णनीय दिव्य रूप वाली, स्वय अनुभव में आने योग्य जो शक्ति है उसका नाम कुण्डलिनी देवी है, जो मूलाधार कमल के गर्भ में निहित है और सब शुभ कामनाओं को देने वाली है। इस महाशक्ति कुण्डलिनी देवी की वर्णना योगशास्त्र में नाना प्रकार से की गई है जो अतीव आश्चर्यजनक है।

योग शिखोपनिषद्, अध्याय ६

कन्दोर्ध्वे कुण्डलिनी-शक्तिर्मुक्तिरूपाहि योगिनाम् ।
बन्धनाय च मूढानां यस्तांवेत्ति स योगवित् ॥५५॥

वह आत्मशक्ति मूलाधार कन्द के उपर सोई हुई है। तुम अज्ञानी उसको नहीं जानते, इसलिए वह तुम्हारे बन्धन का हेतु है। परन्तु योगी लोग इस शक्ति को जानते हैं, सुतरां वह उन्हें मोक्ष देने वाली कहलाती है।

घेरण्ड संहिता, तृतीय उपदेश

मूलाधारे आत्म शक्तिः कुण्डलिनी परदेवता ।
शयिता भुजङ्गाकार सार्द्धत्रय बलयान्विता ॥४६॥
यावत्सा निद्रिता देहे तावज्जीवः पशुर्यथा ।
ज्ञानं न जायते तावत कोटियोगविधेरपि ॥५०॥
आधार शक्ति निद्रायां विश्वं भवति निद्रया ।
तस्यां शक्तिप्रबोधेन त्रैलोक्यं प्रति बुध्यते ॥२४॥

वह पर देवता कुण्डलिनी शक्ति मूलाधार में तीन फेरे लगाकर भुजङ्गाकृति होकर सोई हुई है। जब तक वह शक्ति निद्रित है तब तक तुम जीव पशु की तरह अज्ञान में हो। कुण्ड-

[कुण्ड]लिनी शक्ति के जागे बिना, चाहे कितना ही योग क्यों न किया जाये तथापि, ज्ञान नहीं होता क्योंकि आधार शक्ति के सोने से सारा ब्रह्माण्ड सोया हुआ है और उसके जागने से त्रैलोक्य जाग उठता है। अतएव कुण्डलिनी के जागे बिना तुम्हारे ज्ञान के सब साधन निष्फल हैं।

योग शिखोपनिषद्, अध्याय ५

गुदामेढ्रान्तरालस्थं मूलाधारं त्रिकोणकम् ।
शिवस्य जीव रूपस्य स्थानं तद्धि प्रचक्षते ।।५।।
यत्र कुण्डलिनी नाम पराशक्तिः प्रतिष्ठिता ।
यस्मादुत्पद्यते वायुर्यस्माद्वह्निः प्रवर्तते ।।६।।
यस्मादुत्पद्यते विन्दुर्यस्मान्नादः प्रवर्तते ।
यस्मादुत्पद्यते हंसो यस्मादुत्पद्यते मनः ।
तदेतत्कामरूपाख्यं पीठं कामफलप्रदम् ।।७।।

गुदा और मेढ्र के बीच में त्रिकोण मूलाधार चक्र है। वहीं जीव रूप शिव का स्थान कहा जाता है और वहीं पर कुण्डलिनी नाम की पराशक्ति प्रतिष्ठित है जिससे प्राण, वायु, अग्नि और बिन्दु उत्पन्न होते हैं, जिससे नाद की प्रवृत्ति होती है और जिससे हंस एवं मन उत्पन्न होते हैं। ऐसा यह कामरूप नाम का पीठ स्थान (मूलाधार कमल) सब कामनाओं के फल को देने वाला है।

योग शिखोपनिषद्, अध्याय ६

आधारज्जायते विश्वं विश्वं तत्रैव लीयते ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गुरुपादं समाश्रयेत् ।।२३।।
आधारं यो विजानाति तमसः परमश्नुते ।
तस्य विज्ञानमात्रेण नरः पापैः प्रमुच्यते ।।२५।।

आधारचक्रमहसा विद्युत्पुञ्जसमप्रभा ।
तदा मुक्तिर्न सन्देहो यदि तुष्टः स्वयं गुरुः ॥२६॥
केचिद्वदन्ति चाधारं सुषुम्ना च सरस्वती ॥२२॥
महामाया महालक्ष्मीर्महादेवी सरस्वती ॥
आधारशक्तिरव्यक्ता यया विश्वं प्रवर्तते ॥११२॥

आधार शक्ति से ही विश्व उत्पन्न और उसी में लीन होता है। इसको जानने के लिये सर्वतः गुरु-कृपा का आश्रय लेना चाहिये । जो इस आधार शक्ति के स्थान मूलाधार को विशेष रूप से जानता है, वह अज्ञान रूप अन्धकार से परे ज्योतिर्मय चिदात्मा को जानकर परमसुखी और कृतार्थ होता है। आधार शक्ति के जानने मात्र से मनुष्य सब पापों से मुक्त हो जाते है। विद्युतसम महाप्रभ मूलाधार कमल में स्थित प्रकाशमान आत्मशक्ति के अवलोकन से मुक्ति होती है। यदि गुरु स्वयं प्रसन्न हो जायें तो मुक्ति होने में क्या सदेह है ? इसको कोई आधार कहते हैं, कोई सुषुम्ना, कोई कुण्डलिनी, सरस्वती आधार शक्ति कहते हैं। यही महामाया, महालक्ष्मी, महादेवी, सरस्वती और अव्यक्त आधार शक्ति है जिसके कारण तुम्हारे मन, प्राण, शरीर की क्रियायें सम्पादित होती हैं। इसी से सारा विश्व प्रवृत्त हो रहा है।

वेद में महायोग

रुद्रयामल तन्त्र, पटल २१

वेदाधीनं महायोगं योगाधीना च कुण्डली ।
कुण्डल्यधीनं चित्तं तु चित्ताधीनं चराचरम् ॥१॥

मनसः सिद्धि मात्रेण शक्तिसिद्धिर्भवेद् ध्रुवम् ।
यदि शक्तिवशीभूता त्रैलोक्यं स्यात्तदा वशे ॥२॥

जिससे सब कुछ जाना जाता है, जो तुम्हारी सभी कामना-धर्म, अर्थ काम और मोक्ष पूर्ण करने के लिये दिव्यज्ञान के प्रकाशक हैं, जो साक्षात् ईश्वर के वाक्य हैं, जिनमें तुम्हें कहने-सुनने की आवश्यकता ही नही एवं कोई संदेह ही नहीं कर सकता, जो स्वतः प्रमाण हैं, ऐसे वेद सब विद्याओं के भण्डार हैं। वेद से ब्रह्मविद्या की प्राप्ति होती है, इसलिये वेद के अधीन महायोग है। महायोग के अधीन कुण्डलिनी शक्ति, कुण्डलिनी के अधीन चित्त और चित्त के अधीन चराचर जगत् है। अतएव इस मन की सिद्धि होने से शक्ति की सिद्धि निश्चय हो जाती है। यदि शक्ति वश में हो तो त्रैलोक्य भी वश में हो जाता है। इसलिये बिना कुण्डलिनी शक्ति के जागे तुम ज्ञान, योग और भक्ति का फल नहीं पा सकते। तुम्हें अपनी आत्म-शक्ति का विकास करना ही चाहिये।

इस आत्मशक्ति को जगाने के लिए ही गुरु की आवश्यकता है, इसलिये सब शास्त्र बार २ यही कहते हैं कि गुरु करना ही चाहिये। बिना गुरु किये कोई भी कर्म करोगे तो उसका फल मिलने में वर्षों लग जायेंगे, परन्तु उपयुक्त गुरु के अनुग्रह से तत्काल आत्मप्रतीत-विश्वास होगा जिससे तुम्हारे सब धर्म-कर्म फलने लग जायेंगे। तुम्हें भी श्रद्धा और सन्तोष से प्रसन्नता रहेगी तथा तुम्हारा मन भी निःशङ्क, निभ्रान्त हो जायेगा। जैसे कठिन व्याधिग्रस्त व्यक्ति को उपयुक्त अच्छे वैद्य की प्राप्ति होने पर वह निःशङ्क और निर्भय होकर, जीवन का सुख पाने

की आशा में आनन्दित रहता है वैसे ही तुम भी आत्ममुख की आशा से जीवनमुक्ति का अनुभव कर सकोगे।

दीक्षा रहित ज्ञान निष्फल है

कुलार्णव तंत्र, चतुर्दश उल्लास

बिना दीक्षा फलं नस्यातयमिनां शिवशासने।
सा च न स्याद्विनाचार्यमित्याचार्य पुरः सरम् ।।१।।
देवि दीक्षाविहीनस्य न सिद्धिर्न च सद्गतिः।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गुरुणा दीक्षितो भवेत् ।।२।।

महाकाल योगशास्त्र में श्री महेश्वर का कथन है कि शिव कथित कल्याण मार्ग में दीक्षित नहीं होने से साधक का ज्ञान, ध्यान, योग, जप, तप, भक्ति, कर्म, धर्म कुछ नहीं फलता। इसलिये यदि तुम अपना मङ्गल चाहो तो तुम्हें दीक्षित होना ही चाहिये। दीक्षा भी बिना आचार्य गुरु के नहीं हो सकती। अतः दीक्षा के लिये ही तुम्हें गुरु के पास जाना होगा। दीक्षा विहीन मनुष्य को न तो किसी धर्म-कर्म की सिद्धि होती है और न सद्गति (मोक्ष) ही होती है। इसलिये सर्वतो भाव, प्रयत्न करके, गुरु से दीक्षित होना ही आवश्यक है।

कुण्डलिनी जागरण के लिये दीक्षा की आवश्यकता

कुलार्णव तंत्र, चतुर्दश उल्लास

आत्मनः कारयेत् दीक्षामनादि कुल कुण्डलीम्।
दीक्षायाता कर्म साम्ये भिन्नाः स्युः प्रतिपादिका ।।१।।

क्योंकि अनादि काल से तुम्हारी कुल कुण्डलिनी शक्ति सोई हुई है, इसलिये तुम्हारे धर्म-कर्म का फल नहीं होता। सुतरां तुम वास्तविक सुख-शान्ति भी नहीं पा सकते हो। केवल ऊपर के मन से अपने को सुखी और सत्कर्म करने वाला भले ही समझ लो, परन्तु विचार करके देखोगे तो तुम्हें पता चलेगा कि तुम्हारे जप, तप, ज्ञान, ध्यान, भक्ति, योग, धर्म, कर्म इत्यादि सब का फल कुण्डलिनी के सोने के कारण अन्धकार से आवृत है।

मन को प्रबोध देके, सुख की नकल करने से या मन से ही सुख मान लेने से, वास्तविक सुख नहीं मिलता। सच्चा सुख देने वाली तुम्हारी आत्मशक्ति सुप्त है। उसको जगाने के लिये तुम्हें दीक्षा लेनी है। जब तुम आत्म-ज्ञान की दीक्षा ले लोगे तो तुम्हारे धर्म-कर्म के संस्कार की विश्रृङ्खल अवस्था श्रृङ्खलाबद्ध होकर साम्यता प्राप्त करेगी। तब तुम्हें अपने किये हुये सत्कर्मों का फल-सत्य सुख-अनुभव में आने लगेगा, जिसके प्रताप से तुम सहज ही अपने अन्तरात्मा से तुष्टि पाने लगोगे। तब तुम्हें वास्तविक ही सुखी होने का सौभाग्य प्राप्त होगा। उस अवस्था में यह जगत् तुम्हें आनन्द रूप भासने लगेगा।

वाराहोपनिषद्, अध्याय २

अज्ञस्य दुःखौवमयं ज्ञस्यानन्दमयं जगत्।
अन्धं भुवनमन्धस्य प्रकाशं तु सुचक्षुषाम् ॥२२॥

तुम लोग संसार को दुःख रूप समझते हो और घृणा प्रकाश करते हो। कहते हो कि यह संसार कारागार, महादुःख और भय रूप है। जिससे तुम महा भय मानते हो वही संसार आत्म-शक्ति जागने से तुम्हारे लिये महासुख रूप हो जायेगा। यह

संसार सुख-दुःख अनुभव करने के लिये ही है। यह संसार अज्ञानियों को महादुःख रूप है, परन्तु ज्ञानियों के लिये ईश्वर की क्रीड़ा का स्थान यह जगत् आत्मज्ञान रूप दिव्य दृष्टि से आनन्द रूप है। अन्धों के लिये सर्वत्र अन्धकार ही अन्धकार है और नेत्र वालों के लिये सब जगह प्रकाश ही प्रकाश है। यदि यह जगत् ही न होता तो तुम जन्म ही क्यों लेते ? तुम्हें ईश्वर के ज्ञान की आवश्यकता ही क्या थी ? अतएव यह जगत् ही ईश्वर के ज्ञान का बोध कराता है।

गौतमीय तंत्र

मूलपद्मे कुण्डलिनी यावत् सा निद्रिता प्रभो ।
तावत् किञ्चन्न सिद्धयेत मन्त्रयंत्रार्चनादिकम् ।।१।।
जागर्ति यदि सा देवि बहुभिः पुण्यसञ्चयैः ।
तदा प्रसादमायान्ति मत्र यत्रार्च्चनादयः ।।२।।

जब तक कुण्डलिनी शक्ति मूलाधार में निद्रित है तब तक तुम्हारे जप, तप, ज्ञान, ध्यान, पाठ, पूजन, मन्त्र, यन्त्र इत्यादि साधनों में से किसी को किञ्चित् मात्र भी सिद्धि नहीं होगी परन्तु सौभाग्यवश, गुरु कृपा से अथवा तुम्हारे प्रबल पुण्य प्रताप से, यदि कुण्डलिनी देवी जागृत हो गई तो तुम्हारे जप, तप, ज्ञान, ध्यान, योग, मन्त्र, तन्त्र, पाठ, पूजन उलटा-सीधा जो कुछ भी करोगे, सब फलने लग जायेगा। तब यह संसार जिसको तुम कारागार समझते हो वही तुम्हारे लिये स्वर्ग का नन्दन-वन बन जायेगा। जैसे रोगी व्यक्ति को दिव्य औषधि मिलते ही उसके रोग का सब दुःख दूर हो जाता है वैसे ही तुम्हारी आत्म-शक्ति जागने से भव-व्याधि जाती रहेगी। निरोगी को शारीरिक,

मानसिक कष्ट नहीं होता। तुम्हारी आधि और व्याधि चले जाने से सुख-दुःख का स्वप्न मिट जायेगा। केवल आनन्द ही आनन्द मनाते रहोगे।

दीक्षा के लिये सामर्थ्यवान् गुरु होना चाहिये

इस आनन्द का तत्काल प्रदर्शन कराने वाला गुरु है। गुरु के द्वारा ही तुम ईश्वर से मिलोगे। वैसे तो यह परमानन्द तुम्हारे अन्तर में ही है। उसे तुम अपने परम पुरुषार्थ से भी पा सकते हो, पर उसमें तुम्हें वर्षों तो क्या, कई जन्म लग जायेंगे। अब तुम जिस दशा को पहुंचे हो उसमें ऐसा प्रबल पुरुषार्थ तुम्हारे लिये सहज नहीं है, इसलिये केवल गुरु कृपा से ही इसी जन्म में पाने की आशा कर सकते हो। वह गुरु भी योग्य सामर्थ्य वाला होना चाहिये और साथ ही तुम्हारी भी अच्छी योग्यता चाहिये। तुम चाहो कि हमें व्यास और वशिष्ठ जैसे गुरु मिल जायें। तो तुम्हें भी उनके शिष्य रामचन्द्र और जैमिनि जैसी योग्यता प्राप्त करनी चाहिये। नहीं तो तुम जैसे हो वैसे ही गुरु भी तुम्हें मिलेंगे। तुम्हारी योग्यता ही तुम्हें गुरु को प्राप्त करायेगी।

अतएव व्यास, वशिष्ट, शक्ति, पराशर जैसे गुरु की तुम इच्छा रखते हो तो तुम्हें भी शुकदेव, जैमिनि, गौड़पाद, गोविन्द-पाद, शङ्कराचार्य जैसी योग्यता प्राप्त करनी होगी। तब बिना प्रयत्न के ही व्यास जैसे गुरु तुम जहां होगे मिल जायेंगे। यदि तुम अकर्मण्य, प्रमादी, आलसी रहोगे तो तुम्हें वैसे ही पशु सदृश संसार में बांधने वाले गुरु मिलेंगे। इसलिये पहिले तुम योग्य शिष्य होने के लक्षण जान लो और योग्य बनो। पीछे गुरु से प्राप्त ज्ञान भी समझ लो और आत्म ज्ञान की दीक्षा का

फल—आत्म-प्रतीति, विश्वास और गुरुप्रदत्त शक्ति का सामर्थ्य, लक्ष्यार्थ बोध इत्यादि— तुम्हें जानना आवश्यक है। क्योंकि समधर्मी न होने से मेल नहीं हो सकता, इसलिये गुरु के उपयुक्त शिष्य और शिष्य के उपयुक्त ही दीक्षा दी जाती है, जिसका फल तत्काल, क्रम से अथवा विलम्ब से मिलता है।

पहिले ही कहा जा चुका है कि अच्छे समर्थ गुरु के लिये तपस्या करनी पड़ती है, वैसे ही उपयुक्त शिष्य के लिये भी गुरु को अनुसन्धान करना पड़ता है। शिष्य की योग्यता ही गुरु का गुरुत्व और शिष्य का शिष्यत्व सिद्ध करती है। जैसे योग्य वैद्य से चिकित्सा कराने वाला रोगी वैद्य को आत्म-समर्पण करके अपना जीवन-मरण वैद्य के अधीन कर देता है, वैसे ही भव-व्याधि-ग्रस्त शिष्य का मङ्गल, अमङ्गल भवरोग चिकित्सक गुरु के अधीन होता है। वैद्य का परम कर्त्तव्य है कि रोगी को उपयुक्त चिकित्सा से रोग मुक्त कर दे। गुरु का भी परम कर्त्तव्य है कि शिष्य का अपने आत्म सामर्थ्य से कल्याण कर दे। अतएव गुरु शिष्यों को अपने जीवन-यात्रा-निर्वाह की वृत्ति न बनावें और शिष्य भी गुरु को मात्र उपदेश देने वाला ही पर्याप्त न समझें वरन् अपना कर्त्तव्य यथेष्ट रूप से पालन करें। इस प्रकार कर्त्तव्य बोध से गुरु-शिष्य दोनों हो आत्मभाम से मङ्गल को प्राप्त होवें, यही परम्परा का नियम है। गुरु शिष्य का यह आत्म-सम्बन्ध शास्त्र की दृष्टि से अतीव महत्व का है। अतएव सोच-समझ कर दोनों को सम्बन्ध करना चाहिये, नहीं तो दोनों ही अधोगामी होंगे। शास्त्र की मर्यादा की रक्षा बिना किये कोई अपने अभीष्ट की सिद्धि नहीं कर सकता।

कुलार्णव तन्त्र, चतुर्दश उल्लास

गुरुशिष्याधिकारार्थं विरक्तोऽपिशिवाज्ञया ।
किञ्चित्कालं विधायेत्थं स्वशिष्याय समर्पयेत् ॥१॥

तस्यापि नाधिकारस्य योगः साक्षात् परे शिवे ।
देहान्ते शाश्वती मुक्तिरिति शङ्करभाषितम् ॥२॥

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन साक्षात् परशिवोदितम् ।
सम्प्रदाय परिच्छिन्नं सदा कुर्यात् गुरुं प्रिये ॥३॥

शक्तिसिद्धिमसिद्धार्थं परीक्ष्य विधिवत् गुरु ।
पश्चादुपदिशेन्मन्त्रमन्यथा निष्फलं भवेत् ॥४॥

जगत् में जो २ महान् पुरुष गुरु पद में आये हैं वे सब त्यागी और तपस्वी हुए हैं। उन्होंने सांसारिक सुख का त्याग ही किया है। जिनको परमानन्द स्वरूप आत्म-सुख की प्राप्ति हो गई है, वे जगत् के सुख की वाञ्छा नहीं करते। यद्यपि उनके प्रारब्धानुसार भौतिक सुख स्वतः ही आ जाता है, तथापि वे मन से उसका त्याग ही करते हैं। उसे वे स्वेच्छा से नहीं भोगते। दूसरों के हित के लिये, देश कालानुसार, अनिच्छा और पर इच्छा से भोगते हैं। जिनके पास अधिक से अधिक सुख और महान से महान सामर्थ्य होता है वे उसके पक्ष में उतना ही त्याग स्वीकार करते है और उसी में उनकी महानता होती है। कुबेर जिनका भण्डारी है, साक्षात् अन्नपूर्णा देवी जिनकी गृह-लक्ष्मी हैं, जो अणिमादि महा ऐश्वर्य वाले जगत् के स्वामी हैं, ऐसे परम कृपालु शिवजी भिक्षाटन करके त्याग की महानता का प्रदर्शन करते हैं।

शिवजी की आज्ञा से गुरु विरक्त होने पर भी, शिष्य के अधिकार के लिये थोड़ा समय ठहर कर, शिष्य की परीक्षा करके, तब शक्ति दान करें। जिसका योग में अधिकार नहीं है ऐसा शिष्य साक्षात् पर-शिव में योग नहीं कर सकता। श्री महेश्वर कहते हैं कि जो शिष्य अधिकारी है उसकी देहान्त में शाश्वती मुक्ति हो जाती है। अतएव जैसा महेश्वर ने कहा, गुरु प्रयत्नपूर्वक शिष्य का अधिकार देखकर तब कृपा करें। शिष्य भी गुरु की परीक्षा करके परम्परागत सामर्थ्य वाले को ही गुरु करें। शक्ति की सिद्धि व्यर्थ न हो, इसलिये गुरु को चाहिये कि शिष्य की विधिवत्-अच्छी तरह परीक्षा करके पश्चात् मन्त्र उपदेश करें, अन्यथा निष्फल होगा।

गुरु शिष्यावुभौ मोहादपरीक्ष्य परस्परम्।
उपदेशं ददद् गृह्णन् प्राप्नुयातां पिशाचताम् ॥५॥
अशास्त्रीयोपदेशञ्च यो गृह्णाति ददाति हि।
भुञ्जाते तावुभौ घोरे नरकानेकविंशतीः ॥६॥
अन्यायेन तु यो दद्याद् गृह्णात्यन्यायतश्च यः।
ददतो गृह्णतो देवि कुल शापो भविष्यति ॥७॥

यदि मोह से गुरु और शिष्य परस्पर परीक्षा न करके उपदेश देवें और लेवें तो ऐसे उपदेश देने वाले गुरु एवं लेने वाले शिष्य दोनों ही पिशाचता को प्राप्त होते हैं। अध्यात्म-पथ में कार्य-अकार्य की विधि का निर्णय शास्त्र ही करते हैं। शास्त्र-विधि को न मान कर जो अशास्त्रीय उपदेश देते हैं वे ज्ञान का उपदेश देने वाले गुरु और लेने वाले शिष्य घोर नरकगामी होते

है। अन्याय से जो गुरु शिष्य और जो शिष्य गुरु करते हैं ऐसे उपदेश देने वाले गुरु और लेने वाले शिष्य दोनों को ज्ञान के पथ में मिथ्या व्यवहार के कारण ब्रह्मशक्ति का शाप लगता है। प्रतारणा से दिये हुए उपदेश और लिये हुवे ज्ञान का फल विपरीत हो जाता है। ज्ञान के मार्ग में सत्यता, सरलता और शुद्धता ही फलीभूत होती हैं। विधि वाक्य का उलङ्घन करके स्वेच्छाचारिता से किये हुए कर्मों का फल भी विपरीत हो जाता है।

ज्ञानेन क्रियया वापि गुरुः शिष्यं परीक्षयेत्।
संवत्सरं तदर्द्धं वा तदर्द्धं वा प्रयत्नतः ॥८॥
धनेच्छाभयलोभाद्यैरयोग्यं यदि दीक्षयेत्।
देवता शापमाप्नोति कृतञ्च निष्फलं भवेत् ॥९॥

इसलिये गुरु को चाहिये कि प्रयत्न करके शिष्य की ज्ञान से, क्रिया से, अच्छी तरह एक वर्ष, छः मास, कम से कम तीन मास परीक्षा करके तब दीक्षा दे। धन की इच्छा से या किसी के भय से अथवा लोभ से गुरु के अयोग्य शिष्य को दीक्षा दे देने से देवताओं का शाप लगता है जिससे किया हुआ सब निष्फल हो जाता है। श्री महेश्वर के कथनानुसार शिव शासन की रक्षा करना गुरु और शिष्य दोनों का कर्त्तव्य है।

भगवद्गीता, अध्याय १६

यः शास्त्र विधिमुत्सृज्य वर्त्तते काम कारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ।।२४।।

इसलिये जो लोग शास्त्र-विधि का त्याग कर स्वेच्छा से वर्तते हैं, वे न तो सिद्धि को पाते हैं, न सुख ही प्राप्त कर सकते हैं और न परागति ज्ञान ही पा सकते हैं। शास्त्र-विधि-अनुसार कर्त्तव्य करने से ही अभीष्ट की सिद्धि होती है, क्योंकि ज्ञान के विषय में शास्त्र ही प्रमाण है।

असच्छिष्येष्वभक्तेषु यज्ज्ञानमुपदिश्यते ।
तत्प्रयात्य पवित्रत्वं गो क्षीरं श्वघृतादिव ।।१०।।
सच्छिष्यायातिभक्ताय यज्ज्ञानमुपदिश्यते ।
तज्ज्ञानं बहु शास्त्रार्थं तद्विदध्यादखण्डितम् ।।११।।

जो शिष्य असत् कर्म वाला, मिथ्याचारी और भक्ति श्रद्धादि सद्गुणों से रहित है, ऐसे अभक्त को ज्ञान का उपदेश दिया जाये तो वह अपवित्रता को प्राप्त हो जाता है। जैसे गौ का दूध-घी पवित्र होने पर भी कुत्ते को खिलाने से खाज हो जाती है, उसके बाल उड़ जाते हैं और कुत्ता किसी काम का नहीं रहता, इसी तरह अपात्र को दिया हुआ ज्ञान अनर्थ उत्पन्न करता है। उत्तम गुण वाले सद् शिष्य और श्रद्धावान् अति भक्त को जो ज्ञान दिया जाना है वह बहुत से शास्त्रों का प्रयोजन सिद्ध करता है। जिसका कोई खण्डन नहीं कर सकता अर्थात् शास्त्र में तर्क, युक्ति और प्रमाण के द्वारा जो ज्ञान निष्पन्न हुआ है उसको सत् शिष्य और अति भक्त साधक प्राप्त करते हैं। वही ज्ञान शास्त्र के अर्थ का प्रकाशक होता है।

असत् शिष्य के लक्षण

जैसे तुम सभी सब कार्य के लिये दक्ष नहीं होते वैसे ही अध्यात्म-ज्ञान के भी तुम सभी अधिकारी नहीं हो सकते, इसलिये शास्त्र में पात्रापात्र का निर्णय किया गया है। तुम लोगों के स्वाभाविक व्यवहार ही सौभाग्य और दुर्भाग्य का परिचय कराते हैं। अधिकारी अनधिकारी का निर्देश करके शास्त्र में उपयुक्त गुण वालों को ही आत्म-ज्ञान का अधिकारी कहा है। जो लोग शास्त्र-कथित सद्गुणों से रहित हैं उनकी बुद्धि में ब्रह्म-ज्ञान का प्रकाश नहीं होता। ऐसे अनाधिकारी भाग्यहीन शिष्य के लक्षण श्री महेश्वर कहते हैं।

कुलार्णव तंत्र, त्रयोदश उल्लास

दुष्टवंशोद्भवं दुष्टं गुणहीनं निरूपितम्।
परशिष्यञ्च पाषण्डं षण्डं पण्डितमानिनम् ॥१॥
हीनाधिकविकाराङ्गं विकलावयवान्वितम्।
पंगुमन्धञ्च बधिरं मलिनं व्याधिपीड़ितम् ॥२॥
उत्सृष्टं दुर्मुखं चापि स्वेच्छावेशधरं परम्।
दुर्विकाराङ्गचेष्टादि गतिभीषण भीषणम् ॥३॥

जो दुष्ट वंश में उत्पन्न हुआ हो, स्वयं दुष्ट हो, सद्गुणों से रहित हो, क्लीव हो, जिसको अपने पाण्डित्य का अभिमान हो, दूसरे किसी का शिष्य हो, जो बहुत से गुरु करता हो, ऐसे पाखण्डी मनुष्य को गुरु शिष्य न बनावे। वह आत्म-ज्ञान की दीक्षा का आधकारी नहीं है। जिसमें कोई अङ्ग न्यून हो अथवा अधिक हो, जिसका कोई अङ्ग विकृत या नष्ट हो गया हो, जो

पंगु, अंधा, बहरा हो अथवा जो सदा मलीन या रोगी बना रहता हो, उस को गुरु शिष्य न करे। जो घर या समाज से बहिष्कृत हो, जिसको गुरु, माता-पिता अथवा गांव वालों ने त्याग दिया हो, जिसको देखने से खेद, दुःख, भय उत्पन्न हो, जो दुर्मुख, स्वेच्छा से वेष बदलने वाला हो, जो कभी तो साधु बन जाता हो और कभी नौकरी कर लेता हो, ऐसा बहुरूपिया, अङ्ग के विकृत होने से जिसकी चेष्टा और गति-विधि भीषण हो, जिसकी वाणी से क्षोभ और भय हो, ऐसा मनुष्य ज्ञान की दीक्षा का अधिकारी नहीं है।

निद्रातन्द्राजडालस्य द्यूतादिव्यसनान्वितम्।
अन्तर्भक्तिकरं क्षुद्रं बाह्यभक्तिविवर्जितम् ॥४॥
व्यलीकवादिनं शुष्कं प्रेषितं प्रेरकं शठम्।
धनस्त्रीशुद्धिरहितं निषेधविधिवर्जितम् ॥५॥
रहस्यभेदकं वापि देवि कार्यविनाशकम्।
मार्जारवकवृत्तिञ्च रन्ध्रान्वेषणतत्परम् ॥६॥

जो निद्रा, तन्द्रा, आलस्य और जड़ता से अकर्मण्य है, जुआ खेलने वाला, व्यसनी है, उदारता से रहित, कृपण, क्षुद्रचित्त वाला है, क्षुद्र विषयों में लगा है, जो विधि निषेध को न मानता हो, बना के झूठ बोलता हो, दूसरे का भेजा हुआ आया हो, जिसने बिना विवाह किये ही दूसरे की स्त्री रक्खी हो, जो अन्याय से धन संग्रह करता हो एवं स्वयं बुद्धिमान बनता हो, ऐसे शठ को गुरु शिष्य न करे, वह तत्त्वज्ञान का अधिकारी नहीं है। जो दूसरों के दोष ही देखता रहता हो, देखने में बगुला

ओर बिल्ली की तरह निरीह मालूम पड़ता हो अथवा महा-घातक कर्म करने वाला हो, जो गुप्त भेद की रक्षा न कर सकता हो, न कहने को बात कह देता हो, ऐसा कार्य का नाश करने वाला मनुष्य ज्ञान की दीक्षा का अधिकारी नहीं है।

मायाविनं कृतघ्नञ्च प्रछन्नान्तरदायकम् ।
विश्वासघातिनं द्रोहकारिणंपापकर्मिणाम् ॥७॥
आततायिनमेकाक्षं कुत्सित कूटसाक्षिणम् ।
सर्वप्रतारकं देवि सर्वोत्कृष्टाभिमानिनम् ॥८॥
असत्यं निष्ठुरासक्तं ग्राम्यादिबहुभाषिणम् ।
कुविचारकुतर्कादिकारकं कलहप्रियम् ॥९॥

जो अपने वास्तविक भाव को छिपाकर छल से अपना अर्थ साधन कर लेता हो, विश्वास घाती हो, जो उपकार के बदले में अपकार करने वाला कृतघ्नी हो, जो गुप्त रहस्य को प्रकट कर देता हो, अर्थात् परम्पर में भेद एवं द्रोह कराने वाला हो, जो पाप कर्म में लगा हो, ऐसा पापी मनुष्य ज्ञान का अधिकारी नहीं है। जो आततायी है, देखने में कुत्सित काना है तथा मैले दिल का है, जो सब को ही धोखा देता है, अपना उपकार हो चाहे न हो तथापि दूसरे का सर्व नाश करने वाला है, जो झूठी साक्षी देता है तथा अपने को ही सबसे अच्छा समझता है, ऐसा अभिमानी मनुष्य शिष्य होने के योग्य नहीं है। जो मिथ्यावादी, निष्ठुर एवं आसक्ति वाला है, जो दुनिया भर का बखेड़ा करता रहता है, जो कदर्य-भाषी, कुतार्किक, बकवादी, बुरे विचार रखने वाला है तथा बिना प्रयोजन ही झगड़ा करने वाला है, ऐसा मनुष्य आत्म-ज्ञान की दीक्षा का अधिकारी नहीं है।

वृथाऽक्षेपकरं मूर्खं चार्वाकं वाग्विडम्बकम् ।
परोक्षे दूषणकरं प्रत्यक्षे प्रियवादिनम् ॥१०॥
वाग्ब्रह्मवादिनं विद्याचौरमात्मप्रशंसकम् ।
गुणासहिष्णुमहितमात्मक्रोधनमम्बिके ॥११॥
वाचालं दुर्जनसखं सर्वलोकविगर्हितम् ।
पिशुनं परसन्ताप्यं सम्विदप्रणयं प्रिये ॥१२॥

जो मूर्ख नास्तिक है, ज्ञान की बातें बनाया करता है, जो वृथा दूसरों पर आक्षेप करता है, परोक्ष में निन्दा और अनिष्ट की चेष्टा करता है और प्रत्यक्ष में प्रियवादी बनता है, ऐसा मनुष्य अधिकारी नहीं हो सकता। जो केवल मुख से ब्रह्म-ज्ञान कथन करता हो, गुरु से प्रतारणा करके विद्या की चोरी करता हो एवं अपनी प्रशंसा करता हो, दूसरों के सद्गुणों को सहन न कर सकने के कारण दुःखी होता हो और क्रोध करके अहित करता हो, ऐसा मनुष्य तत्त्वज्ञान की दीक्षा का अधिकारी नहीं हो सकता। जो बकवादी है, दुर्जनों से मैत्री रखता है, जिसकी सब लोग निन्दा करते हैं, जो व्यर्थ ही दूसरों को कष्ट पहुंचाया करता है, ऐसा ज्ञान से और ज्ञान मार्ग वालों से शत्रुता करने वाला मनुष्य दीक्षित होने योग्य नहीं है।

स्वक्लेशवादिनं स्वामिद्रोहिणं स्वात्मवञ्चकम् ।
जिह्वोपस्थपरं देवि तस्करं पशुचेष्टितम् ॥१३॥
अकारण द्वेषहासक्लेशक्रोधादिकारिणम् ।
अतिसाहसकर्माणं मर्मान्तपरिहासकम् ॥१४॥

कामुकं चातिनिर्लज्जं मिथ्यादुश्चेष्टसूचकम् ।
असूयामदमात्सर्यदंभाहंकारसंयुतम् ॥१५॥

जो सब के पास अपना ही दुःख रोता हो, अपने स्वामी का द्रोह करता हो, जो शिश्नोदर-परायण अर्थात् जिह्वा और उपस्थ के सुख में रत होने वाला हो, चोर हो तथा अपने को ही धोखा देता हो, पशु के सदृश हिताहित का विचार न करके वर्तता हो, ऐसा आत्मवञ्चक मनुष्य ज्ञान की दीक्षा का अधिकारी नहीं है। जो अकारण ही द्वेष करता हो, हसता हो, क्लेश और क्रोध करता हो, जो अत्यन्त गर्हित कर्म करने का साहस करता हो, बिना प्रयोजन दूसरों का दिल दुखाने को हंसी करता हो, ऐसा दूसरों का चित्त दुखाने वाला मनुष्य शिष्य होने के योग्य नहीं है। जो कामी अत्यन्त निर्लज्ज हो, जो मिथ्या ही दुराचार की चेष्टा करता हो तथा असूया, मद, मत्सर, दम्भ, अहङ्कार से युक्त हो, गुरु को चाहिये कि ऐसे अनाधिकारी को कभी शिष्य न बनाये।

ईर्षापारुष्यपैशुन्यकार्पण्य क्रोधमानसम् ।
अधीरं दुःखिनं भीरुमशक्तं स्तब्धमातुरम् ॥१६॥
अप्रबुद्धमतिं मन्दं मूढं चिन्ताकुल विटम् ।
तृष्णालोभयुक्तं दीनंमतुष्टं सर्वयाचकम् ॥१७॥

जिसका मन ईर्षा, निर्दयता, कपट, कृपणता और क्रोध से युक्त हो, जो अधीर, दुःखी, भीरु, अशक्त, स्तब्ध और आतुर हो, ऐसे मनुष्य को आत्म-ज्ञान की दीक्षा नहीं देनी चाहिये। जो महाअज्ञानी, मतिमन्द तथा मूढ़ है, चिन्ताओं से घिरा हुआ

रहता है, जो तृष्णा और लोभ से युक्त तथा असन्तुष्ट है, दूसरों को अपनी दीनता दिखा कर सब से याचना किया करता है, ऐसा मनुष्य तत्त्वज्ञान की दीक्षा का अधिकारी नहीं है।

बह्वाशिनं कपटिनं भ्रामकं कुटिलं प्रिये।
भक्ति श्रद्धादयाशान्ति धर्माचारविवर्ज्जितम् ॥१८॥
मातृपितृगुरुप्राज्ञसद्वचोहास्यकारकम् ।
इत्यादिदुर्गुणोपेतं गुरुः शिष्यं विवर्ज्जयेत् ॥१९॥

जो बहुत खाने वाला हो, कपटी हो तथा दूसरों को भ्रम में डालने वाला कुटिल हो। जो भक्ति, श्रद्धा, दया, शान्ति एवं धर्माचार से वर्जित हो, ऐसे मनुष्य को दीक्षा नही देनी चाहिये। जो माता, पिता, गुरु तथा ज्ञानी महात्माओं की अच्छी बातों की हंसी करता हो, ऐसे दुर्गुणयुक्त मनुष्य को गुरु शिष्य करना त्याग करे। ऐसा मनुष्य ज्ञान का अधिकारी नही है।

सत् शिष्यों के लक्षण

पूर्व कथित असत् एवं त्याज्य शिष्य के लक्षण कहकर अब श्री महेश्वर सौभाग्यवान्, पुण्यात्मा, योग-साधन के उत्तम अधिकारी शिष्य के लक्षण कहते हैं।

कुलार्णव तंत्र, त्रयोदश उल्लास

सच्छिष्यन्तु कुलेशानि शुभलक्षणसंयुतम् ।
समाधिसाधनोपेतं गुणशीलसमन्वितम् ॥१॥
स्वच्छदेहाम्बरं प्राज्ञं धार्मिकं शुद्धमानसम् ।
दृढव्रतं सदाचारं श्रद्धाभक्तिसमन्वितम् ॥२॥

दक्षमल्पाशिनं गूढचित्तं निर्व्याजसेवकम् ।
विमृष्यकारिणं वीरं मनोदारिद्र्यवर्ज्जितम् ।।३।।

जो पुरुष समाधि के साधन यम, नियम, आसान, प्राणायामादि परायण हो, गुण एवं शील आदि शुभ लक्षण से युक्त हो, वही शिष्य तत्त्वज्ञान की दीक्षा का उपयुक्त उत्तम अधिकारी है। जो मनुष्य शुद्ध मन वाला हो एवं श्रद्धा-भक्ति-युक्त शास्त्रज्ञ हो तथा सुन्दर शरीरयुक्त, स्वच्छ वस्त्र धारणा करता हो, वही शिष्य होने के योग्य तथा आत्मज्ञान की दीक्षा का अधिकारी है। जो विचारपूर्वक कर्म करता है एवं उदार चित्त है जो गंभीर है, अल्प भोजन करने वाला मिताहारी है, जो सब कार्यों में दक्ष और निरभिमान है एवं वीर है जो सदा निष्काम सेवा करता है, ऐसा उत्तम पुरुष ही योग दीक्षा का अधिकारी है।

सर्वकार्यातिकुशलं स्वच्छं सर्वोपकारिणम् ।
कृतज्ञं पापभीतञ्च साधुसज्जनसम्मतम् ।।४।।
आस्तिकं दानशीलञ्च सर्वभूतहिते रतम् ।
विश्वासविनयोपेतं धनदेहाद्यवञ्चकम् ।।५।।
असाध्यसाधकं शूरमुत्साहबलसंयुतम् ।
अनूकूलक्रियायुक्तमप्रमत्तं विचक्षणम् ।।६।।

जो पुरुष सभी कार्यों को कुशलता से सम्पन्न करता है, जो सब का उपकार ही करता है, जो पाप कर्म से भय मानता है, पुण्य कर्म से पवित्र है, जो कृतज्ञ है एवं साधु सज्जन के अनुकूल बर्तता है, ऐसा उत्तम शिष्य ज्ञान की दीक्षा का अधिकारी है। जो आस्तिक है, दानशील है, दाता है एवं सब ही के हित साधन

में लगा रहता है किसी को भी अपनी ओर से धोखा देकर धनादि से वञ्चित नहीं करता है जो विश्वासी है, विनययुक्त है, ऐसा पुरुष ही ज्ञान की दीक्षा का अधिकारी है। जो विचक्षण पुरुष उत्साह-रूप बल से असाध्य का साधन करता है एव अपनी अनुकूल-क्रिया, तपस्या में प्रमाद रहित होकर लगा रहता है, ऐसा शूरवीर पुरुध ही ब्रह्मज्ञान की दीक्षा का योग्य अधिकारी है,

हितं सत्यं मितं स्मरेत् भाषणं मुक्तदूषणम् ।
सकृदुक्तगृहीतार्थं चतुरँ बुद्धिविस्तरम् ॥७॥

स्वस्ततौ परनिन्दायां विमुखं सुमुखं प्रिये ।
जितेन्द्रियं सुसन्तुष्टं धीमन्त ब्रह्मचारिणम् ॥८॥

त्यक्ताधिव्याधिचापल्यदुःखभ्रान्तिमसशयम् ।
गुरुध्यानस्तुतिकथादेवार्चावन्दनोत्सुकम् ॥९॥

जो पुरुष सब के लिये हितकर, सत्य दूषणरहित, परिमित और आनन्दप्रद भाषण करता है, जो अति बुद्धिमान एवं चतुर है, एक बार कहने से ही अर्थ को समझ जाता है, ऐसा बुद्धिमान शिष्य ही ब्रह्मज्ञान की दीक्षा का अधिकारी है। जो अपनी स्तुति और दूसरों की निन्दा सुनना पसन्द नहीं करता, जो महा प्रसन्न है, जो दूसरों का प्रिय काम करने में सदा तत्पर रहता है, जो जितेन्द्रिय है, सुसन्तुष्ट, बुद्धिमान और ब्रह्मचारी है. ऐसा शिष्य योगदीक्षा का अधिकारी है। जो मनुष्य आधि अर्थात् मनस्ताप, दुश्चिन्तादि अन्त.करण के रोग से एवं व्याधि अर्थात् शारीरिक रोग से रहित है तथा चञ्चलता, चपलता, दुःख, भ्रान्ति और संशय मुक्त है, जो गुरु के ध्यान, स्तुति, कथा तथा देवता के

अर्चन-वन्दन में उत्सुक है, ऐसा पुरुष ही तत्त्वज्ञान की दीक्षा का अधिकारी है।

गुरुदैवतसंभक्त कामिनीपूजक परम्।
नित्यं गुरुसमीपस्थ गुरुसंतोषकारकम् ॥१०॥
मनोवाक्तनुभिर्निन्य परिचर्यासमुद्यतम्।
गुर्वाज्ञापालकं देवि गुरुकीर्तिप्रकाशकम् ॥११॥
गुरुवाक्यप्रमाणज्ञं गुरुशुश्रुषणोरतम्।
चित्तानुवर्तिनं प्रेष्यकारिण कुलनायिके ॥१२॥

जो नित्य गुरु के समीप रहता है एवं हर समय गुरु की प्रसन्नता का ही कार्य करता है, जो गुरु और देवता में सम्यक् भक्ति युक्त होकर महामाया भगवती कुण्डलिनी शक्ति की पूजा में परायण है, वही पुरुष योग दीक्षा का उत्तम अधिकारी है। जो मन, प्राण और शरीर से नित्य परिचर्या करने के लिये उद्यत रहता है एवं गुरु की आज्ञा पालन करता है, ऐसा गुरु की कीर्ति प्रकाश करने वाला शिष्य ही योग दीक्षा का उत्तम अधिकारी है। जो शिष्य गुरु के वाक्य को ही प्रमाण मानता है, गुरु की सेवा शुश्रुषा में ही लगा रहता है एवं गुरु के चित्त की अनुवृत्ति को देख के कार्य करता है। ऐसा उत्तम पुरुष ही तत्त्वज्ञान की दीक्षा का उपयुक्त अधिकारी है।

जाति मान धने गर्ववर्जितं गुरुसन्निधौ।
निरपेक्षं गुरोर्द्रव्ये तत्प्रसादाभिकांक्षिणम् ॥१३॥
जपध्यानादिनिरतं मोक्षमार्गाभिकांक्षिणम्।
इत्यादिलक्षणोपेतं गुरुः शिष्यं परिग्रहेत् ॥१४॥

जो शिष्य गुरु के पास अपने जाति, मान तथा धन का गर्व नहीं करता, गुरु के द्रव्य की अपेक्षा नहीं करता, गुरु की कृपा का कांक्षी होकर रहता है, ऐसा उत्तम पुरुष ही शिष्य होने के योग्य तथा तत्त्वज्ञान की दीक्षा का अधिकारी है। जो पुरुष निरन्तर जप, तप, ध्यान आदि में लगा रहता है, जो केवल मोक्ष-मार्ग की ही कामना करता है, ऐसे सब शुभ लक्षणों से युक्त शिष्य को ही गुरु ग्रहण करे। वही आत्म-ज्ञान की दीक्षा का उपयुक्त अधिकारी है।

शरीरमर्थं प्राणांश्च सद्गुरुभ्यो निवेद्य यः।
गुरुभ्यः शिक्षते योगं शिष्य इत्यभिधीयते ॥१५॥

जो व्यक्ति तन, मन, धन और प्राणों को गुरु के समर्पण करके गुरु से योग सीखता है, वही शिष्य कहलाता है।

असद् गुरु के लक्षण

कामाक्षा तंत्र, तृतीय पटल

क्षयरोगी च दुश्चर्मा कुनखी श्यावदन्तकः।
कर्णान्धः कुसुमाक्षश्च खल्वाटः खञ्जरीटकः ॥१॥
अङ्गहीनोऽतिरिक्ताङ्ग पिङ्गाक्षः पूतिनासिकः।
वृद्धाण्डो वामनः कुब्जः श्वित्रीचैव नपुन्सकः ॥
इत्याद्यैर्देहजैर्दोषैः संयुक्तो निन्दितो गुरुः ॥२॥

श्री महेश्वर ज्ञान की दीक्षा के अयोग्य, त्याज्य एवं निन्दित गुरु के लक्षण कहते हैं जो मनुष्य क्षय रोगी हो, जो चर्म-रोग-फोड़ा, फुन्सी, दाद, खाज से पीड़ित हो, रक्त विकारादि दोष

से जिसके नख विकृत हो गये हों, जिसके नीले व काले दांत हों जो कानों से सुनता न हो, जिसकी आंखें कुसुम की तरह लाल हों, जिसकी दृष्टि-शक्ति विकृत हो गई हो, जो अन्धा हो जिसका शिर खल्वाट हो या शिर के बाल उखड़ गये हों, जो अङ्गहीन हो अथवा जिसका कोई अङ्ग अधिक हो, जिसकी आंखें बिल्ली की सी पिङ्गल हों, जिसकी नाक से दुर्गन्ध आती हो जिसके अण्डकोष बढ़ गये हों, बहुत ही छोटे कद का वामन हो, अथवा कुबड़ा हो, जो श्वेत कुष्ठी हो तथा जो पुरुषत्वहीन नपुन्सक हो, ऐसे किसी भी शारीरिक दोष से संयुक्त अशुभ लक्षण वाला गुरु निन्दित कहलाता है। इसलिये ऊपर कहे हुए शारीरिक दोषों में से किसी भी दोष वाला मनुष्य आत्म-ज्ञान की दीक्षा के लिये गुरु करने योग्य नहीं है।

सस्कार रहितो मूर्खो वेद शास्त्रविवर्जितः।
श्रौतस्मार्त्तक्रियाशून्यः शुष्कभाषः सुकुत्सितः॥
पुरयाजनजीवो च नरो वैद्यश्च कामुकः॥३॥
क्रूरो दम्भी मत्सरी च व्यसनी कृपणः खलः॥
कुसङ्गी नास्तिको भीतो महापातकचिह्नितः॥४॥

जो द्विजातियों के संस्कार, शिखा-सूत्र से रहित और मूर्ख हो जो वेद-शास्त्र के ज्ञान से वर्जित हो, जो श्रौत्र-स्मार्त्त (वेद एवं स्मृत में कहे हुये) क्रिया-क्रम शून्य हो अर्थात् वैदिक कर्म न करता हो या न जानता हो, जो कुत्सित, शुष्क, असभ्य भाषा बोलता हो, जो ग्राम या नगर में यजमानवृत्ति से जीवन निर्वाह करता हो अथवा जो वैद्यकवृत्ति वाला हो, (जैसे कि

आजकल बहुत से वेषधारी साधु लोगो को दवाई देकर अपनी ओर आकृष्ट करते हैं और फिर ज्ञान के लिए गुरु भी बन जाते हैं। जो कामुक, स्त्री के वश में रहता हो, जो बहुत सा खाने वाले, क्रूर प्रकृति वाला, दम्भो, मत्सरी मिथ्यावादी हो। जो चोर, शठ और धूर्त हो तथा गांजा, भांग, सुलफा, अफीम, दारू आदि मादक द्रव्य का व्यसनी हो, जो कृपण, दूसरों का अनिष्ठ करने वाला, खल और पशु प्रकृति वाला हो, जो कुसङ्गी, नास्तिक एवं डरपोक हो और जो महापातक कर्म से चिह्नित हो अर्थात् जिसके पूर्वजन्म अथवा इसी जन्म के महा पाप कर्म से अर्श, गुल्म, भगन्दर, संग्रहणी, प्रमेह, श्वास, यक्ष्मा और कुष्ठादि महारोगों में से कोई रोग हुआ हो।

देवाग्निगुरुविद्यादिपूजाविधिपराङ् मुखः।
सन्ध्यातर्पणपूजादिमन्त्रज्ञानविर्वाजितः ॥
आलस्योपहतो भोगी धर्महीन उपश्रुतः ॥५॥
इत्याद्यैर्बहुभिर्दोषै रागयुक्ततैश्च यत्नतः ॥
वर्जनीयो गुरुः प्राज्ञैर्दीक्षा सुस्थापनादिषु ॥६॥

जो देवता, अग्नि, गुरु आदि की पूजा-विधि से पराङ्मुख हो, जो सन्ध्या, तर्पण, पूजनादि मन्त्र-ज्ञान से रहित हो अथवा जिसने सन्ध्या वन्दनादि नित्य कर्म त्याग दिया हो, जो कोई भी कर्म न करना चाहता हो, महादीर्घ सूत्री हो एवं आलस्य का आश्रय करके रहता हो, जो भोगी, धर्महीन हो और दूसरों का भरोसा करके रहता हो, ऐसे राग-युक्त अनेक दोष वाले

मनुष्य को बुद्धिमान जन वैदिक कर्म और ज्ञान-दीक्षा के लिये गुरू न करे।

व्याधिनो वंशहीनाच्च भार्याहीनात्तथैव च।
मंत्रक्षिप्तात्तथा मंत्र न गृह्णीयात्कदाचन ॥७॥
कर्मणा गर्हितेनैव हन्ति शिष्यधनादिकम्।
शिष्या हितैषिणं लोकं वर्जयेत्तं नराधमम् ॥८॥

जो व्याधि ग्रस्त हो, गृहस्थ होते हुए वंशहीन हो, स्त्री रहित अकेला हो अथवा मन्त्र-जप से जिसका मस्तिष्क विकृत हो, ऐसे गुरू से मन्त्र वा दीक्षा कभी ग्रहण नही करनी चाहिये। जो गुरू प्रलोभन दिखाकर गर्हित कर्म द्वारा शिष्यों का धन अपहरण करता है और शिष्यों का हित साधन करने में समर्थ नहीं है, ऐसे अहित करने वाले अधम मनुष्य को सर्वदा त्याग देना चाहिये।

प्रमादाच्च यदा ताभ्यां दीक्षाविधिमुपाचरेत्।
प्रायश्चित्तं ततः कृत्वा पुनर्दीक्षां समाचरेत् ॥९॥
पूर्वोक्त दोषयुक्तश्चेद्दिव्यो वा वीर एव वा।
तयोरपि न कर्त्तव्याशिष्येण गुरुभावना ॥१०॥
अज्ञानिनं वर्जयित्वा शरणं ज्ञानिनां वृजेत्।

जैसा पहले कहा वैसा दोषयुक्त योग की सिद्धि करा देने वाला, दिव्याचारी या कर्म और मन्त्र की सिद्धि करा देने वाला वीराचारी ही क्यों न हो तथापि शिष्य को उसमें गुरु भावना नहीं करनी चाहिये। शारीरिक, मानसिक एवं व्यवहारिक दोष वालों की योग, मन्त्र एवं औषधि की सिद्धियां देख कर

भूल नहीं जाना चाहिये। ऐसे लोग इसी जन्म में मुक्ति नहीं दे सकते। यदि प्रलोभन में आकर, प्रमाद अथवा भूल से ऐसे गुरु से ज्ञान के लिये दीक्षा ले ली हो तो प्रायश्चित कर लेना चाहिये और पुनर्दीक्षा के लिये किसी ज्ञानी की शरण में जाना चाहिये।

वशिष्ठ कृत तत्त्व सारायण रामगीता

धर्मोद्देशेन लोकेऽस्मिन् गुरुन् गृहणन्ति केचन।
अर्थोद्देशेन केचिच्च कामोद्देशेन केचन ॥१॥
तेषां तत्तत्फला सिद्धो गुरुशुश्रूषणादिकम्।
यथा वृथा तथा मोक्षोद्देशेनाराधनं गुरोः ॥२॥
तस्माद्विधर्मानाचार्यान्पूर्वकांस्त्वं परित्यज।
गौणाचार्यानपि श्वश्रुस्तत्याज जनको ममः ॥३॥

साधारणतया बहुत से लोग गुरु करते हैं परन्तु सभी मोक्ष के लिये ही दीक्षा लेते हैं, ऐसा नहीं है। हर एक मनुष्य की प्रकृति और प्रवृत्ति भिन्न २ है, इसलिये जो जैसा अधिकारी है वह उसी भाव वाले गुरु से मिलता है। सभी लोग मोक्ष नहीं चाहते इस विषय में भगवान् रामचन्द्र हनुमान् जी के प्रति कहते हैं, कि संसार में कोई धर्म के उद्देश्य से गुरु करते हैं, कोई अर्थ एवं कामना प्राप्ति के लिये गुरु सेवा करते हैं। क्वचित् कोई मोक्ष के लिये गुरु से दीक्षा लेते हैं। परन्तु सब की सभी कामना पूर्ण न होने से उनकी गुरु सेवा व्यर्थ होती है। अपने भाव से विरुद्ध, विपरीत धर्म वालों से अभीष्ट की सिद्धि नहीं हो सकती। धर्म, अर्थ और कामना को चाहने वालों के लिये मोक्ष प्रदाता गुरु की सेवा करना व्यर्थ है। मोक्ष प्राप्ति की इच्छा वालों को अर्थ

और कामना प्राप्त कराने वाले गुरु की सेवा करना भी वृथा है, जो लोग सांसारिक भोग-ऐश्वर्य चाहते हैं उनको ज्ञानी महात्माओं से लाभ नहीं होगा, इसलिये वे ज्ञानीगुरु को और ज्ञानीगुरु उनको छोड़ देंगे। जो लोग जिज्ञासु, मुमुक्षु हैं वे भी अर्थ और कामना प्राप्त कराने वाले अज्ञानीगुरु को छोड़ देंगे। और वे गुरु उनको छोड़ देंगे। इसमें ही दोनों का मङ्गल है। यदि वे परस्पर अपने विरुद्ध धर्म वालों से मिलने जायेंगे तो नहीं मिल सकेंगे और बहुत से अनर्थ घटेंगे। इसलिये राजा जनक और उनकी रानी ने अपने भाव के विरुद्ध ऐसे गुरुओं का (जो कि धर्म, अर्थ और कामना की प्राप्ति कराने वाले तो थे, परन्तु मोक्ष देने में समर्थ नहीं थे) त्याग किया था और अपने भाव वाले ज्ञानी गुरु की शरण ली थी। अतएव जिनको जैसी आवश्यकता हो उन्हें वैसे ही गुरु करने चाहियें। अपने भाव के विरुद्ध धर्म वालों को गुरु नही करना चाहियें। शास्त्र में निर्देश किया है कि जो लोग मोक्ष के अभिलाषी हैं, वे गुरुओं द्वारा दीक्षा से जो दैवी गुण प्राप्त होते हैं उन गुणों की प्राप्ति तक, चाहे जितने गुरु कर सकते हैं। परन्तु जिन गुरु की दीक्षा से शास्त्र कथित दैवी शक्ति का विकास हो जाये। उनका आश्रय करके रहे। उन को त्यागना शिष्य के लिये महापाप है। अज्ञानी गुरु को करना हीं पाप है और त्यागना ही मङ्गल है।

कामाक्षा तंत्र, तृतीय पटल

सर्वेषां भुवने सत्यं ज्ञानाय गुरुसेवनम् ।
ज्ञानान्मोक्षमवाप्नोति तस्माज्ज्ञानं परात्परम् ॥१॥

अतो यो ज्ञानदाने हि न क्षमस्तं त्यजेद्गुरुम् ।
अन्नाकांक्षी निरन्नं च यथा संत्यजति प्रिये ॥२॥
मधुलुब्धो यथा भृङ्गः पुष्पात्पुष्पान्तरं व्रजेत् ।
ज्ञानलुब्धस्तथाशिष्यो गुरोर्गुर्वन्तरं व्रजेत् ॥३॥

श्री महेश्वर कहते हैं कि संसार में ज्ञान के लिये ही सब कोई गुरु सेवा करते हैं। ज्ञान से ही परम शान्ति और मोक्ष की प्राप्ति होती है; इसलिए ज्ञान ही सर्व श्रेष्ठ पदार्थ है। अतएव जो गुरु ज्ञान देने में असमर्थ है उसका परित्याग करना चाहिये। जैसे क्षुधार्त्त अन्नाकांक्षी व्यक्ति भोजन न दे सकने वाले को त्याग देता है, तैसे ही जिससे ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती ऐसे गुरु को शिष्य भी त्याग ही देता है। जैसे मधुमक्षिका मधु रहित पुष्प पर बैठने पर भी उसका परित्याग करके अन्य मधुयुक्त पुष्प पर बैठती है, वैसे ही शिष्य भी अज्ञानी गुरु को त्याग कर ज्ञानार्थ ज्ञानवान् गरु का आश्रय ग्रहण करे।

कुलार्णव तंत्र तथा वायवीय संहिता, अ० १५

अनभिज्ञगुरुं प्राप्तः सदा संशयकारकम् ।
गुर्वन्तरं तु गत्वा स नैतद्दोषेण लिप्यते ॥१॥
यत्रानन्दः प्रबोधो वा नाल्पमप्युपलभ्यते ।
वत्सरादपि शिष्येण सोन्यं गुरुमुपाश्रयेत् ॥४६॥
गुरुमन्यं प्रपन्नोऽपि नावमन्येत पूर्वकम् ।
गुरो र्भ्रातॄन्तथा पुत्रान्बोधकान्प्रेरकानपि ॥४७॥

अनभिज्ञ, अज्ञानी और सशयकारक गुरु कर लिया हो तो उसका त्याग करके दूसरे गुरु के पास जाने में शिष्य को गुरु-

त्याग-जनित दोष नहीं लगता है। अतएव जिस गुरु की दीक्षा से शिष्य एक वर्ष के अन्दर पूर्व कथित शक्तिपात के लक्षणों को थोड़ा-बहुत भी प्रत्यक्ष अनुभव न कर सके तो उस गुरु को त्याग कर अन्य गुरु से दीक्षा ग्रहण करे। पर दूसरे गुरु की शरण में जाने पर भी पूर्व गुरु, गुरु के भ्राता एवं गुरु-पुत्र इत्यादि बोधक, प्रेरक गुरुओं का अनादर न करे वरन् उनका यथायोग्य सम्मान करते रहे।

सदगुरु के लक्षण

कुलार्णव तंत्र त्रयोदश, उल्लास

श्रीगुरुः परमेशानि शुद्धवेशो मनोहरः।
सवलक्षणसम्पन्नः सर्वावयवशोभितः ॥१॥
सर्वागमार्थतत्त्वज्ञः सर्वतन्त्रविधानवित्।
लोकसम्मोहनाकारो देववत् प्रियदर्शनः ॥२॥
सुमुखः सुलभः स्वच्छो भ्रमसंशयनाशकः।
इङ्गिताकारवित् प्राज्ञः ऊहापोहविचक्षणः ॥३॥

अब श्री महेश्वर भगवती से योग दीक्षा के उपयुक्त सामर्थ्यवान् गुरू के लक्षण कहते हैं। जिसका वेश शुद्ध वस्त्र से सुशोभित एवं मनोहर हो, जो शारीरिक सब अवयव से सुन्दर तथा सर्व शुभलक्षण-सम्पन्न हो, जो सब शास्त्रों के अर्थ का तत्त्व जानता हो, एवं शास्त्र कथित क्रिया-क्रर्म की व्यवस्था विधान को जानता हो, जिस पर लोग मोहित हों, जो पास में आने वाले सभी को प्रसन्न कर देता हो, देववत् प्रिय दर्शन हो, जो

प्रसन्न वदन हो, शास्त्र के सिद्धान्त के अनुकूल और प्रतिकूल विचार में विचक्षण हो, जो इशारे से ही तत्त्व को समझा सके, जिसके कथन से कठिन से कठिन विषय भी सहज ही समझ में आ जायें और भ्रम संशय दूर हों, ऐसा उत्तम पुरुष ही तत्त्व-ज्ञान की दीक्षा का उपयुक्त गुरु है।

अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिः सर्वज्ञो देशकालवित् ।
आज्ञासिद्धिस्त्रिकालज्ञो निग्रहानुग्रहक्षमः ॥४॥

वेधको बोधकः शान्तः सर्वजीवदयाकरः ।
स्वाधीनेन्द्रियसञ्चारः षड्वर्गविजयप्रदः ।५॥

अग्रगण्योऽतिगम्भीरः पात्रापात्रविशेषवित् ।
शिवविष्णुसमः साधुमनुभूषणभूषितः ॥६॥

जिसकी दृष्टि बाहर रहते हुए भी लक्ष्य अन्तर में होता है, जो सर्वज्ञ एवं देश-काल को जानने वाला त्रिकालदर्शी है, सिद्धियां जिसकी आज्ञा में हैं। जिस किसी को जो आज्ञा देता है सो सिद्ध होती है। जो पुरुष कृपा करने और दण्ड देने में समर्थ है और अपना सामर्थ्य जब चाहे देकर ले सकता है, जिसकी आज्ञा चक्र में स्थिति रहती है, जो पुरुष आत्म सामर्थ्य से दूसरों में शक्ति-संचार करता है एवं ज्ञान का बोध कराता है। जो शान्त है, सब जीवों पर दया करता है, जिसने षड्रिपु को जीत लिया है, जितेन्द्रिय है। जो सब कार्य में अपना प्रथम स्थान रखता है, अति गम्भीर है, पात्रापात्र की विशेषता को जानता है। जिसकी शिव-विष्णु में सम बुद्धि है, जो साधु के भूषण सद्गुणों से भूषित है, ऐसा उत्तम पुरुष ही योग दीक्षा

के लिए योग्य गुरु है।

निर्ममो नित्यसन्तुष्टः स्वतंत्रोऽनन्तशक्तिमान् ।
सद्भक्तवत्सलोधीरः कृपालुः स्मितपूर्णवाक् ॥७॥
नित्येनैमित्तिकेकाम्ये रतः कर्मण्यनिन्दिते ।
रागद्वेषभयक्लेशदम्भाहङ्कारवर्जितः ॥८॥
स्वविद्यानुष्ठानरतो धर्मज्ञानार्थदर्शकः ।
यदृच्छालाभसन्तुष्टो गुणदोषविभेदकः ॥६॥

जो पुरुष ममता रहित, नित्य सन्तुष्ट स्वतन्त्र और अनन्त शक्ति वाला है। जो सद्भक्तों में स्नेह सम्पन्न, धीर कृपालु तथा हास्यपूर्ण सुखप्रद वाणी बोलता है, जो राग, द्वेष, भय, क्लेश, दम्भ, अहङ्कार से रहित होकर, नित्य, नैमित्तिक तथा अनिन्दित काम्य-कर्म में रत है। जो पुरुष अपने विद्या अनुष्ठान में नियुक्त रह कर धर्म और ज्ञान के अर्थ को दर्शाता है तथा दोष और गुण के विशेष भेद को समझाता है जो दैव इच्छा से प्राप्त आय में ही संतुष्ट है, ऐसा उत्तम पुरुष ही ब्रह्म-ज्ञान की दीक्षा के लिये योग्य गुरु है।

स्त्री धनादिष्वनासक्तो दुःसंगो व्यसनादिषु ।
सर्वाहम्भावसन्तुष्टो निर्द्वन्दो नियतव्रतः ॥१०॥
अलोलुपोह्यसंगश्चऽपक्षपाति विचक्षणः ।
निःसंगोनिर्विकल्पश्च निर्णीतात्मातिधार्मिकः ॥११॥
तुल्यनिन्दास्तुतिमौनी निरपेक्षो नियामकः ।
इत्यादिलक्षणोपेतः श्रीगुरुः कथितः प्रिये ॥१२॥

जो पुरुष स्त्री तथा धनादि में आसक्ति रहित है, बुरे सङ्ग और व्यसनों में जिसकी प्रवृत्ति नहीं है, जो निर्द्वन्द्व, नियत व्रत-संयमी और अपने में ही सन्तुष्ट है, जो तृष्णा रहित सङ्कल्प शून्य है, जो कभी पक्षपात नहीं करता, ऐसा विचक्षण, सङ्ग रहित, विकल्प शून्य है, जिसने आत्म-तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया है, जो अति धार्मिक है, निन्दा और स्तुति को समान समझता है एवं मननशील है, जो किसी की अपेक्षा नहीं करता, जो अपने आत्म-बल से दूसरों को नियन्त्रित करता है, ऐसा शुभ लक्षण युक्त पुरुष ही आत्म-ज्ञान की दीक्षा के लिये उपयुक्त गुरु है।

गुरु साक्षात शिव रूप है

यः शिवः सर्वगः सूक्ष्मो निष्कलश्चोन्मनाव्ययः।
व्योमाकारो ह्यजोऽनन्तः सकथं पूज्यते प्रिये ॥१३॥
अतएव शिवः साक्षाद् गुरु रूपं समाश्रितः।
भक्तया सम्पूजयेद्देवि भुक्ति मुक्ति प्रयच्छति ॥१४॥
शिवोऽहमाकृतिर्देवि नर दृग्गोचरो न हि।
तस्मात् श्रीगुरुरूपेण शिष्यान् रक्षति सर्वदा ॥१५॥

जो परमात्मा शिव, अनन्त, अव्यय, अज, निष्कल, व्योमाकार, मन रहित सर्वत्र सूक्ष्म है, वह कैसे पूजा जा सकता है? अतएव साक्षात् शिव ही गुरु रूप का आश्रय करके भक्ति द्वारा पूजित होता है और भुक्ति तथा मुक्ति देता है। मेरी शिव रूप आकृति मनुष्य के दृष्टि गोचर नहीं हो सकती, इसलिये गुरु रूप को धारण करके मैं ही शिष्यों की सर्वदा रक्षा करता हूँ।

मनुष्यचर्मणा बद्धः साक्षात्परशिवः स्वयम् ।
स्वशिष्यानुग्रहार्थाय गूढं पर्य्यटति क्षितौ ॥१६॥
सद्भक्तरक्षणायैव निराकारोऽपि साकृतिः ।
शिवः कृपानिधिर्लोके संसारीवविचेष्टितः ॥१७॥
नरवद् दृश्यते लोके श्री गुरुः पाप कर्मणा ।
शिववद् दृश्यते लोके भवानि पुण्यकर्मणा ॥१८॥

साक्षात् परशिव स्वयं मनुष्यरूप से अपने शिष्यों पर अनुग्रह करने के लिये अपने को छिपाकर पृथ्वी पर विचरते हैं। वही परम शिव, निराकार होते हुए भी, सद्भक्तों की रक्षा करने के लिये गुरु रूप साकार बनकर कृपानिधि संसारी के सदृश चेष्टा करते हुये दीख पड़ते हैं। पाप कर्म वाले लोग गुरु को मनुष्य रूप से देखते हैं, परन्तु पुण्य कर्म वाले लोग श्री गुरु को शिव रूप से देखते हैं।

श्री गुरुं परमं तत्त्वं तिष्टन्तं चक्षुरग्रतः ।
मन्दभाग्या न पश्यन्ति ह्यन्धाः सूर्यमिवोदितम् ॥१९॥
गुरुः सदा शिवः साक्षात्सत्यमेव न संशयः ।
शिवरूपी गुरुर्नोवेद्भुक्ति मुक्ति ददाति कः ॥२०॥
सदा शिवस्य देवस्य श्री गुरोरपि पार्वति ।
उभयोरन्तरं नास्ति यः करोति स पातकी ॥२१॥

साक्षात् परमतत्त्वस्वरूप श्री गुरू को नेत्र के सामने प्रत्यक्ष रहते हुये भी भाग्यहीन मनुष्य नहीं देखते, जैसे अन्धे लोग उदय हुए सूर्य को नहीं देखते। अतएव यह सत्य है कि गुरु ही

साक्षात् सदा शिव रूप हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। क्योंकि यदि गुरु ही सदा शिव रूप न होते तो भुक्ति और मुक्ति कौन दे सकता ? इसलिये सदा शिव और श्री गुरु देव इन दोनों में कोई भेद नहीं है, परन्तु जो लोग भेद देखते हैं वे पापी हैं।

देशिकाकृतिमास्थाय पशुपाशानशेषतः।
छित्त्वा परं पदं देवि नयत्येवमतो गुरुः ॥२२॥
शिवरूपं समास्थाय पूजां गृह्णाति पार्वति।
गुरुरूपं समादाय भवपाशान्निकृन्तयेत् ॥२३॥
सर्वानुग्रहकर्त्तृत्वादीश्वरः करुणानिधिः।
आचार्यरूपमास्थाय दीक्षया मोक्षयेत् पशून् ॥२४॥

गुरु ही उपदेशकरूप को ग्रहण करके जीव के बन्धनों को जड़ से काट कर परम पद को प्राप्त कराते हैं, क्योंकि सब के ऊपर अनुग्रह करने वाले करुणानिधि ईश्वर ही आचार्यरूप धारण करके दीक्षा द्वारा जीव को मुक्ति प्राप्त कराते हैं। वही शिव गुरु रूप में स्थित होकर पूजा ग्रहण करते हैं और गुरु-रूप ग्रहण करके संसार बन्धन का नाश करते हैं।

प्राणतोषणी तन्त्र, षष्ठ काण्ड, परिच्छेद ३

नाना विकल्प विभ्रान्ति नाशन्तु कुरुते च यः।
सद्गुरुः स तु विज्ञेयो न तु स्वैरप्रजल्पकः ॥१॥
अतएव महेशानि सद्गुरुः स शिवोदितः।
सत्यवादी सत्यशीलो गुरुभक्तो दृढव्रतः ॥२॥
स्वल्पाचाररतात्मानो दानादिशीलसंयुतः।
कापट्यलोभविन्यासी महावंश समुद्व ॥३॥

इदृशः सद्गुरुस्तस्य संगतो यत्नवान्भवेत् ।
तदेव मनसा शान्तिं प्राप्नोति परमं पदम् ॥४॥

श्री महेश्वर कहते हैं कि जीव के बन्धन का मूल कारण मन के ही संकल्प-विकल्प हैं । विकल्प रूप भ्रान्ति के उदय से बन्धन और उसके अस्त से चित्त लय होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है । इसलिये जो गुरु शिष्य के चित्त को लय (समाधि) अवस्था में पहुंचा कर नाना विकल्प रूप भ्रान्ति का नाश करने में समर्थ हैं, उनको ही सद्गुरु जानना चाहिये । शास्त्र की बातें बहुत बनाने वाला मनुष्य गुरु नहीं होता है । इसलिये हे महेशानि ! मैंने स्वयं सद्गुरू के लक्षण कहे हैं कि सद्गुरू सत्यवादी, सत्य-शील, गुरु भक्त, दृढ़ व्रत, सूक्ष्म आचार वाले और आत्म-रत, दानादि गुणों से युक्त, कपट तथा लोभादि से रहित और उत्तम कुल में उत्पन्न हुए होते हैं मनुष्य को चाहिए कि ऐसे लक्षण देखकर सद्गुरु को पहिचान लेवे और यत्नपूर्वक उनका सत्संग करे । तभी उनकी कृपा से मन की शान्ति और परम पद की प्राप्ति होती है ।

गौतमीय तंत्र

विष्णोः सम्पर्कः सम्यक् त्रिविधोत्पातपातकर्मणि ।
षट् चक्र-भेद कुशलः षडध्व-ज्ञान-पारगः ॥
पिण्डे पदे तथा रूपे रूपातीते विवेचकः ॥१॥
संध्यात्रयविशेषज्ञो ह्याध्वषट्क-विशोधकः ।
मंत्र चैतन्य विज्ञाता गुरुभक्तः स्वयंभुवः ॥२॥

मंत्र तंत्रार्थं चैतन्यः कुण्डलिगति वेदकः।
मंत्र सिद्धान्तविधिवत् गुरुर्भवति नापरः ॥३॥

आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक त्रिताप से संतप्त सांसारिक मनुष्यों को सम्यक् रूप से जो सद्गुरु श्री विष्णु भगवान की शरण में पहुंचा देते हैं, जो सुषुम्ना मार्ग में स्थित षट् चक्रों का भेदन करने में कुशल हैं और षडध्व, अर्थात् वर्ण पद, मंत्र-कला, भुवन और तत्त्व के ज्ञान में पारंगत हैं और पिंड कुण्डलिनी शक्ति, पद, हंस-रूप-बिन्दु एव रूपातीत परब्रह्म का विवेचन करने की क्षमता रखते हैं, संध्या त्रय के विशेष ज्ञान को ज़ानते हैं, जो षड् चक्र के मार्ग की शुद्धि रखने में समर्थ हैं, मंत्र चैतन्य के जानने वाले हैं, ऐसे पुरुषों को मुझ स्वयंम्भू ने गुरु कहा है। मंत्र तथा तंत्र के रहस्य को, उनके चैतन्य भाव की जागृत कुण्डलिनी शक्ति की गति को और मंत्र सिद्धि के साधन के कौशल को जो विधिवत् जानते हैं, वे ही गुरु हैं और दूसरे मनुष्य गुरु नहीं हो सकते।

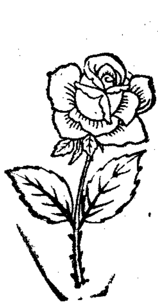

दशम प्रकाश

दीक्षा का स्थान

मंत्र योग संहिता

गोशालायां गुरोर्गेहे देवागारे च कानने ।
पुण्यक्षेत्रे तथोद्याने नदीतीरे च दीक्षणम् ।।१।।
धात्रीविल्वसमीपे च पर्वताग्रगुहासु च ।
गङ्गायास्तु तटे वापि कोटिगुणं फलं भवेत् ।।२।।
अथवा गुरुरेवास्य दीक्षयेद् यत्र तच्छुभम् ।
गुरोः परतरं नास्ति तद्वाक्यं श्रुतिसन्निभम् ।।३।।

जिस दीक्षा से गुरु शिष्य को आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध कराते हैं। उसको ग्रहण करने के लिये शास्त्र में स्थान और समय का विधान है। इसलिये उत्तम स्थान और उत्तम समय में दीक्षा ग्रहण करने से शिष्य के सब अभीष्ट की सिद्धि होती है।

दीक्षा के लिये प्रशस्त स्थान-गोशाला, गुरु गृह (जहां गुरु निवास करते हों) देवालय, वन (एकान्त अरण्य), पुण्य क्षेत्र (तीर्थ स्थान) अथवा उद्यान (बगीचा) या नदी के तट पर दीक्षा होनी चाहिये अथवा आंवला एवं विल्ववृक्ष के नीचे हो सकती है, पर्वत पर अथवा गुफा में दीक्षा लेनी चाहिये अथवा गंगा के तट पर किसी भी स्थान में दीक्षा ग्रहण करने का बड़ा पुण्य है, इसलिये गङ्गा तट में दीक्षा लेना सर्वोत्तम है, क्योंकि गंगा तट के सभी स्थान तीर्थ रूप हैं, परन्तु गुरु इच्छा करके

जहां कहीं दीक्षा दें वही स्थान सर्व श्रेष्ठ है, क्योंकि गुरु से बढ़ कर कोई तीर्थ नहीं है। उनका वाक्य ही वेद वाक्य तुल्य है।

दीक्षा का समय

मन्त्र योग संहिता तथा तत्त्वसागर

यदि भाग्यवशेनैव सिद्धो हि पुरुषो मिलेत् ।
तदैव दीक्षां गृह्णीयात् त्यक्त्वा कालविचारणाम् ।।१।।

दुर्लभे सद्गुरुणाञ्च सकृत् संग उपस्थिते ।
तदनुज्ञा यदा लब्धा स दीक्षावसरो महान् ।।
यदैवेच्छा तदा दीक्षा गुरोराज्ञानुरूपतः ।।१।।

न तीर्थं न व्रतं होमो न स्नानं न जपक्रिया ।
दीक्षायाः कारणंकिन्तु स्वेच्छा प्राप्तेतु सद्गुरौ ।।२।।

साधारणतया शास्त्र के कथनानुसार व्यवहार में प्रायः लोग यज्ञोपवीत, विवाह आदि शुभकर्म में तिथि, वार, नक्षत्र, लग्न योग, करण से मुहूर्त देखकर कार्य करते हैं। तीर्थयात्रा, यज्ञ, दान, तप, जप, दीक्षा आदि महाशुभ कर्म में भी शुभाशुभ काल का निर्णय करके कार्य करते हैं। अच्छे काल में, अच्छे तिथि, वार, नक्षत्र में अपनी नाम राशि के अनुसार किये हुए शुभकर्म का अनुष्ठान निर्विघ्नता से सपन्न होता है और उनका वाञ्छित फल इच्छानुसार मिलता है, इसलिये ज्योतिष द्वारा कालाकाल का निर्णय करके सब धर्म-कर्म किये जाते हैं और करने भी चाहिये। जो कुछ भी हो परन्तु, यदि सौभाग्यवश गुरु सिद्ध पुरुष मिल जायें तो कालाकाल का विचार न करके

उनसे दीक्षा ग्रहण कर लेनी चाहिये, क्योंकि जिस समय सद्गुरु का दुर्लभ संग मिल जाये और जब वे प्रसन्न होकर कृपा करने के लिये तैयार हो जायें एवं शिष्य को दीक्षा के लिये अनुमति दे दें वही अवसर शिष्य की दीक्षा के लिये श्रेष्ठ समय है अतएव गुरु के आज्ञानुसार जब गुरु शिष्य दोनों की इच्छा हो तभी दीक्षा हो सकती है। स्वयं गुरु कृपा करते हैं तो गुरु की कृपा लाभ करने में कालाकाल का कोई नियम नहीं है।

सामर्थ्य वाले गुरु शास्त्रों और लौकिक व्यवहार के विधि-निषेध से परे होते हैं और जिनपर कृपा करते हैं उन्हें भी विधि निषेध के बन्धन से छुड़ा देते हैं। ऐसे गुरु भाग्य से ही क्वचित् किसी को प्राप्त होते हैं; इसलिये साधारणतया लोग सामर्थ्य-हीन बाह्य क्रियाकर्म करने वाले गुरुओं से ही दीक्षा लेते हैं और शास्त्र कथनानुसार दीक्षा के पूर्व पवित्र तीर्थादि स्थान देखते है और दीक्षार्थ व्रत लेकर स्नान, जप, पूजा, हवन आदि बहुत सी बाह्य क्रिया करते हैं। परन्तु ये सब वास्तविक दीक्षा के मुख्य कारण नहीं हैं। सद्गुरु की कृपा होने से शिष्य को प्रायश्चित् के लिये तीर्थ, स्नान, व्रत, जप, हवनादि क्रिया करने की आवश्यकता नहीं होती। सद्गुरु प्राप्त होने से शिष्य पर गुरु की कृपा और उनकी इच्छा ही दीक्षा का कारण है।

संमोहन तंत्र

शिष्यानाहूय गुरुणा कृपया यदि दीयते।
तदा लग्नादिकं किञ्चिन्न विचार्यं कथञ्चन ॥१॥
सर्वेवारा ग्रहाः सर्वे नक्षत्राणि च राशयः।
यस्मिन्नहनि सन्तुष्टो गुरुः सर्वे शुभावहाः ॥२॥

गुरु यदि कृपा करके शिष्य को अपने पास में बुलाकर दीक्षा देवें तो लग्न, तिथि, वार, ग्रह, नक्षत्र, राशि आदि मुहूर्त के लिये किसी प्रकार का भी विचार कभी नहीं करना चाहिये। क्योंकि जिस रोज गुरुदेव सन्तुष्ट होकर दीक्षा देते हैं, वही रोज, तिथि, वार, ग्रह, नक्षत्र, राशि आदि सब यदि निषिद्ध हों तो भी गुरु की कृपा से वे सब शिष्य के लिये शुभ हो जाते हैं।

शाक्तानन्द तरंगिणी

लग्ने वाप्यथवाऽलगने यत्र तत्र तिथावपि ।
गुरोराज्ञानुरूपेण दीक्षा कार्यं विशेषतः ।।१।।
न तिथि न व्रतं पूजा न सन्ध्या न जपक्रिया ।
दीक्षायां कारणं ज्ञानं स्वेच्छा प्राप्ते च सद्गुरौ ।।२।।
सर्वे वारा ग्रहाः सर्वे नक्षत्राणि च राशयः ।
यस्मिन्नहनि सन्तुष्टो गुरुः सर्वे शुभावहाः ।।
यदैवेच्छा तदा दीक्षा गुरोराज्ञानुरूपतः ।।३।।

इसलिये सामर्थ्य वाले गुरु की आज्ञानुसार शुभ-अशुभ लग्न में अथवा किसी भी तीर्थ में गुरु की आज्ञानुरूप विशेष-रूप से दीक्षा-कार्य सपन्न होना चाहिये। उसमें शुभ तिथि, व्रत, पूजा की भी आवश्यकता नहीं होती और न स्नान, संध्या, तर्पण, जप, हवनादि क्रियाओं की आवश्यकता है, क्योंकि ये सब ब्राह्य साधन ज्ञान के कारण नहीं हैं अतएव देश, काल, तिथि, वार एवं स्नान, संध्या, पूजा, हवनादि लौकिक क्रियाओं की ज्ञान अपेक्षा नहीं करता, सिद्ध पुरुष की कृपा दीक्षा ही ज्ञान का कारण है। जिस दिन गुरु प्रसन्न होकर दीक्षा देते हैं और

शिष्य ग्रहण करता है वही दिन, तिथि, वार, नक्षत्र, ग्रह, राशि आदि सब शिष्य का मंगल-विधान करते हैं। गुरु कों दीक्षा देने और शिष्य की ग्रहण करने की इच्छा जब हो वही दिन गुरु की कृपा का महा उत्तम समय समझना चाहिये। गुरु और शिष्य की इच्छा हो दीक्षा का शुभ समय है।

दीक्षा ग्रहण की विधि

वायवीय संहिता अध्याय १४

उपगम्य गुरुं विप्रमाचार्यं तत्त्ववेदिनम्।
जापिनं सद्गुणोपेतं ध्यानयोगपरायणम् ॥३॥
तोषयेत् तं प्रयत्नेन भावशुद्धिसमन्वितः।
वाचा च मनसाचैव कायेन द्रविणेन च ॥४॥
आचार्यं पूजयेत् शिष्यः सर्वदा हि प्रयत्नतः।
हस्त्यश्वरथरत्नानि क्षेत्राणि च गृहाणि च ॥५॥
भूषणानि च वासांसि धान्यानि च धनानि च।
एतानि गुरवे दद्यात् भक्त्या च विभवे सति ॥६॥

सब सद्गुणों से युक्त, महासामर्थ्य वाले, जप, तप, ध्यान, योग-परायण, तत्त्व को जानने वाले गुरु के पास जाकर शुद्ध मन से कर्मणा, मनसा, वाचा, तन, मन और धन से प्रयत्न करके गुरु की सदा प्रसन्नता लाभ करने के लिये दीक्षा के पूर्व शिष्य कों विशुद्ध भाव से गुरु का पूजन करना चाहिए और अपनी योग्यता एवं सामर्थ्य हो तो भक्तियुक्त होकर हाथी, घोड़ा, रत्न, रथ, क्षेत्र, गृह, आभूषण वस्त्र धान्य और धन आदि वैभव देकर गुरु की सेवा करनी चाहिये।

शिष्य का कर्तव्य

वित्तशाठ्यं न कुर्वीत यदीच्छेत् सिद्धिमात्मनः ।
पश्चान्निवेदयेद्देवि स्वात्मानं सपरिच्छदम् ।।७।।
एवं संपूज्य विधिवद् यथाशक्ति त्ववञ्चयन् ।
आददीत गुरोर्मन्त्रं ज्ञानञ्चैव क्रमेण तु ।।८।।

यदि शिष्य अपने आत्मा का कल्याण चाहता है तो जैसा कहा वैसा सामर्थ्य हो तो सेवा करे धन आदि वैभव से सेवा करने की शक्ति न हो तो पत्र, पुष्प, फल, जल जो कुछ हो लेकर अनन्य भाव से गुरु की शरण ग्रहण करे। परन्तु धन होते हुए कभी अभाव न दिखावे। गुरु को अभाव दिखाने से किसी धर्म-कर्म की सिद्धि नहीं होती है। इसलिये गुरु के पास किसी भी प्रकार की आत्म-प्रतारणा न करके एवं कपट रहित होकर, अपने आप जैसा है वैसा ही प्रकट करते हुए, यथाशक्ति विधिवत् पत्र, पुष्प से गुरु का पूजन करे, पश्चात् सरल मन से अपने वास्तविक भाव, कर्म-अकर्म, पाप-पुण्य जो कुछ किये हैं और करने की इच्छा है, वे सब गुरु के सन्मुख निवेदन करके उनके मन का सन्तोष साधन कर, उनसे दीक्षा मंत्र ग्रहण कर क्रम से लाभ करे।

कुलार्णव तंत्र

भक्त्या तुष्टेन गुरुणा यः प्रदिष्टः कृपालुना ।
कर्ममुक्तो भवेच्छिष्यो भुक्तिमुक्त्योः स भाजनम् ।।१।।
गुरुसन्तोषमात्रेण सिद्धिर्भवति शाश्वती ।
अन्यथा नैव सिद्धिः स्यादभिचाराय कल्पते ।।२।।

आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित् ।
न मर्त्यबुद्धयाऽसूयेत सर्वदेवमयो गुरुः ॥२७।१७

भक्ति से प्रसन्न होने वाले कृपालु गुरु शिष्य को दीक्षा देंगे तभी तो शिष्य गुरुप्रदत्त योग-साधना से कर्ममुक्त होकर मुक्ति और भुक्ति प्राप्त करने में समर्थ होगा। इसलिये शिष्य को गुरु की कृपा लाभ करना परम आवश्यक है, क्योंकि गुरु के संतुष्ट होने से ही सब कर्म-धर्म की सिद्धि और शाश्वती मुक्ति होती है। बिना गुरु की प्रसन्नता के कोई सिद्धि नहीं होती। गुरु के असन्तुष्ट रहने से शिष्य को सब कर्म-धर्म द्वेष और दोष रूप विपरीत बुद्धि हो जाती है, जिससे साधक का पतन होता है। अतएव गुरु को साक्षात् भगवान का रूप जानना, उनका कभी अनादर नहीं करना और न गुरु को मनुष्य समझ कर उनकी किसी प्रकार की अवहेलना करना। क्योंकि गुरु सर्व देवमय मेरा स्वरूप है, इसलिये शिष्य को चाहिए कि दीक्षा ग्रहण के पश्चात् भी गुरु का सर्वथा अनुगामी रहे और उनकी प्रसन्नता के लिये सर्वथा तत्पर होकर सेवापरायण रहे।

वृहन्नील तंत्र तथा गौतमीय तंत्र

त्रिदिनं निवसेद् भक्त्या सिद्धये गुरुसन्निधौ ।
अन्यथा तद्गतं तेजो गुरुमेति न संशयः ॥१॥

तस्य छायानुसारी च निकटे त्रिदिनं वसेत् ।
न चेत् सञ्चारिणी शक्तिर्गुरुमेति न संशयः ॥१॥

दीक्षा लेकर शिष्य को चाहिये कि सिद्धि-प्राप्ति के लिये दीक्षा-ग्रहण के बाद भी कम से कम तीन दिन भक्तियुक्त होकर गुरु के पास में रहे, नहीं तो गुरु का तेज दीक्षा द्वारा शिष्य में प्रवेश कर गया वह निस्सन्देह गुरु में फिर वापिस आ जाता है। इसलिए दीक्षा के बाद भी तीन दिन, पांच दिन, सात दिन अथवा जब तक अपनी क्रिया शक्ति का अच्छी तरह विकास न हो तब तक शिष्य गुरु के समीप उनकी आज्ञानुसार रह कर एकान्त में बैठ कर साधन करता रहे। जब गुरु प्रसन्न होकर कहें और अपनी इच्छा की पूर्ति हो जाये एवं गुरु शक्ति का ज्ञान हो जाये, तब गुरु से विदा लेनीं चाहिये। ऐसा नहीं करने से गुरु की संचारिणी शक्ति गुरु में ही पुनः फिर आ जाती है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। दीक्षा ले कर चले जाने के बाद नित्यप्रति योगाभ्यास नहीं करने से अथवा गुरु के प्रति उदासीन रहने से या गुरु से सम्पर्क न रखने से, गुरु की संचारिणी शक्ति की क्रियायें मन्द हो जाती हैं, शरीर में नाना प्रकार के रोग उत्पन्न करती है और धर्म-कर्म में साधक की विपरीत बुद्धि उत्पन्न करके नष्ट हो जाती है, जिससे दुर्भाग्य होता है। अतएव अपनी साधनोन्नति के लिये आवश्यकतानुसार गुरु से साक्षात् मिलने का समय निर्दिष्ट कर लेना चाहिये। वर्ष में एक मास अथवा एक पक्ष या कम से कम सप्ताह गुरु के निकट वास करने से साधन में यथेष्ठ उन्नति होती है और अपने अभीष्ट की सिद्धि शीघ्र होती है। इसके सिवाय नित्य-प्रति ध्यान द्वारा और पत्र व्यवहार से सर्वदा गुरु के सम्पर्क में रहने से शिष्य के साधन में कोई बाधा विघ्न नहीं होते हैं।

गुरु दक्षिणा

वृहन्नील तंत्र तथा महानिर्वाण तंत्र

गुरवे दक्षिणां दद्यात् प्रत्यक्षाय शिवात्मने।
न चेत् सञ्चारिणी शक्तिः कथमस्य भविष्यति ॥१॥
तत उत्थाय गुरवे यथाशक्त्यनु सारतः।
दक्षिणां स्वे फलं वापि दद्यात् साधकसत्तमः ॥१॥

जिन गुरु की महाशक्ति के प्रभाव से शिष्य अपने में अति ...र्यजनक क्रियाशक्ति का अनुभव करता है, जिनकी कृपा से शिष्य धर्म अर्थ काम और मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ होगा, ऐसे प्रत्यक्ष अनुभव कराने वाले शिवरूप गुरु से दीक्षा लेकर उन्हें दक्षिणा देनी चाहिए। गुरु से दीक्षा लेकर अपने सामर्थ्यानुसार गुरु दक्षिणा नहीं देने से गुरु की सञ्चारिणी शक्ति शिष्य में रह नहीं सकती। यदि रह भी जाये तो शिष्य का अमंगल होता है। इसलिए उत्तम साधक को चाहिये कि दीक्षा-कार्य संपन्न हो जाने पर गुरु से अनुमति ले उठकर अपनी योग्यतानुसार अर्थ, स्वर्ण, वस्त्र अथवा फलफूल यथाशक्ति गुरु को दक्षिणास्वरूप नम्रतापूर्वक भक्तिभाव से अर्पण करे।

गौतमीय तंत्र पटल १३

गुरुवे दक्षिणां दद्याद् वित्तार्ध भक्तितत्परः।
तदर्थं वा ततो दद्याद् यथाशक्त्याथभक्तितः ॥१॥
वित्तशाठ्यं न कुर्वीत कृतेऽनर्थं समाहरेत्।
गोभूहिरण्यवस्त्रादीन् गुरुवेऽथनिवेदयेत् ॥२॥

गुरुपुत्रेऽपि तत्पत्न्यै तच्छिष्येऽपि स्वशक्तितः ।
वस्त्रालङ्करणं दद्याद् भोज्यं मिष्टं यथारुचि ॥३॥

गुरु को दक्षिणा देनी ही चाहिए। न्याय से उपार्जित अपने संचित धन का आधा भाग या चौथाई अथवा यथाशक्ति जो कुछ भी हो सके भक्तिपूर्वक गुरु को अर्पण करे। धन होते हुए अभाव नहीं दिखाना चाहिये। जो लोग वित्त-शाठ्य करते हैं, धन रहने पर भी 'देना पड़ेगा' ऐसी लोभवृत्ति से गुरु को अभाव दिखाते हैं और अपने धर्म-कर्म तथा अपने मन के वास्तविक भावों को गुरु से छिपाते हैं, उनका अनर्थ ही होता है। उन्हें दीक्षाजनित ज्ञान का कोई फल नहीं होता। इसलिये अपनी शक्ति के अनुसार गुरु को गौ, भूमि, सुवर्ण, वस्त्र आदि निवेदन करना चाहिये और गुरु के पुत्र को तथा गुरु की धर्मपत्नी को भी वस्त्र, आभूषण निज शक्ति के अनुसार देना चाहिये। यदि गुरु के स्त्री, पुत्र न हों तो उनके प्रधान शिष्य को देना चाहिये और दीक्षा के दिन सबको यथा रुचि मिष्टान्न भोजन कराना चाहिये।

स्कन्ध पुराण तथा ब्रह्मपुराण

पित्रोरभरणं कृत्वा ह्यदत्त्वा गुरुदक्षिणाम् ।
कृतघ्नताञ्च संप्राप्य मरणान्ता हि निष्कृतिः ॥१॥

विद्यां प्राप्यापि यो मोहात् स्व गुरोः पारितोषिकम् ।
न प्रयच्छन्ति निरयंते यान्त्याचन्द्रतारकम् ॥१॥

जैसे जन्मदाता माता-पिता का भरण पोषण करना पुत्र के लिये परम कर्त्तव्य है तैसे ही संसार बन्धन से मुक्त करने वाले

परम ज्ञान-दाता गुरु की सेवा करना भी शिष्य का परम कर्त्तव्य है। कर्त्तव्य की अवहेलना करके अपने माता-पिता का भरण पोषण नहीं करने से, एवं गुरु से विद्या प्राप्त करके दक्षिणा नहीं देने से मरण पर्यन्त मनुष्य कृतघ्नता दोष से लिप्त रहता है। उस कृतघ्नी का मरण ही निष्कृति है। अतएव जो लोग गुरु से ब्रह्मविद्या प्राप्त कर के मोहवश अपने गुरु को पारितोषिक दक्षिणा नहीं देते वे प्रलय पर्यन्त नरक रूप दुःख भोगते हैं।

वृहदारण्यक उपनिषद् अ० ३-२१

कस्मिन्नु यज्ञः प्रतिष्ठितः दक्षिणायामिति।
कस्मिन्नु दक्षिणा प्रतिष्ठिता, श्रद्धायामिति ॥
यदाह्येव श्रद्धत्ते अथ दक्षिणां ददाति।
श्रद्धायां ह्येव दक्षिणा प्रतिष्ठिता ॥२१॥
दक्षिणा विहिनो यज्ञः सिद्धिदो न च मोक्षदः।
दक्षिणा यज्ञ पत्नी च दीक्षा सर्वत्र पूजिता ॥
यया बिना च विश्वेषु सर्व कर्म च निष्फलम्।

यज्ञ किसमें प्रतिष्ठित है? दक्षिणा में और दक्षिणा किस में प्रतिष्ठित है? श्रद्धा में अर्थात् यज्ञ कैसे फलता है? दक्षिणा देने से और दक्षिणा कैसे फलप्रद होती है? श्रद्धा से फलीभूत होती है। इसलिये यज्ञ करने वाले यजमान वैदिक यज्ञ कराने वाले ब्राह्मणों को श्रद्धापूर्वक दक्षिणा देते हैं, क्योंकि श्रद्धा में ही दक्षिणा प्रतिष्ठित है अतएव श्रद्धा से दी हुई दक्षिणा सभी यज्ञ के फल को देती है। दक्षिणा विहीन यज्ञ न तो वांछित फल देता है और न मोक्षदायक होता है। अतएव शास्त्रकथनानुसार यह

दीक्षा भी एक प्रकार का यज्ञ है। क्रियावती दीक्षा बाह्य यज्ञ है जो बाहर के हवनादि कर्म से संपादित होता है और ज्ञानवती दीक्षा आन्तर यज्ञ है जो गुरु की आत्मशक्ति से संपादित होता है। इसकी दक्षिणा नहीं देने से यह निष्फल होगा, इसलिये दीक्षा की दक्षिणा देनी ही चाहिये। दीक्षा और दक्षिणा ये यज्ञ की पत्नी हैं इनके ही संयोग से यज्ञ वांछित फल देता है, इसलिये संसार में दीक्षा और दक्षिणा के बिना जो कोई धर्म-कर्म किया जाये वह सब निष्फल होता है। अतएव वैदिक यज्ञ कर्म में दीक्षित होकर यज्ञ करके दक्षिणा देकर फल प्राप्त किया जाता है। बिना श्रद्धा और भक्ति के दक्षिणा भी निष्फल होती है।

कुलार्णवतन्त्र तथा वायवीय संहिता

सर्वस्वमपियो दद्यात गुरौ भक्तिविर्वजितः।
शिष्यो न फलमाप्नोति भक्तिरेव हि कारणम् ॥१॥
आज्ञाहीनं क्रियाहीनं श्रद्धाहीनं वरानने।
आज्ञार्थं दक्षिणाहीनं सदा जप्तं च निष्फलम् ॥१॥

जो शिष्य गुरु भक्ति से रहित हैं, वे चाहें अपना सर्वस्व भी गुरु को अर्पण कर देवें तथापि वे दीक्षा का फल नहीं पा सकते, क्योंकि फल प्राप्ति का कारण गुरु भक्ति ही है। इसलिये जो शिष्य गुरु की आज्ञा को नहीं मानता वे और जो क्रिया नहीं करते और श्रद्धाहीन हैं, वे तथा जो गुरु रूप आज्ञा शक्ति ग्रहण करके दक्षिणा नहीं देते ऐसे लोगों के जप, तप आदि कर्म सदा निष्फल होते हैं।

इसलिये शास्त्र कथनानुसार गुरु की सेवा करके प्रसन्नता लाभ की जाये तो गुरु की कृपा का फल पूर्णज्ञान में परिणत होता है एवं शिष्य निर्विघ्नता से अपने अभीष्ट की सिद्धि सहज ही प्राप्त कर लेता है। अन्याय से आत्मप्रतारणा करके, गुरु से महान् उपकार लेके, प्रत्युपकार नहीं करने से, शिष्य में गुरु की संचारिणी शक्ति नष्ट हो जाती है अथवा और ही रूप में परिणत हो जाती है, जिसकी साधना से शिष्य का मन उद्भ्रान्त एवं विक्षिप्त हो जाता है और शान्ति रहित होकर नाना प्रकार के विकल्प पोषण करता है। इसी तरह गुरु भक्ति की अवज्ञा वा तिरस्कार करने से अथवा गुरु में अनास्था होने से शिष्य को शारीरिक, मानसिक और आर्थिक दुःख उपस्थित हो जाता है; एवं बलात्कार से उनके धन का नाश होता है और बहुत सी आपत्तियां आ पड़ती हैं, क्योंकि अन्याय से ग्रहण की हुई दीक्षा के ज्ञान का फल विपरीत हो जाता है।

जिन गुरु की आत्मशक्ति शिष्य में अष्ट प्रहर क्रिया कर रही है, जिन गुरु की शक्ति के स्मरणमात्र से शिष्य को अष्टांग-योग स्वयमेव होता है, जिनकी शक्ति के कार्य से शिष्य के शरीर मन, प्राण, बुद्धि विवश होकर अपना अस्तित्व खो देते हैं, जिन गुरु की शक्ति की साधना में कार्याकार्य का कोई विचार नहीं है, और न तो किसी और गुरु की वा अन्य ज्ञान की आवश्यकता है, शिष्य स्वय अपना गुरु होता है, जिन गुरु की कृपा से साधक संसार में ही सुखपूर्वक रह कर अनायास धर्म, अर्थ, काम मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ होता है, ऐसा महाकल्याणकारी साधन होने वाले निर्व्याज करुणाकर गुरु से दीक्षा लेके यदि शिष्य

प्रत्युपकार में गुरु की कुछ भी सेवा न करे तो वह महादुर्भागी है। वह कैसे सुखी हो सकता है ?

शिष्य को दीक्षा देने से गुरुओं के अपने आत्मतेज की हानि होती है, जैसे सर्प विष के नष्ट होने से बलहीन होता है, और पुरुष वीर्य्य नाश से तेजहीन होता है, तैसे गुरु भी अपने आत्म-सामर्थ्य को व्यय करते रहने से उस समय प्रभाहीन हो जाते हैं, क्योंकि गुरु की दीक्षा से शिष्य के पाप संस्कारों में आघात पहुँचता है एवं उनका नाश होता है; इसलिये वे संस्कार गुरु को आक्रमण करते हैं। गुरु शक्तिमान् हैं इसलिये उनका प्रशमन और नाश भी कर देते हैं, तथापि प्रत्याघात के स्वरूप कुछ समय के लिये गुरु व्याधिग्रस्त भी हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में यदि गुरु कृपा प्राप्त शक्तिमान् शिष्य उनकी सेवा न करे, तो गुरु के मन में उसके प्रति अनास्था और तिरस्कार आता है जिससे शिष्य का अमंगल होता है। गुरु का मन भी दीक्षा व्यापार से उदासीन हो जाता है। गुरुओं में भी एक ही सिद्ध गुरु के बहुत से शिष्य होते हुए भी सभी एक समान शक्ति-सम्पन्न नहीं होते हैं। इसलिये शिष्यों में भी उनकी क्रिया शक्ति के विकास का तारतम्य हो जाता है, जो गुरु सर्व त्यागी हैं एक स्थान में नहीं रहते हैं उन्हें सेवा की आवश्यकता बहुत कम होती हैं, परन्तु जो गुरु गृहस्थी हैं, संसार में रहते हैं—ऐसे पुरुषों को परस्पर सहायता की आवश्यकता होती है, इसलिये शास्त्र में गुरु सेवा करना कहा है। पुराकाल में वशिष्ठादि ऋषि-मुनि और याज्ञवल्क्य आदि योगी गृहस्थी गुरु थे। वर्तमान में बहुत करके साधनसंपन्न शक्ति वाले ही गुरु मिल

सकते हैं परन्तु साधन मुक्त सिद्ध गुरु का मिलना अतीव दुर्लभ है, इसलिये दुर्बुद्धि न करके जिन गुरु से उपकृत हुआ जाये उनका बिना विचार किये प्रत्युपकार करना चाहिये।

गुरु का कर्त्तव्य

वायवीय संहिता अध्याय ११

वृथा परिश्रमस्तस्य निरयवैव केवलम्।
शक्तिपात समायोगाद् ऋते तत्त्वानि तत्त्वतः॥
तद्व्याप्तिस्तद् विशुद्धिश्च ज्ञातमेव न शक्यते॥२७॥

शास्त्र कथनानुसार अपने कल्याण के लिये शिष्य गुरु को तन, मन और धन अर्पण करके केवल उनकी कृपा का कांक्षी होकर रहता है, इसलिए शिष्य तो अपने कर्त्तव्य से मुक्त होता है, परन्तु गुरु का महान् कर्त्तव्य है कि वह भी दीक्षा द्वारा अपने सामर्थ्य से शिष्य को कृतार्थ करें, क्योंकि शिष्य को एक बार ग्रहण करने से गुरु का गुरुत्व भार बढ़ जाता है; इसलिये यदि गुरु शिष्य की सेवा लेकर उसका उद्धार न कर सकें तो महापाप के भागी होते हैं। गुरु का परमकर्त्तव्य है कि शिष्य को मोक्ष-प्राप्ति पर्यन्त सर्वदा काल उसके मन, प्राण की गतिविधि का लक्ष्य करके आवश्यकतानुसार अपने आत्म सामर्थ्य से उसकी सहायता किया करें। शिष्य को दीक्षामात्र देने से ही गुरु का कर्त्तव्य शेष नहीं हो जाता है, किन्तु शिष्य के निर्विघ्नता से अपने अभीष्ट की सिद्धि ज्ञान लाभ करने से ही गुरु का कर्त्तव्य निःशेष होता है। यह कर्त्तव्य पालन करने के लिये गुरु को शक्ति संचार करने का सामर्थ्य होना चाहिये, क्योंकि शिष्य में शक्ति ...

नहीं होने से तत्त्व समूह के यथार्थ स्वरूप तथा व्याप्ति और विशुद्धि एवं वास्तविक ज्ञान को कोई भी शिष्य जान नहीं सकता। यह प्रत्यक्ष सत्य है कि ईश्वर की शक्ति गुरु के मध्य होकर शिष्य में संचारित होती है, तो शिष्य में शक्ति के संपात से ही श्री महेश्वर कथित महायोग का ज्ञान स्वयं प्रकाशित होता है।

वायवीय संहिता अध्याय १५

शक्तिपातनुसारेण शिष्योऽनुग्रहमर्हति।
शैवधर्मानुसारस्य तन्मूलत्वात् समासतः ॥१२॥
यत्र शक्तिर्न पतिता तत्र शुद्धिर्न जायते।
न विद्या न शिवाचारो न मुक्तिर्न च सिद्धयः ॥१३॥
तस्माल्लिङ्गानि संवीक्ष्य शक्तिपातस्य भूयसः।
ज्ञानेन क्रिययावथ गुरुः शिष्यं विशोधयेत् ॥१४॥
योऽन्यथा कुरुते मोहात् स विनश्यति दुर्मतिः।
तस्मात् सर्वप्रकारेण गुरुः शिष्यं परीक्षयेत् ॥१५॥

अतएव शैव धर्म में यह प्रत्यक्ष है कि शिष्य में महेश्वर की शक्ति का प्रकाश ही शिष्य के कल्याण का मूल कारण है, इसलिये शक्ति संचार के अनुसार ही शिष्य फल लाभ करता है। शक्तिपात नहीं होने से शिष्य की शुद्धि नहीं होती और न विद्या होती है और न शैवधर्म का आचार अष्टांगयोग होता है। जहां शक्ति का पात नहीं होता वहां मुक्ति भी नहीं हो सकती और न किसी प्रकार के कर्म धर्म की सिद्धि होती है, इसलिये

गुरु दीक्षा देकर देखें कि शक्तिपात से जो नाना प्रकार की योग क्रियायें तथा आनन्द और प्रबोध होते हैं वे सब लक्षण शिष्य में होते हैं या नहीं। यदि न हुए हों तो चेष्टा करके प्रकाश कर शिष्य को उसका अनुभव कराना चाहिये ताकि शिष्य अपने अनुभव से, गुरु के वाक्य से तथा शास्त्र के प्रमाण से जानकर भ्रान्ति रहित निःसन्देह हो जाये। यह बारंबार गुरु को देख लेना चाहिये और शिष्य को स्वाधीन कर देना चाहिये ताकि उसकी कुण्डलिनी शक्ति स्वयं उनमें आवश्यकतानुसार क्रियायें करती रहे और वह सर्वदा काल उसका बोध करता रहे। इसी तरह गुरु का कर्त्तव्य है कि ज्ञान से अथवा योगक्रिया से शिष्य के अन्तःकरण की शुद्धि करके उसमें ज्ञान और योग प्रकाश करें। जब तक शिष्य का ज्ञान स्वयमेव प्रकाशित न हो और योग की क्रियायें स्वतः न हों, तब तक गुरु का गुरुपना सिद्ध नहीं होता है, परन्तु शक्ति संचार का सामर्थ्य न होते हुए शिष्य की सेवा लेकर अथवा सामर्थ्य होते हुए मोहवश प्रमाद से शिष्य की संपूर्ण शक्ति का विकास न करके शिष्य की मनस्तुष्टि किये बिना ही दीक्षा देके जो गुरु छोड़ देते हैं उनका विनाश होता है। इसलिये सद्गुरु को चाहिये कि निम्नकथित शास्त्रोक्त लक्षणों से शिष्य की परीक्षा करके उसके मन का संतोषसाधन करें।

लक्षणं शक्ति पातस्य प्रबोधानन्दसंभवः।
सा यस्मात् परमाशक्तिः प्रबोधानन्दरूपिणी ॥१६॥

आनन्दबोधयोर्लिङ्गम् अन्तः स्फुरणविक्रिया।
ययास्युः कम्परोमाञ्चस्वरनेत्रादिविक्रियाः ॥१७॥

शिष्योऽपि लक्षणैरेभिः कुर्याद् गुरु परीक्षणम् ।
तत्सम्पर्के शिवार्चादौ स्वगतैर्वाथतद्गतैः ।।१८।।

श्री शंभु की शक्तिपात का यह लक्षण है कि शिष्य में आनन्द और प्रबोध का उद्भव होता है, क्योंकि परमाशक्ति आनन्द और प्रबोध स्वरूपिणी है। प्रबोध और आनन्द से शिष्य को अन्तःस्फुरण विक्रिया से हठयोग, मंत्रयोग, लययोग आदि की नाना प्रकार की योगक्रियायें तथा कंप रोमांच और स्वर नेत्रादि अंग की विक्रियायें होती हैं, अतएव इन लक्षणों से शिष्य भी शक्तिमान् गुरु की परीक्षा कर सकता है कि गुरु सामर्थ्य वाले हैं या सामर्थ्यहीन हैं। वह अपने में शक्ति का संचार हुआ कि नहीं जानकर निश्चिन्त हो सकता है और गुरु भी शिष्य में परमेश्वर की शक्ति के प्रकाश को ये सब बाह्य, आभ्यान्तर क्रियायें देख कर परीक्षा करके निश्चिन्त हो सकते हैं। ईश्वर की शक्ति गुरु द्वारा शिष्य में संचारित होने से शिष्य प्रबोध और आनन्द लाभ करता है। शिष्य को एक प्रकार का अपूर्व ज्ञान एवं निर्विषय परमानन्द सुख का अनुभव होता है। यह लक्षण परम और चरम है। इसलिये हर एक शिष्य तात्कालिक इसका ठीक-ठीक अनुभव नही कर सकता। परन्तु अन्तःस्फुरणरूप नाना विध आभ्यान्तरिक क्रियाओं का अनुभव करता है। उसमें प्रबोध और आनन्द मिश्रित रहता है कि जिससे शिष्य समझ सकता है कि शरीर में कोई शक्ति प्रवेश कर गई है। उससे विद्युत्स्पर्श सदृश स्फुरण चमक का अनुभव होता है और कंप, रोमाञ्च, स्वरभंग, नेत्रविकृति एवं सिर के बाल का कंपन होता है, अथवा शरीर टूटने लगता है या भारी हो जाता है

अथवा हाथ पैर ढीले हो जाते हैं और मूलाधार पृष्ठ, हृदय एवं मस्तक में भारीपने का बोध होता और शरीर हिलने भूलने को चाहता है। इच्छा शक्ति को छोड़ देने से भूमि में पतन और अग की विक्रिया चेष्टायें होने लगती हैं अथवा श्वास प्रवास बढ़ जाते हैं या निद्रा की सी अवस्था हो कर चित्त किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। शरीर में चेंटी लगने का अनुभव होता है, अथवा शरीर शून्य हो जाता है; मन, प्राण निष्क्रिय हो जाते हैं या शरीर का उत्ताप बढ़ जाता है और निद्रासुषुप्ति वा मूच्छा की सी अवस्था भी हो जाती है, अथवा सिर में चक्कर आने लगते हैं। भांग जैसा नशा चढ़ता है और मन के संकल्प बहुत कम हो जाते हैं अथवा बड़ी स्फूर्ति आ जाती है जिससे आनन्द आवेश में साधक नाना प्रकार की योग क्रियायें कर जाता है।

ये अव्यक्त शक्ति संचार के बाह्य और आभ्यन्तरिक लक्षण समूह साधारणतया गुरु के शक्तिपात से शिष्य में पहिले दूसरे या तीसरे दिन ही प्रकाशित हो जाते हैं, अथवा पांच सात रोज में तो अवश्य ही प्रकाशित हो जाते हैं परन्तु यह बात गुरु का पूर्ण सामर्थ्य एवं कृपा और शिष्य की गुरु भक्ति एवं सुसंस्कार पर निर्भर करती है, क्योंकि दीक्षा कार्य में सभी गुरु एक समान शक्ति सामर्थ्य वाले नहीं होते हैं, और न सभी शिष्य ही सु-संस्कारी होते हैं, इसलिये क्रियाशक्ति के विकास में समयान्तर हो जाता है। अतएव दीक्षा के अनन्तर तत्काल यदि शिष्य में क्रिया-शक्ति का प्रकाश न हो तो भी निराश नहीं होना चाहिये, क्योंकि यदि शिष्य को ध्यानादिकाल में गुरु-शक्ति का थोड़ा भी अनुभव हुआ तो शिष्य को समझ लेना चाहिये कि अपने में

भी उस शक्ति का प्रकाश अवश्य ही होगा इस प्रकार शिष्य अपने में अथवा गुरु में शक्ति का प्रकाश देखकर अपने साधन में निश्चिन्त रहे। यह बात शास्त्र में कही है कि दीक्षा के पश्चात् भी अधिक से अधिक एक वर्ष पर्यन्त शिष्य गुरु शक्ति के प्रकाश को प्रतीक्षा कर सकता है।

वायवीय संहिता तथा कुलार्णव तन्त्र

बहुनात्र किमुक्तेन योऽपि कोऽपि शिवाश्रयः।
संस्कारो गुर्वाधीनश्चेत् संस्क्रिया तु प्रतिपद्यते ॥७१॥
श्री गुरौ निश्चला भक्तिर्वर्धते हि यथा यथा।
तथा तथास्य विज्ञानं वर्द्धते कुलनायिके ॥१॥

इस विषय में यहां बहुत कहना अनावश्यक है। क्योंकि जो कोई भी मनुष्य शिव-शक्ति का आश्रय लेता है, अर्थात् श्री महेश्वर की शक्ति से दीक्षित होता है उसको दीक्षा देने का पूर्ण सामर्थ्य शक्तिमान् गुरु में है और गुरु शक्तिसंचार भी करते हैं, परन्तु अधिकारी के भेद से शिष्य में क्रिया का प्रकाश विभिन्न प्रकार का होता है, इसलिये सब साधकों की क्रियायें एक सी नहीं होती; जैसे-जैसे शिष्य की गुरु में निश्चला भक्ति बढ़ती जाती है तैसे-तैसे शिष्य में भी योग की क्रिया शक्ति का प्रकाश बढ़ता जाता, जिससे उसके विज्ञान की वृद्धि होती है।

यस्य जन्मान्तरे पापकर्मबाधादिका भवेत्।
न तस्य गुरुकारुण्यं कुलज्ञानं न जायते ॥२॥

परन्तु यदि दुर्भाग्यवश किसी शिष्य के पूर्वजन्म के किये हुये पापकर्म बाधा डालें तो उसको गुरु कृपा का लाभ नहीं होता और कुण्डलिनी शक्ति के जागरण का फल ज्ञान भी उत्पन्न नहीं होता है, इसलिये उसको पहले से ही इसका प्रतिकार कर लेना चाहिये। इसके लिये क्रमदीक्षा का विधान है तथापि गुरु चाहे जो कर सकते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।

योगिनी तन्त्र तथा मेरू मन्त्र

अपात्रेभ्यः प्रदत्ता च दीक्षा साऽपि महेश्वरि।
मनोव्यापारमात्रेण निर्वीर्या भवति ध्रुवम् ॥१॥

मोहेन वाऽथ लोभेन दीक्षामनधिकारिणे।
यो दद्यात्स दरिद्रःस्यात् शिष्यःस्याद्दुःखभाजनम् ॥१॥

परन्तु यह मानसिक दीक्षा अयोग्य पात्र को देने से निर्वीर्य हो जाती है उसका निश्चय कोई फल नहीं होता, इसलिये गुरुओं को ऐसी चेष्टा नहीं करनी चाहिये; तथापि यदि कोई गुरु मोह-वश धनमानादि के लोभ से अनाधिकारी को दीक्षा देंगे, तो वे दरिद्र होकर दुःखी होंगे और दीक्षा लेने वाला आपात्र शिष्य भी महादुःख भोग करेगा।

योग साधनार्थ आसन स्थापन

कुलार्णव तंत्र संमोहन तंत्र तथा गन्धर्व तंत्र

तूलकम्बलवस्त्राणां सिंहव्याघ्रमृगाजिनम्।
कल्पयेदासनं धीमान् सौभाग्यज्ञानवर्द्धनम् ॥१॥

कृष्णाजिने ज्ञानसिद्धिः मुक्तिः स्याद्व्याघ्रचर्मणि ।
वस्त्रासने व्याधिनाशः कम्बलं दुःखमोचनम् ॥१॥

साधारणतया योगसाधन करने वाले साधकों को बिना आसन के ध्यान, भजन नहीं करना चाहिये, इसलिये अ ने निर्दिष्ठ स्थान में आसन बिछा कर तपस्या करने का विधान है । अतएव बुद्धिमान् साधकों को चाहिये कि सौभाग्य और ज्ञान की वृद्धि के लिये रूई और कम्बल के वस्त्रों को अथवा सिंह, व्याघ्र और मृग चर्म के आसनों को काम में लावें । कृष्ण मृग चर्म के आसन पर बैठ कर धारणा ध्यान करने से ज्ञान की सिद्धि होती है, सिंह अथवा व्याघ्र चर्म पर बैठकर समाधी लगाने से मोक्ष की प्राप्ति होती है, कम्बल के आसन पर बैठकर भजन, जप, तप, पूजन करने से दुःख की निवृत्ति होती है और रुई के वस्त्रासन पर सोने बैठने से व्याधियों का नाश होता है ।

धरण्यां दुःखसम्भूतिर्दौर्भाग्यं दारुजासने ।
वंशासने दरिद्रः स्यात्पाषाणे व्याधिपीडनम् ॥१॥

तृणासने यशो हानिः पल्लवे चित्तविभ्रमः ।
जपध्यानतपोहानि जायते वसनासने ॥२॥

नादीक्षितो विशेज्जातु कृष्णाजिनासने गृही ।
विशेद्यातिर्वनस्थो वा ब्रह्मचारी च भिक्षुकः ॥
मृद्वासने यदा मन्त्री चैलाजिन कुशोत्तरे ॥३॥

पृथ्वी पर बिना आसन के बैठकर भजन, पूजन, जाप, ध्यान करने से दुर्भाग्य होता है, बांस के बने हुए आसन पर दारिद्रय एवं खाली पत्थर पर बैठने से पीड़ा और रोगों की उत्पत्ति होती है। घास-फूँस पर बैठने से यश की हानि होती है तथा पत्तों के आसन चटाई आदि पर बैठने से चित्त में भ्रान्ति होती है और खाली वस्त्र के आसन पर बैठकर भजन करने से जप, ध्यान और तप का नाश होता है। दीक्षाहीन और गृहस्थी मनुष्यों को मृगचर्म काम में नहीं लाना चाहिये। वह केवल यति, वानप्रस्थ, ब्रह्मचारी और संन्यासियों के लिये ही है। पुरश्चरण और मन्त्र का अनुष्ठान करने के लिये कुशासन, उस पर मृगचर्म और उसके ऊपर रेशमीवस्त्र या नरमकम्बल बिछाकर आसन करना चाहिये।

घेरण्ड संहिता पञ्चम उपदेश

कुशासने मृगाजिने व्याघ्राजिने च कम्बले ।
स्थलासने समासीनः प्राङ्मुखो वाप्युदङ्मुखः ।।
नाड़ीशुद्धिः समासाद्य प्राणायामं समभ्यसेत् ।।३२।।

योगाभ्यास के लिये कम से कम तीन साढ़े तीन गज और अधिक से अधिक छः सात गज लम्बा चौड़ा अच्छा लिपा पुता तथा साफ सुथरा कमरा होना चाहिये। उसमें जल, अग्नि अथवा और कोई ऐसा वैसा सामान नहीं रखना चाहिये, परन्तु उसे दर्शनीय देवता और साधनोन्नत सिद्ध पुरुषों के चित्रों से सुशोभित तथा धूप दीप से सुगंधित रखना चाहिये। उसके मध्य में जमीन पर कुशासन मृगासन और कम्बल बिछाकर उस पर पूर्व अथवा उत्तराभिमुख बैठ के गुरु और ईश्वर को प्रणाम कर प्रथम नाड़ी शुद्धिकी क्रियायें करके फिर प्राणायाम करने चाहियें।

—०—

एकादश प्रकाश

दीक्षायोग प्रत्यक्ष प्रमाण है

वायवीय संहिता अध्याय ३१

परोक्षमपरोक्षञ्च द्विविधं ज्ञानमिष्यते ।
परोक्षमस्थिरं प्राहुः अपरोक्ष तु सुस्थिरम् ।।९८।।

हेतुपदेशगम्यं यत् तत् परोक्षं प्रचक्षते ।
अपरोक्षं पुनः श्रेष्ठादनुष्ठानात् भविष्यति ।।९९।।

नापरोक्षादृते मोक्ष इतिकृत्वा विनिश्चयम् ।
श्रेष्ठानुष्ठानसिद्ध्यर्थं प्रयतध्वमतन्द्रिता ।।१००।।

पूर्व ही कहा गया है कि ज्ञान शास्त्रसिद्ध परोक्ष और साधन सिद्ध अपरोक्ष दो प्रकार हैं; शास्त्रसिद्ध परोक्षज्ञान अस्थिर है, जो स्थिर नहीं है वह चला भी जा सकता है और बदल भी सकता है अथवा और ही रूप में परिणत हो सकता है, उससे चित्त का वास्तविक सन्तोष साधन नहीं हो सकता, परन्तु साधन सिद्ध अपरोक्षज्ञान सुस्थिर एवं प्रत्यक्ष है जो एक बार हो जाने से कभी नहीं जाता है और न बदलता है, और जिससे चित्त पूर्ण तृप्ति लाभ करता है; जो ज्ञान शास्त्रों की युक्तिद्वारा अथवा दूसरों के उपदेश से मिलता है वह परोक्ष कहलाता है और जो ज्ञान श्रेष्ठ योगानुष्ठान से स्वयं प्राप्त होता है वह दूसरा अपरोक्ष कहलाता है। सर्वशास्त्रों को जानने वाले ज्ञानियों का मत

है और वेद का भी निश्चित कथन है कि बिना अपरोक्षज्ञान के मोक्ष नहीं होता है और यह प्रत्यक्ष अपरोक्षज्ञान बिना योग के अनुष्ठान के नहीं आता, इसलिये योग साधना करना परम-कर्त्तव्य है, अतएव इस श्रेष्ठ अनुष्ठान की सिद्धि के लिये प्रमाद रहित होकर योग साधना में लग जाना चाहिये।

स्कन्ध पुराण तथा मैत्रेय उपनिषद्

तत्त्वं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म ब्रह्मविदो विदुः।
हेतुदृष्ठान्तरहितं वाङ् मनोभ्यामगोचरम् ॥१॥

अनुष्ठानं बिना मूढो वृथा ब्रह्माणि मोदते।
प्रतिबिम्बित शाखाग्रफलास्वादनमोदवत् ॥२२॥

परमतत्त्व को जानने वाले ज्ञानी लोग कहते हैं कि विज्ञान, आनन्द और ब्रह्म ही तत्त्व है, वह हेतु और दृष्टान्त रहित है एवं मन वाणी से परे है, अर्थात् जो विज्ञान प्रत्यक्षस्वरूप, आनन्दस्वरूप, पूर्णब्रह्मस्वरूप और सर्वव्यापी तत्त्वस्वरूप है, वह मन वाणी का विषय नहीं है, केवल योगसाधना से अपरोक्षा-नुभवज्ञानगम्य है, इसलिये उसको युक्ति तर्क दृष्टान्त द्वारा अपने मन में भी समझा नहीं जा सकता एवं वाक्य द्वारा दूसरों को भी समझाया नहीं जाता; परन्तु जो लोग योगसाधना का अनुष्ठान न करके ही अपने को ब्रह्मज्ञानी समझते हैं वे मूढ लोग शाखा के अग्रभाग में लगे हुए फल के प्रतिबिम्ब के आस्वादन-वत् वृथा ही ब्रह्मज्ञान का आनन्द लेते हैं उन्हें ब्रह्मज्ञान का वास्तविक फल नहीं मिलता।

विवेक चूड़ामणि तथा कुलार्णव तन्त्र

स्वस्याविद्याबन्ध सम्बन्ध मोक्षात्
सत्यज्ञानानन्दरूपात्मलब्धौ ।
शास्त्रं युक्तिर्देशिकोक्तिः प्रमाणं
चान्तःसिद्धा स्वानुभूतिः प्रमाणम् ॥१॥

प्रत्यक्षं च प्रमाणाय सर्वेषां प्राणिनां प्रिये ।
उपलब्धिवशात्तस्य हताः सर्वं कुतार्किका ॥१॥
परोक्षे कोऽनुजानीते कस्य किंवा भविष्यति ।
यद् वै प्रत्यक्षफलदं तदेवोत्तमदर्शनम् ॥२॥

अपने को अविद्या सम्बन्धी बन्धन से छूटने के लिये सत्य, ज्ञान और आनन्दस्वरूप आत्मा की प्रत्यक्ष उपलब्धि करनी चाहिये। यह आत्मज्ञान लाभ करने के लिये शास्त्र, युक्ति, गुरु का वाक्य तथा निज के अन्तर का अनुभव य चार प्रमाण माने जाते हैं, यही सब शास्त्रों का कथन है, इसलिये व्यवहार में प्रत्यक्ष, अनुमान और शास्त्र इन तीन प्रमाण द्वारा लोग तत्त्व का निश्चय करते हैं, किन्तु उसमें जो विषय प्रत्यक्ष नहीं होता है। उसको तर्क, युक्ति एवं शास्त्र द्वारा तथा अनुमान से सिद्ध करके मानते हैं; परन्तु शास्त्र तथा, अनुमान प्रमाण की अपेक्षा, प्रत्यक्ष प्रमाण सब से अधिक माननीय है, कोई भी विषय जब स्वयं अनुभव से प्रत्यक्ष हो जाता है तो युक्ति, तर्क, वितर्क वाद वितण्डा करने वाले कुतार्किक लोग भी सब निरस्त हो जाते हैं क्योंकि परोक्ष में किस विषय का क्या होगा कौन जानता है? इसलिये जो प्रत्यक्ष फल देता है वही उत्तम दर्शन योग-

शास्त्र प्रत्यक्ष प्रमाण है । अतएव प्रत्यक्ष प्रमाण के सामने और किसी भी प्रमाण की आवश्यकता नहीं रहती ।

गुरु दीक्षा

कुलार्णव तन्त्र तथा योगिनी तन्त्र

दीक्षा च द्विविधा प्रोक्ता बाह्याभ्यन्तरभेदतः ।
क्रियादीक्षा भवेद्बाह्या बेधाख्याभ्यन्तरी मता ॥१॥
द्विधादीक्षासाधारा च निराधारा तथैव च ।
नित्ये नैमित्तिके काम्ये यस्याश्चैवाधिकारिता ॥१॥
साधारा सा च संप्रोक्ता निराधारा च मुक्तिदा ।
निर्मला सा च विज्ञेया कथ्यते तत्त्वचिन्तकै ॥२॥

दीक्षा बाह्य और अभ्यन्तर भेद से दो प्रकार की हैं; धर्म, अर्थ और कामना की प्राप्ति के लिये हवन, जप, देवार्चन, पुरश्चरण इत्यादि नाना प्रकार की क्रियाओं से होने वाली शास्त्री, होत्री, क्रियावती, वर्णमयी और क्रमदीक्षा आदि जितनी दीक्षायें हैं वे सब बाह्यदीक्षायें कहलाती हैं, जिसमें जप, तप, हवन इत्यादि परिश्रम साध्य क्रियाकर्म किये जाते हैं, परन्तु शांभवी, शक्ति, योग और वेध आदि दीक्षायें अभ्यान्तरिक कहलाती है, जिनमें बाह्याडंबर की कोई आयास साध्य क्रियायें नहीं करनी पड़ती हैं, ये दीक्षायें गुरु के आत्म सामर्थ्य से और कुण्डलिनी के जागरण से होती हैं जिनकी क्रिया भी आयासरहित है और इनसे ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। दीक्षा अधिकारी के भेद से साधारा और निराधारा नाम से दो प्रकार की

मानी गई है; नित्य, नैमित्तिक और काम्यकर्म संपादन करने के लिये जो दीक्षा ली जाये अर्थात् सन्ध्यादि नित्यकर्म के लिये उपनयन संस्कार की दीक्षा तथा शत्रुनाश के लिये या दूसरों को अपने अनुकूल करने के लिये यज्ञादिकर्म करने की दीक्षा और यश, धन, ऐश्वर्य, कामना सिद्धि के लिये जो ली जाये वह साधारा कहलाती है, इससे ही धर्म अर्थ और कामना की सिद्धि होती है; परन्तु यह बाह्य दीक्षा मोक्ष नहीं दे सकती है, इसलिये मोक्ष देने वाली दूसरी आन्तरिक दीक्षा है, जो निराधारा कहलाती है, तत्त्वचिन्तन करने वाले ज्ञानी महात्माओं का कथन है, कि इस निराधारा आन्तरिक दीक्षा को ही निर्मल, पवित्र मोक्ष देने वाली जानना चाहिये; यह अन्तर की दीक्षा किसी बाह्य स्थूल वस्तु अथवा बाहर के किसी भी क्रिया कर्म की अपेक्षा नहीं करती, यह तो केवल गुरु और शिष्य के मानसिक व्यापार से सम्पन्न होती है, इसलिये इसको निराधारा कहते हैं। इस दीक्षा द्वारा ही गुरु शिष्य में शक्ति संचार करते हैं।

वायवीय संहिता अध्याय १५

गुरोरालोकनादेव स्पर्शात् संभाषणादपि ।
यस्य संजायते ह्याज्ञा तस्य नास्ति पराक्रिया ।।७२।।
मनसा यस्तु संस्कारः क्रियते योगवर्त्मना ।
स नेह कथ्यते गुह्यो गुरुवक्त्रैक गोचरः ।।७३।।

जिस दीक्षा द्वारा गुरु शिष्य में शक्ति संचार करते हैं, जिस से सब प्रकार के योग की साधना होती है, वह सूक्ष्म महाशक्ति चैतन्यरूपी शैवी शक्ति है। जो गुरु परंपरा से शिष्य में आती है और स्पष्ट चैतन्यरूप से प्रकाश पाती है। तब वह शक्ति

आज्ञा नाम धारण करती है, जैसे भृत्य को स्वामी आज्ञा देता है और भृत्य भी स्वामी की आज्ञानुसार आवश्यकीय काम काज करता है, तैसे ही शिष्य भी गुरु की सचारित शक्ति का संकेत आज्ञा पाकर आत्मज्ञान के लिये आवश्यकीय कर्म क्रियायें करने लग जाता है। गुरु की दृष्टिद्वारा, स्पर्शद्वारा वाक्य से अथवा मन से जिस शिष्य को सद्गुरु की आज्ञा शक्ति प्राप्त होती है, उसको अपनी ओर से कल्याण के लिये जप, तप, प्राणायाम, धारणा, ध्यान आदि कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं है। जैसे स्वामी भृत्य को अपनी आज्ञानुसार काम करने को कहते हैं भृत्य की इच्छानुसार नहीं, भृत्य भी स्वामी की इच्छानुसार सब काम करता है तैसे ही शिष्य भी गुरु की आज्ञानुसार उनकी शक्ति से सब काम करने लगता है अपनी इच्छा से नहीं वर्तता। सेवक के लिये स्वामी की आज्ञा का पालन करना ही कर्त्तव्य है, तैसे शिष्य को भी अपना ज्ञान, ध्यान, त्याग के गुरु की आज्ञा को कार्य में परिणत करना है, गुरु की आज्ञाशक्ति से बढ़कर शिष्य के लिये और कोई क्रिया कर्म नहीं है यही पाशुपत महायोग का सिद्धान्त है। अतएव महायोग साधन करने वाले साधकों को गुरु की आज्ञा बिना और कोई भी साधन करने की आवश्यकता नहीं है। जिन गुरु की आज्ञाशक्ति सभी कुछ करा रही है, उसमें अपनी बुद्धि चलाने से अथवा अपनी इच्छा से और साधन करने से अनर्थ होता है, इसलिये जिन भाग्यवान् साधकों को ऐसे समर्थ गुरुओं से दीक्षा द्वारा गुरु की आज्ञाशक्ति प्राप्त हुई है, उन्हें समझ लेना चाहिये कि गुरु की आज्ञा सर्वोपरि है, उनको न मानना ही अपना अनिष्ट करना है। श्री गुरु की

योग शक्ति से अथवा उनके मन से शिष्य को निराधारा अन्तर दीक्षा होती है, जिसमें साधक लोग आश्चर्य महान् आश्चर्यमय घटनायें देखते सुनते हैं और कहते हैं, उन सब का भेद तो श्रीगुरु ही जानते हैं, ये बातें गुप्त हैं कहने योग्य नही है, अतएव शास्त्र में गुप्त रखी हैं, यहां तो उनका आवश्यकीय सामान्य भेदमात्र कहा है। इस विषय में यदि किसी को अधिक जानने की इच्छा हो तो वे अपने गुरु से जान सकते हैं।

सद्गुरु कृपा

आगम संदर्भ-ज्ञान दर्पण

मूलाधारेषु या नित्या कुण्डली तत्त्व रूपिणी।
सूक्ष्मातिसूक्ष्मा परमा विसतन्तु-स्वरूपिणी ॥१॥
विद्युत्पुञ्ज-प्रतिकाशा कुण्डलीकृत रूपिणि।
परब्रह्मगृहीणी पञ्चाशद् वर्ण रूपिणी ॥२॥
शिवस्य नर्तकी नित्या परब्रह्म प्रपूजिता।
ब्राह्मणःसैव गायत्री सच्चिदानन्द रूपिणी ॥३॥
तद्भ्रमावर्तवातोऽयं प्राणात्मा नित्यनूतना।
नित्यं तिष्ठतु सानन्दा कुण्डली तव विग्रहे ॥४॥

दीक्षा के समय जिन गुरु में शिवजी का अधिष्ठान होता है जो गुरु श्री महेश्वर के अधिष्ठान का आश्रय करके प्रसन्न होकर शिष्य को आज्ञाशक्ति और आशीर्वाद देते हैं, कि तुम में जो शक्ति मूलाधार में नित्य निवास करती है, जिसके बोध से तत्त्व ज्ञान का उदय होता है, जों तत्त्वज्ञान देने वाली तत्त्व स्वरूप

पद्मतन्तुवत्, सूक्ष्मातिसूक्ष्म, परमाशक्ति कुण्डलिनी महादेवी है, जिसका रूप कोटि-कोटि विद्युत्पुञ्ज के सदृश है, जो शक्ति परब्रह्म परशिव की पत्नी है, और अ से क्ष पर्यन्त पचास अक्षर रूपिणी है, जो श्री शिवजी की प्रसन्नता के लिये सदा नृत्य करती है, वहीं तुमको योग, ज्ञान, ध्यान की क्रियायें कराती है। जिनकी कृपा से तुम्हारे सर्व अभीष्ठ की सिद्धि होती है, जो योग का परम ऐश्वर्य ज्ञान प्रदान करती है; ऐसी सदा उपासना करने योग्य सच्चिदानन्द स्वरूपिणी ब्रह्म गायत्री कुण्डलिनी देवी हमारे गुरु परंपरा के आशीर्वाद से तुम्हारे में सर्वदा जागृत रहे और तुम्हें नित्यनूतन नाना प्रकार की योग क्रियायें एवं दिव्य अनुभव कराती रहे, जिससे तुम्हारे शरीर, मन, प्राण स्वस्थ और सगटित हो जायें एवं तुम संसार में रहते हुए सुखपूर्वक अपने परम कल्याण को प्राप्त कर सको।

कुलार्णव तंत्र धर्म संहिता तथा वायवीय संहिता

शिवशक्तिपरां पूजां योगेनैव समाचरेत्।
मन्त्रोदकैर्बिना सन्ध्यां पूजाहोमैर्बिना जपम्।
उपाचारैर्बिनायोगं योगी नित्यं समाचरेत् ॥१॥
यमादि नियमैः पुष्पैः आत्मैकादशभिः परैः।
दशदिक्षु तथा मध्ये यजेत परमेश्वरम् ॥१॥
ध्यानिनां हि वपुः सूक्ष्मं भवेत्प्रत्यक्षमैश्वरम्।
ध्यानयज्ञरतास्तस्मात् देवान् पाषाणमृण्यान्।
नात्यन्तं प्रतिपद्यन्ते शिवयथात्म्यवेदनात् ॥२६।३६।

इस प्रकार गुरु का आशीर्वाद और आज्ञाशक्ति प्राप्त होकर योग साधना करने वाले साधक योग के द्वारा ही अन्तर में शिव शक्ति का पूजन करते हैं, जिनकी बिना मन्त्र और जल के ही सन्ध्या होती है अर्थात् सुषुम्ना चलती है, जो पूजा एवं होम के बिना ही जप करते हैं, जिनका जप स्वतः होता है तथा जो घृत काष्ठादि हवन की सामग्री के बिना ही नित्य यज्ञ करते हैं, जिनके पांच यम एवं पांच नियम दश और ग्यारहवां मन ही पुण्य है, कि जिसके वे पूर्व, पश्चिम, उत्तर दक्षिण एवं अग्नि नैऋत्य, वायव ईशान और अधः ऊर्ध्व दशों दिशाओं में तथा शरीर के मध्य में एक परमेश्वर का ही पूजन करते हैं। इसी प्रकार ईश्वर को सर्वत्र पूजने वाले लोग ध्यान परायण साधकों के निकट ईश्वर का ज्योतिर्मय सूक्ष्म शरीर प्रत्यक्ष प्रकट होता है। इसलिये ये साधक गुरु शक्ति के ध्यान रूप यज्ञ में लगे रहते हैं और जिनको श्री शिवजी के वास्तविक ज्योतिर्मयस्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन होता है, वे काष्ठ, पत्थर और मृतिका के निर्मित देवताओं का ध्यान व आश्रय नहीं करते हैं, क्योंकि जो लोग शिव के वास्तविक रूप को यथातथ्य जानते हैं वे बाहर के स्थूल रूप देवी देवताओं को भजना सर्वदा अन्तर से ही त्याग देते हैं।

कुलार्णव तंत्र अष्ट उल्लास

शृणु देवि प्रवक्ष्यामी योगयोगीशलक्षणम्।
तस्य श्रवणमात्रेण योगः साक्षात्प्रकाशते ॥१॥

सम्मोदः परमानन्दः पतनं गायनं तथा।
वेणु वीणादिवाद्यञ्च कवितारचनादिकम् ॥२॥

रोदनं भाषणञ्चैव समुत्थानं बिजृम्भणम् ।
गमनं विक्रिया देवि योग इत्याभिधीयते ॥३॥

विकृतिं मनसो हित्वा मदोल्लासः प्रवर्तते ।
तदा तु देवताभावं भजन्ते योगिपुङ्गवाः ॥४॥

श्री महेश्वर कहते हैं हे देवि ? अब तुम्हें वास्तविक योग कहता हूँ, गुरु की शक्तिसंपात से शिष्य की अन्तर शक्ति कुण्डलिनी देवी जाग जाती हैं और क्रियायें करने लग जाती हैं, तब शिष्य के मन, प्राण और शरीर में नाना प्रकार की वाह्य और अभ्यान्तर कम्पनादि क्रियायें होने लगती हैं, शिष्य के कोटि-कोटि जन्मके संस्कार छिन्न भिन्न होकर नाना प्रकारके रूप धारण करते हैं जिससे साधकों को जन्मजन्मान्तर की अस्पष्ट स्मृति होती है, अथवा नाना प्रकार की योनियों को अपने सुख दुःख का भान होता है, और जिससे कारण वह पशुपक्षी आदि के शब्द के सदृश भयसूचक शब्द करता है अथवा आह्लादित होकर हंसता है, रोता है एवं भावपूर्ण आवेश में आकर महा आनन्दित होकर परम प्रसन्नता लाभ करता है, और उस आनन्द आवेश में भूमि में गिर जाता है, लोट पोट हो जाता है, और आनन्दोल्लास में आकर गाने लगता है, एवं वसी, वीणा, मृदंग आदि वाद्य मुखसे शब्द करके बजाता है एव साथ ही साथ गान कवितादि की रचना भी करता रहता है कभी रोने लगता है अथवा अपने आप अकेला ही भाषण देने लग जाता है। नाना प्रकार की भाषा बोलता है। आसन से उठ जाता है; आवेश में आकर नाना प्रकार की चेष्टायें करने लग जाता है; जम्भाई लेने लगता

है, घर में चलने फिरने लग जाता है, इस प्रकार गुरु कृपा से कुण्डलिनी शक्ति जागने के कारण ऐसी मन प्राण की विक्रिया होकर जो साधन होता है, वही वास्तविक योग कहलाता है, इस योग में होने वाली क्रियाओं की संख्या और उनके स्वरूप का वर्णन करना मनुष्य बुद्धि के परे की बात है; तथापि इस महायोग का विज्ञान साधक केवल श्रद्धा से ही समझ लेता है और साधक आनन्दोल्लास में आकर इतने विचित्र व्यापार आसन, प्राणायाम, बन्ध, मुद्रादि ऐसी ऐसी विचित्र और नाना प्रकार की योग क्रियायें कितनी हो संख्या में कर जाते हैं तथापि उनका मन पराधीन व ज्ञान शून्य नहीं होता, साधक का ज्ञान पूर्ववत् बना रहता है, आनन्दमय से उत्साहित साधक का मन जब अन्तर शक्ति की प्रेरणा से क्रियायें करता है उस अवस्था में भी उन पर कोई बलात्कार नहीं होता, साधक की बुद्धि निश्चय रहती है। संकल्प मात्र से वह सब कार्य से तुरन्त ही निवृत्ति लेकर पूर्ववत् अपनी अवस्था में आ जाता है, इस तरह जब मन उल्लास को प्राप्त होकर सब कार्य करता है और विकृत नहीं होता है तब साधक योगी दिव्यभाव को प्राप्त होता है।

उन्मनाः पतनोत्थाने मूर्छना च मुहुर्मुहुः।
देहेन्द्रियाणामवशः समवस्था निगद्यते ॥५॥

अन्तर्लक्ष्यो वहिर्दृष्टि निमेषोन्मेषवर्जिता।
एषा तु शाम्भवी मुद्रा सर्व तंत्रेषु गोपिता ॥६॥

एषा तु खेचरी मुद्राशिवस्य सम्बोधिनी।
सर्वोत्तीर्णा सदाहन्ता सामरस्य समाकृतिः ॥७॥

इन क्रियाओं का आवेशमात्र दीक्षा के समय ही होता है ऐसा नहीं है परन्तु दीक्षा के पश्चात् भी जब तक शिवशक्ति का सम्मेलन नहीं होगा तब तक यावज्जीवन अथवा जब तक मुक्ति नहीं होगी, तब तक जन्मान्तर में भी बना रहेगा, इसलिये साधक को कोई खास नियमबद्ध रखने की व प्रतिज्ञा लेने की आवश्यकता नहीं होती, परन्तु नित्यप्रति गुरु के आदेशानुसार प्रातः और सायंकाल बैठकर साधना करनी पड़ती है, इससे ही दिन प्रति दिन नई नई क्रियायें और साथ ही नाना प्रकार के अनुभव अपने आप होते रहेंगे। श्री महेश्वर कहते हैं कि इसी तरह योग साधना करने वालों को भूमि में पतन और उत्थान अर्थात् नाना प्रकार के बैठकर, लेटकर आसनों का करना एवं बारंबार प्राणायाम तथा श्वास प्रश्वास लेने छोड़ने की क्रिया करने से उन्मनी अवस्था आती है, जिससे शरीर और इन्द्रियां अवश हो जाती हैं प्राणस्पन्दन लय हो जाता है, मन एकाग्र और निरुद्ध हो जाता है। इसी तरह शरीर, मन, प्राण, इन्द्रिया अवश और विवश हो जाने से सम अवस्था समाधि होती है। इस समाधि के पूर्व साधक को और भी बहुत सी क्रियायें होती हैं। जैसे आसन, प्राणायाम, बन्ध, मुद्रा, नाड़ीशुद्धि और इन सब क्रियाओं से समाधि होती है और समाधि हो जाने पर आवश्यकतानुसार ये क्रियायें होती रहती हैं। जितनी२ ये क्रियायें आयतत्त्व और दृढ़ होती हैं उतने ही काल तक सब अवस्था आती जाती रहती है, इसलिये साधक को और २ क्रिया के साथ शाम्भवी मुद्रा हो जाती है जिससे अन्तर में लक्ष्य और बाहर में दृष्टि होती है, ऐसी निमेष, उन्मेष, वर्जित, शाम्भवी मुद्रा हो जाती है।

यह शाम्भवी मुद्रा सब तन्त्रों में गुप्त है जिसको साधक बिना प्रयास के स्वयं कर लेता है। ऐसे साधक को खेचरी मुद्रा भी हो जाती है जिह्वा तालु में उलट कर लग जाती है और रस पान होता है, यह भी अपने आप होती है। श्री शिव जी के स्थान में अमृत का बोध कराने वाली खेचरी मुद्रा तथा श्री शम्भु के स्वरूप को दर्शानेवाली शाम्भवी मुद्रा साधक को अपने आपही हो जाती है, जिनके प्रभाव से साधक में आत्मतत्त्व का प्रकाश होता है, जिससे साधक अपने आपको विभुत्वभाव से बोध करता है।

न किञ्चिदपि जानन्ति स्वात्मध्यानपरायणः।
तदा यत्परमं सौख्यं मनोवाचामगोचरम् ॥८॥
स्वयमेवानुभूयन्ते शर्करा क्षीर पानवत्।
कीदृशं तादृशं सौख्यं इति वक्तुं न शक्यते ॥९॥
दृश्यते पुलिकाद्यैर्यत्तद् ब्रह्मध्यानमुच्यते।
यत्सुखं विद्यते ध्याने देहावेशकरं परम् ॥१०॥
कथितुं नैव शक्नोति प्रबुद्धस्तत्समाहितः।
ब्रह्माध्यानपरानन्दपराः सुकृतिनो नराः।
क्षणेऽप्यन्तर्हिते तस्मिन् शोचन्त्यासंहता इव ॥११॥

इस प्रकार जब साधक को शाम्भवी और खेचरी मुद्रा हो जाती है तब शारीरिक, मानसिक और-और क्रियायें कम हो जाती हैं और मात्र प्राण की ही क्रियाय होकर रह जाती हैं। प्राण सुषुम्ना विवर में प्रवेश कर जाता है एवं शाम्भवी तथा खेचरी मुद्रा दृढ़ता से लगी रहती है, इससे साधक को आत्मा का

जो ध्यान होता है वह अवर्णनीय है। उस अवस्था में साधक, योगी कुछ नहीं जानता, उसका बाह्यज्ञान लुप्त हो जाता है, वह आत्म तत्त्व में तन्मय हो जाता है, इसलिये आत्मा के बिना ओर कुछ नहीं जानता, परन्तु उस ध्यान में जो परम सुख होता है वह वाणी और मन से अगोचर है, उसको ध्यान करने वाला स्वयं ही अनुभव कर सकता है, किन्तु अन्य किसी को कह नहीं सकता। अतएव योग साधन से स्वय ध्यान करने वाले साधकों को ध्यान से जिस प्रकार का सुख आनन्द होता है वह किस प्रकार का है, वह किसी भी प्रकार से कहा नहीं जा सकता है, तथापि उनके बाह्य लक्षणों से अन्तर के आनन्द का थोड़ा बहुत परिचय होता है।

जो लोग गुरु प्रदत्त योग साधन करते हैं; जिनकी कुण्डलिनी शक्ति क्रियाशील हो गई है, जिनका ध्यान संकल्पमात्र से ध्येय में स्वाभाविक ही लग जाता है, उनके अन्तर के लक्षण तो वही जानते हैं, परन्तु उनमें बाहर के लक्षण भी थोड़े बहुत प्रकाश पाते हैं। उनके मन, प्राण और शरीर की चेष्टायें सात्विकता धारण करती हैं, इसलिये इन्द्रियां शान्त और स्वच्छ प्रकाशमान् हो जाती है, वे सर्वदा आनन्दोल्लास से प्रफुल्ल और प्रसन्न रहते हैं। ध्यान के स्मृति मात्र से उनकी दृष्टि अन्तर्मुख होने लगती है, इसलिये नेत्र मदोन्मत्त हो जाते हैं। वाणी कोमल और गद्गद हो जाती है, अन्तरात्मा के सुख से शरीर में भाव पूर्ण रोमांच होकर कम्पन आदि होने लगते हैं एवं श्वास प्रश्वास बन्द हो जाते हैं, यह ब्रह्म ध्यान का लक्षण देखने में आवे तो समझना कि ध्यान ठीक होता है, क्योंकि कुण्डलिनी शक्ति

जागने से मन, प्राण, शरीर आवेश पूर्ण हो जाते हैं, उस परम देहावेश में जो सुख ध्यान में मिलता है उसको ध्यान करने वाले साधक ध्यान से जागकर भी प्रकाश नहीं कर सकते। जो भाग्यवान् साधक इसी तरह ब्रह्म का ध्यान करते हैं, क्षण-मात्र में भी यदि उस ध्यान के परम आनन्द से च्युत हो जायें तो आघात प्राप्त व्यक्ति की तरह दुःख प्रकाश करते हैं, वे ऐसे परम ध्यान के सुख का वियोग क्षण मात्र भी नहीं चाहते।

वायवीय संहिता अध्याय ११

प्रत्याश्च प्रवर्तन्ते प्रशस्तफलसूचकाः।
मयि भाववतां पुन्सां प्रागदृष्टार्थगोचराः ॥३५॥
कम्पस्वेदोऽश्रुपातश्च कण्ठे च स्वरविक्रिया।
आनन्दाद्युप लब्धिश्च भवेदाकस्मिकी मुहुः ॥३६॥
एतैर्व्यस्तैः समस्तैर्वा लिङ्गैरव्यभिचारभिः।
मन्दमध्योत्तमैर्भावै विज्ञेयास्ते नरोत्तमाः ॥३७॥

श्री महेश्वर कहते हैं कि जब सद्गुरु के शक्ति संचार से अथवा ईश्वर के अनुग्रह से या पूर्वजन्म के प्रबल पुण्य प्रताप अथवा शिव पूजनादि भक्तिसाधन द्वारा मनुष्य मुझ में भावान्वित होते हैं, तब कुण्डलिनी शक्ति जागृत हो जाती है और पूर्वजन्म का किया हुआ योग साधन इस जन्म में आरम्भ कराती है. जिसके प्रशस्त फल सूचक नाना प्रकार के प्रत्यय प्रवर्तित होते हैं, ये निर्देशन मनुष्यों के अदृष्ट सिद्धि के कारण होते हैं। साधक को कम्प, प्रस्वेद, अश्रुपात, कण्ठस्वर की विक्रिया से विकृत शब्दोच्चारण तथा कूदना, नाचना, हंसना,

रोना, चिल्लाना इत्यादि क्रियायें, आनन्द उपलब्धि के आवेश से अकस्मात् बारम्बार होती हैं। जिन मनुष्यों में ये सब अकृत्रिम लक्षण पृथक् पृथक् व्यस्त भाव से अथवा समस्त एक साथ मंद, मध्यम और उत्तम भाव से प्रकाश पाते हैं उन भक्तों को उत्तम, श्रेष्ठ साधक जानना चाहिये। मंद में कम्पनादि शारीरिक क्रियायें इच्छामात्र से रोकी जा सकती हैं, मध्यम भाव में शारीरिक और मानसिक क्रियाओं का वेग कष्ट से संभाला जाता है अर्थात् बाह्याभ्यन्तरिक क्रियाओं को रोकने में मन को दुःख होता है और उत्तम भाव वह है जिसमें क्रियायें मन और शरीर को विवश कर दें और क्रियाशक्ति को रोकने की इच्छा ही न हो।

यथा योऽग्नि समावेशान्नायो भवति केवलम् ।
तथैव मम सान्निध्यान्नते केवल मानुषाः ॥३८॥
अवज्ञानं कृतं तेषु नरैर्व्यामूढचेतनैः ।
आयुः श्रियं कुलं शीलं हत्वा निरवमावहे ॥४०॥

गुरु कृपा से जिनकी कुण्डलिनी शक्ति जागने से मुझे में भक्ति उत्पन्न हो गई है, उन भक्तों को सामान्य मनुष्य नहीं समझना चाहिये, क्योंकि लोहे में अग्नि प्रवेश होने पर जैसे वह केवल लोहा नहीं रहता, उसी प्रकार मेरे सान्निध्य में आजाने से वे केवल मनुष्य नहीं रहते, परन्तु दिव्य भाव को प्राप्त हुवे दिव्य गुणयुक्त दैवीशक्ति सम्पन्न पूजने योग्य हैं। इसलिये जो मूढ़ ऐसे मेरे भक्तों की अवज्ञा करते हैं वे लोग अपनी आयु, अर्थ, कुल, श्री और शील को नष्ट करके अधोगामी होते हैं।

वायवीय संहिता अध्याय २६

सर्ववेदमयी देवी सर्वमन्त्रस्वरूपिणी ।
सर्वमंत्रात्मिका विद्या वेद विद्याप्रकाशिनी ।।७।।
सैव कुण्डलिनी माया शुद्धाध्वपरमासती ।
सा विभागस्वरूपैव षडध्वात्मा विजृम्भते ।
तत्र शब्दास्त्रयोऽध्वानस्त्रयश्चार्थाः समीरिताः ।।८।।

इसी प्रकार कुण्डिलिनी शक्ति जाग कर क्रियाशील होने से वास्तविक योग आरम्भ होता है, उसका ही नाम स्वाभाविक-योग, सिद्धयोग एवं महायोग है। यही सिद्धिप्रद मार्ग है, इसी उपाय से सर्व वेदज्ञानमयी, मंत्रस्वरूपिणि, सर्वमंत्रात्मिका विद्या और वेदविद्या का प्रकाश करने वाली कुण्डलिनी शक्ति साधक को क्रियायें कराती है,जिससे समस्त मंत्र तथा सर्व विद्याओं के विज्ञान का प्रकाश हो जाता है। तब साधक देवी देवताओं के दर्शन करते हैं, उनका अनुग्रह लाभ करते हैं और मंत्र वेदादिक शास्त्रों के मन्त्र का विज्ञान जानते हैं तथा वेद का गूढ़ रहस्य समझने लगते हैं। वह कुण्डलिनी शक्ति वर्ण पद और मंत्र इन तीन शब्दरूप से भुवन, तत्त्व तथा कला इन तीन अर्थरूप से छः प्रकार से प्रकाशित होती है,फल स्वरूप साधक भुवन अर्थात् अन्तर के दिव्य लोकों के ज्ञान का अनुभव करता है और तत्त्व पृथिव्यादि छत्तीस तत्त्वों का ज्ञान लाभ करता है और कला, विद्याशक्ति, कुण्डलिनी देवी की प्रकाश क्रिया को जान जाता है तब वर्ण, पद और मन्त्र का बोध करता है। कुण्डलिनी शक्ति षड्चक्र का भेदन व शोधन करती है और

सुषुम्ना मार्ग में प्रवेश करती है और साधक को क्रम से समाधि की अवस्थायें दर्शाती हैं। शिव शक्ति के सम्मेलनार्थ कुण्डलिनी शक्ति की प्रेरणा से साधक लोग ऐसी अद्भुत और आश्चर्य-जनक क्रियायें करते हैं, जिनकी कोई कल्पना भी नहीं की जा सकती। अपने-अपने संस्कार के अनुसार साधक हठ, मंत्र, लय और राजयोग की शारीरिक, मानसिक और प्राण की क्रियायें करते हैं जो नाना प्रकार की हैं जिनका वर्णन करना भी सहज नहीं है तथापि जो २ अनुभव साधकों को देखने में आये हैं, उन का यहां वर्णन किया गया है।

नाड़ी शुद्धि की क्रियायें

घेरण्ड संहिता पंचम उपदेश

मलाकुलासु नाड़ीषु मारुतो नैव गच्छति।
प्राणायामः कथं सिद्धस्तत्त्वज्ञानं कथं भवेत् ॥
तस्मादादौ नाड़ीशुद्धिं प्राणायामं ततोऽभ्यसेत् ॥३४॥

शरीर की सब नाड़ियों के मल से आवृत होने के कारण प्राण सुषुम्ना में सरलता से प्रवेश नही करता है, इसलिये प्राणा-याम की सिद्धि नहीं होती और न तत्त्वज्ञान ही होता है, अतएव प्रारम्भमें नाड़ियों की शुद्धि होना आवश्यक है इसलिये कुण्डलिनी शक्ति साधकों को प्रथम ही नाड़ी शुद्धि की क्रियायें कराती है। वातक्रम, व्युतक्रम, शीतक्रम, भस्त्रा, अग्निसार, वायुसार, नौली और कपालभाती इत्यादि क्रियायें जो कि नेती, धोती, वस्ती का काम करती हैं, वे साधकों को स्वयं वायु द्वारा रेचक, पूरक, कुम्भक, प्राणायामरूप से हो जाती हैं अर्थात् साधकों को मुख,

नासिका गुदा और लिङ्ग से प्राण अपान वायु के निस्सरण एवं ग्रहण तथा निरोधरूप से ये सब क्रियायें कुण्डलिनी शक्ति की प्रेरणा से हो जाती हैं।

अंग विकृति—नाना प्रकार के भाव भंगी, देहविक्षेभ व्यायाम, अंगमर्दन, अगड़ाई, घर्षण, अभिघात, नेत्र की विक्रिया, आंखों के तारों का घूमना, आस्फालन—हाथ पैरों का फेंकना और फैलाना, धावन, भ्रमण, चक्कर लगाना, घूर्णा, झूमना-सरक कर सारे घर में लोट पोट होना, नृत्य करना, दारदुरी-गति-पद्मासन पर बैठकर मेंढक की तरह उछल कर जहां तहां गिरना, कूदना फांदना, पागल की तरह या मद्यपायी उन्मत्त की तरह अथवा भूताविष्ट के सदृश शारीरिक, मानसिक चेष्टायें करना और भाव दिखाना इत्यादि नाना प्रकार की प्राण वायु की क्रियायें साधक स्वयं करते हैं। और भी साधकों की प्रकृति के अनुसार कितनी ही विकृत क्रियायें होती हैं जैसे कम्प, रोमांच अन्तर में स्फुरण, स्पन्दन, स्पर्श, जृम्भण, हास्य, रोदन, पतन, स्तम्भन शरीर का भारी हो जाना, जमीन में लग जाना, श्वास, प्रश्वास का अत्याधिक आना जाना, प्रस्वेद, नेत्रों से जल का गिरना, लालास्राव, शरीर की कृषता, मल-मूत्र का होना अथवा कोष्ठ काठिन्य होना, अल्प निद्रा व अति निद्रा आना या निद्रा का अभाव होना, शीत लगना अथवा उत्ताप बोध करना, जो सुप्त रोग शरीर में हैं उनका प्रकाशिन हो जाना, शरीर दुःखने लग जाना, पेट में दर्द होना, कामोत्तेजना आत्यन्तिक कामेच्छा वीर्य क्षरण हो जाना अथवा दस्त लग जाना या मूत्र स्राव होना ज्वर आ जाना, हिक्का श्वास

आदि रोग जो शरीर में पहिले से हों तो उनका बढ़ जाना इत्यादि साधक के संस्कारानुसार क्रिया शक्ति नाना प्रकार की क्रियायें कराती है, जिससे कि साधक के सब रोग शीघ्र नष्ट हो जायें ।

स्वर विक्रिया

विकृत शब्द—मुख, नासिक अथवा गले से नाना प्रकार के शब्द करना, स्वर साधन—नाना प्रकार के सुर, पशु, पक्षी, मेंढक, कुत्ता, बिल्ली, सिंह, व्याघ्र इत्यादि के सदृश शब्द करना गर्जन, हुंकार, चीत्कार और भयंकर शब्द करना तथा जल्प-बकने लग जाना अद्भुत भाषा बोलना, क्रन्दन ध्वनि-नाना-प्रकार के स्वर करके रोना, हास्यध्वनि-खिलखिला कर नाना भाव से हंसना, गान करना, भगवान के नाम का कीर्तन करना, मुखवाद्य बजाना जैसे मृदंग, तानपूरा के सदृश ध्वनि करना, नियमानुसार ताल देकर ताली बजाना, गद्य पद्य या गान की रचना करना, व्याख्यान देना और अनालस्य उत्साहित रहना इसी प्रकार नाना प्रकार के स्वर स्वयं साधक के बनते हैं और बिगड़ते हैं ।

आसन

घेरण्ड संहिता द्वितीय उपदेश

सिद्धं पद्मं तथा भद्रं मुक्तं वज्रञ्च स्वस्तिकम् ।
सिंहञ्च गोमुखं वीरं धनुरासममेव च ॥३॥

मृतं गुप्त तथा मात्स्यं मत्स्येन्द्रासनमेव च ।
गोरक्षं पश्चिमोत्तानं उत्कटं संकटं तथा ॥४॥

मायुरं कुक्कुटं कूर्मं तथा चोत्तान कूर्मकम् ।
उत्तानमंडूकं वृक्षं मंडूकं गरुडं वृषम् ॥५॥
शलभं मकरं उष्ट्रं भुजंगञ्चयोगासनम् ।

सिद्ध, पद्म, भद्र, मुक्त, सिंह, गोमुख, वीर, धनु:, मृत, गुप्त, मत्स्य, पश्चिमोत्तान, मत्स्येन्द्र, गोरक्ष, उत्कट, मयूर, कुक्कुट, कूर्म, मंडूक, वृक्ष, गरुड़, वृषभ, शलभ, मकर, उष्ट्र, भुजंग और योगादि नाना प्रकार के आसन होते हैं। इन आसनों से शरीर स्थिरता प्राप्त करता है, शरीर में अग्नि की पाचन क्रिया भली प्रकार होती है और रजोगुण, तमोगुण प्रशमन होते हैं और शरीर निरोगी रहता है।

साधक को कई प्रकार की योनियों के आसन होते हैं, क्योंकि जीव कोटि-कोटि जन्म ले चुका है, इसलिये चौरासी लाख योनियों में भ्रमण भी कर चुका होगा। अतः उन योनियों के अति सूक्ष्म संस्कार जीव में होते हैं, जो कुण्डलिनी शक्ति जागरण से स्मृति पथ में आकर चले जाते हैं। स्वप्न की तरह ये संस्कार ध्यानावस्था में साधक को भासते हैं, उसके कारण ही साधक स्वाभाविक चेष्टावान् होता है किस योगी के कैसे संस्कार हैं, यह साधक शारीरिक, मानसिक प्राण और स्वर की क्रियाओं के अनुमान से जान जाते हैं, अथवा जब साधक की शुद्ध स्मृति दृढ़ होती है तो साधक स्वयं जन्मान्तरों के संस्कारों का अच्छी तरह अनुभव करता है ऐसा भी प्रत्यक्ष देखा गया है। अतएव साधक जो आसन करते हैं वे भी उनके संस्कारों का परिणाम है, इसलिये चौरासी लाख आसनों में से हजारों प्रकार

के आसन साधक अपने आप कर जाते हैं। उद्भिद योनि के आसन – पद्म, ताल, वृक्ष आदि। जल योनि के आसन-कूर्म, मत्स्य, मकर इत्यादि। कीट योनि के आसन-भुजंग, शलभ वृश्चिक आदि। पक्षी योनि के आसन-मयूर, गरुड़, कुक्कुट, हंस इत्यादि। पशु योनि के आसन-सिंह, वृषभ, उष्ट्रासन आदि।

ये आसन खड़े होकर, बैठकर, लेटकर, सोकर, उल्टे, सीधे, टेढ़े और बांके होकर नाना प्रकार से किये जाते हैं और अनेक प्रकार से होते हैं।

बन्ध आदि मुद्रायें

हठयोग प्रदीपिका तृतीय उपदेश

महामुद्रा महाबंधो महावेधश्च खेचरी।
उडयानं मूलबंधश्च बंधो जालंधराभिधः ॥६॥
करणो विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम्।
इदं हि मुद्रा दशकं जरामरणनाशनम् ॥७॥

महामुद्रा, महाबंध, महावेध, खेचरी, उडयान, मूलबंध, जालधर बंध, विपरीतकरणी, बज्रोली और शक्तिचालन ये दश मुद्रायें जरा और मृत्यु का नाश करती हैं ये भी आसन के ही अन्तर्गत हैं।

घेरण्ड संहिता तृतीय उपदेश

महामुद्रा नभोमुद्रा उडयानं जलंधरम्।
मूलबंधो महाबंधो महावेधश्चखेचरी ॥१॥

विपरीतकरी योनिर्बज्रोली शक्तिचालनो ।
ताडागी मांडुकी मुद्रा शाम्भवी पंचधारण ॥२॥

अश्विनी पाशिनी काकी मातंगी च भुजंगिनी ।
पचविंशति मुद्राणि सिद्धिदानीह योगीनाम् ॥३॥

महामुद्रा, नभो मुद्रा, उड्यान, जालंधर, मूलबंध, महाबंध, महावेध, खेचरी, विपरीतकरणी, योनि, बज्रोली, शक्तिचालनी, ताड़ागी, मांडुकी, शाम्भवी, पार्थिवी, आम्भसी, वैश्वानरी, वायवी आकाशी, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातंगी और भुजंगिनी ये पच्चीस मुद्रायें योगियों को सिद्धि देने वाली हैं। ये भी आसनों के साथ ही की जाती हैं। आसनों का प्रधान कार्य शरीर को स्थिर करके दशों वायु को भला प्रकार चलाना और मुद्राओं का प्रधान कार्य शरीर को दृढ़ करके प्राण वायु को अंग विशेष में स्थिर करना है, जिससे मन धारणा करने में समर्थ हो जाता है। मुद्राओं के स्थानः—मलद्वार और योनि स्थान में अश्विनी मुद्रा, मूलबन्ध तथा महाबन्ध होता है इनकी क्रिया गुदा का संकोचन और विकास करने से होती है। नाभि और उदर में उड्यान बन्ध, ताड़ागी मुद्रा और सारंगी होती है इनका कार्य उदरस्थ वायु को भरना और खाली करना है, कण्ठ संकोच में जालंधर बन्ध एवं चक्षु में त्राटक और शाम्भवी मुद्रा होती है, कर्ण में नाद, श्रवण, षण्मुखी मुद्रा तथा भ्रामरी होती हैं, जिह्वा में खेचरी नभो मुद्रा और मांडुकी होती है, मुख में भुजंगी, काकी और योनि मुद्रा होती है, मस्तक में विपरीतकरणी होती है और सर्वाङ्ग में महामुद्रा, महावेध तथा ताड़न परिधान आदि

आदि क्रियायें होती हैं। इस प्रकार साधक को शास्त्रानुसार अपने आप प्रकृति देवी कुण्डलिनी शक्ति सब क्रियायें कराती है। इन बंध मुद्राओं के साधन से साधक का आनन्द तथा उत्साह बढ़ता है और इनका नित्य अभ्यास होते रहने से जठराग्नि प्रज्वलित होती है, श्वास, काश, प्लीहा और बीस प्रकार के श्लेष्मा के रोग सब नष्ट हो जाते हैं।

प्राणायाम

लिङ्ग पुराण तथा वायवीय संहिता

आनन्दोद्भव योगार्थं निद्रा घूर्णिस्तथैव च।
रोमाञ्चध्वनि सम्विद्धसांग मोटन कम्पनम् ॥१॥

भ्रमणं स्वेद जल्पाश्रु सम्बिन्मूर्छा भवेद्यदा।
तदोत्तमोत्तमः प्रोक्तः प्राणायामः सुशोभनः ॥२॥

योगशास्त्र में कुण्डलिनी शक्ति जागरण के लिये प्राणायाम को ही मुख्य साधन कहा है। योगशास्त्र के कथनानुसार प्रथम प्राणायाम से धर्म मध्यम से कम्प और उत्तम से प्राण का उत्थान होकर कुण्डलिनी जाग्रत होती है। ये प्राणायाम अपनी इच्छा से परिश्रम करके करने पड़ते हैं, परन्तु जब कुण्डलिनी जाग्रत होकर क्रियायें कराती है, तो इनसे भी बढ़ कर प्राणायाम बिना परिश्रम स्वतः ही होते हैं, उनसे साधक को महा आनन्द के चिह्न, घूर्णा, योग निद्रा तथा रोमाञ्च उद्भव होते हैं, और साधक आनन्दावेश में आकर ओम् की ध्वनि करने लगता है, और उसे शरीर का मरोड़ना, कम्प, भ्रमण, प्रस्वेद, जल्प होने लगते हैं एवं आनन्दाश्रु बहने लगते हैं और साधक को

ज्ञान युक्त मूर्छा हो जाती है, जिससे योग का अर्थ स्पष्ट हो जाता है, यही उत्तम से भी उत्तम प्राणायाम है। जब-२ कुण्डलिनी शक्ति को सुषुम्ना विवर में होकर ब्रह्मरन्ध्र में जाने की आवश्यकता होती है, तब-२ कुण्डलिनी महादेवी स्वयं ही साधक से योगशास्त्र कथनानुसार नाना प्रकार की क्रियाओं के साथ प्राणायाम कराती है, जिससे कि साधक के मन, प्राण, शरीर स्वस्थ और संगठित हो जायें, एवं साधक बिना प्रयास अपना अभीष्ट सिद्ध कर सकें।

इसी तरह कुण्डलिनी महाशक्ति साधक को कई प्रकार के प्राणायाम भी कराती है। सूर्यभेदन, उज्जायी, शीतकारी, शीतली भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्छा और प्लाविनी ये आठ प्रकार के कुम्भक प्राणायाम हैं, इनके सिवाय बाह्याभ्यन्तर और स्तम्भवृत्ति तथा केवल कुम्भक प्राणायाम है, जो आवश्यकतानुसार साधक को स्वतः ही होते हैं, इन सब का वास्तविक विज्ञान योग साधना करने से ही जाना जाता है, इसके साथ ही साधक को पंचभूत के तत्त्व का समूह का ज्ञान स्वयं स्फुरता है। जो साधक पूर्वजन्म में ज्ञान, योग, भक्ति, मंत्र, जप, देवी देवताओं की पूजा करके आये हैं, उन्हें इसी जन्म में भी किसी भी प्रकार से कुण्डलिनी शक्ति के जागने से अपने पूर्व जन्म के संस्कारानुसार ज्ञान का साधन—सब में आत्मतत्त्व का एकत्व अनुभव करना, योग साधन—यमनियमादि अष्टांग योग क्रियायें करना और भक्ति साधन में भगवत् प्रेम के लक्षण चित्तचाञ्चल्य, चित्त-क्षोभ, भयत्रास, शंका, संशय, उग्रता तथा गर्व प्रफुल्लता, विषाद और स्वप्नयुक्त निद्रा एवं सुषुप्ति तथा मूर्छा और भाव-

समाधि का होना और मंत्र जप वालों को भी शक्ति मार्गानुसार उपरोक्त लक्षण समूह तथा देवी देवताओं के दर्शन इत्यादि होते हैं। सब साधकों की एक सी क्रियायें नहीं होतीं, हरेक की प्रकृति और प्रवृत्ति विभिन्न है, इसलिये साधकों के अनुभव और क्रियायें भी विभिन्न होती हैं क्योंकि प्रत्येक साधक के संस्कारों की विभिन्नता के कारण सबकी क्रियायें एक सी नहीं हो सकतीं। परन्तु सबकी साधनाओं का अन्तिम फल समाधि या ज्ञान और मोक्ष एक ही है।

नौ रस

रौद्रोऽद्भुतश्च शृङ्गारो हास्यं वीरो दया तथा।
भयानकश्च वीभत्सः शान्तः सप्रेमभक्तिकः ॥

रौद्र–तीक्ष्ण भाव, अद्भुत–विस्मयजनक भाव, शृङ्गार-रतिजनक भाव, हास्य—हंसी खुशी प्रसन्नता का भाव, वीर—उत्साह पूर्ण भाव, दया—करुणा का भाव, भयानक—भय सूचक भाव, वीभत्स—घृणाव्यञ्जक भाव और सप्रेम भक्तियुक्त, शान्त—नम्र भाव, ये नौ भाव रस कहलाते हैं।

कुण्डलिनी शक्ति जागने से नाना प्रकार के अश्रुण्त शास्त्रों का ज्ञान और अज्ञात सब भाव समूह स्वयं प्रकाशित हो जाते हैं और उस भावावेश में ही साधक महा आनन्दित रहता है एवं मन में जो स्फूर्णायें होती हैं उनको क्रिया रूप में अपने-अपने संस्कारानुसार प्रकट करता है, जिसकी कोई शृंखला या क्रम नहीं है। जिस समय जो भाव वृत्ति आती है वह अपना वैसा ही कार्य करती है। अव्यक्त चैतन्य शक्ति से साधक के मन को

सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथा कभी तीव्र भाव की प्रेरणायें होती हैं जिन पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है, कार्य में परिणत होने देने की आवश्यकता है, इसलिये साधकों को निःशंक निर्भय होकर अपनी इच्छा शक्ति को क्रिया में परिणत होने देना चाहिए।

जब साधक में रौद्रभाव का प्रकाश होता है तो साधन काल में साधक क्रोध और कर्कशभाषा में अपने रौद्ररूप को प्रकाशित करता है और जब साधक में अद्भुत रस की क्रियायें होती हैं तब वह महाविस्मय प्रकाश करता है क्योंकि उसे अनुभव भी विस्मयकर ही होते हैं, तैसे ही साधक में शृङ्गाररस का आविर्भाव होता है तो अपने उपास्य देव को पति रूप से देखता है अथवा आत्मरति में निमग्न हो जाता है और जब साधक में हास्य रस का विकास होता है, तो वह साधन काल में स्मित, हसित, विहसित, अविहसित, अपहसिल और अतिहसित इन छः प्रकार के हास्यों में से किसी प्रकार के हंसने की क्रिया करता है और घण्टों तक नाना प्रकार से हंसता ही रहता है। साधक को क्रिया करते-करते वीररस का भाव आ जाता है तो वह इतनी स्फूर्ति से गजन, तर्जन, आस्फालन, शरीर का तोड़ना मरोड़ना अथवा आवेश में कठिन से कठिन कार्य को भी सहज में कर डालता है औह यदि चाहे तो उस अवस्था में वह मजबूत से मजबूत चीजों को भी तोड़ मोड़ सकता है अर्थात् साधन काल में वह वीर की तरह उत्साह पूर्ण होता है। साधन काल में बहुत से साधक करुणारस में भर जाते हैं। तो कष्ट व्यञ्जक करुणा जनक स्वर में रोते हैं और रुलाते हैं। बहुत से साधकों

को साधना करने बैठते ही अन्तर में भय का संचार होता है जिससे वह भयभीत हो जाते हैं अथवा भयसूचक शब्द करते हैं, कितने साधक साधन समय में निन्दा और घृणात्मक शब्द बोलते हैं और तिरस्कार सूचक शरीर की चेष्टायें करते हैं। ऐसे ही शान्त भाव वाले साधक साधन काल में चुपचाप सुनसान शरीर, मन, प्राण, इन्द्रियों की क्रिया के व्यापार को रोक कर निश्चेष्ट बैठ जाते हैं और अपने अन्तरात्मा में संलग्न हो जाते हैं, जिससे परम शान्ति और महासुख अनुभव करते हैं। इस तरह महायोग साधन में अन्तरात्मा की प्रेरणा से साधकों को शारीरिक, मानसिक और प्राण की क्रियायें होती हैं। सब तत्त्व और भौतिक विषय समूह का ज्ञान हो जाता है, एवम् ये प्राकृतिक तत्त्व साधक के अनुकूल हो जाते हैं। उनके स्थान, कार्य, स्थिति और स्वरूप को साधक स्वयं जानने लगता है और उनसे अपने आवश्यतानुसार भौतिक और आध्यात्मिक सहायता लेता है। वे भी साधक के प्रतिकूल कभी नहीं होते।

ये सब क्रियायें अर्थ शून्य नहीं हैं

कुलार्णवतन्त्र अष्टम पटल

यत्र यत्यत्कृतं कर्म शुभं वा यदि वाशुभम्।
तत्सर्वं देवता प्रीत्यै जायते सुर सुन्दरि ॥१॥

जल्पो जपफलं तन्द्रा समाधिरभिधीयते।
विक्रिया पूजनं देवि छर्द्दितं भैरवी बलिः ॥२॥

मुक्तिःस्याच्छक्तिसंयोगः स्तोत्रं तत्कालभाषितम्।

न्यासोऽवयवसंस्पर्शो भोजनं हवनक्रिया ।
वीक्षणं ध्यानमीशानि शयनं वन्दनं भवेत् ॥३॥

अतएव साधक की कुण्डलिनी महाशक्ति जाग्रत होने से मंत्र, यंत्र, जप, तप, पाठ, पूजन, उल्टा-सीधा जो कुछ भी किया हो वह सब शुभरूप होकर फलने लगता है और सब देवी देवता प्रसन्न हो जाते हैं। क्रिया के समय साधक जो कुछ भी शुभ अशुभ क्रिया कर्म करते हैं वे सब आत्मदेव की प्रीतिसम्पादन-कर्त्ता हैं। इसलिये क्रिया करते समय साधक का जल्पना, बकना, जप का फल देता है और उस समय की तन्द्रा या निन्द्रा समाधि का फल देती है, अंगों की चेष्टा विक्रिया पूजा का फल प्रदान करती है। रेचक, पूरक, कुम्भक प्राणायाम बलि का काम देता है जिससे सब पाप नाश होते हैं। इसी तरह उस समय का कुण्डलिनी शक्ति का संयोग मुक्तिरूप फल देता है और क्रिया साधन के समय का बोलना स्तोत्र पाठ के सदृश फलदायक है तथा उस समय का अवयव संस्पर्श हाथ से निज अंग प्रत्यग का मर्दन और स्पर्श मंत्र न्यास का काम करता है, क्रिया करते समय का खाया हुआ भोजन हवन का फल देता है और क्रिया शक्ति के आवेश से जिस तरफ भी दृष्टिपात होता है या देखा जाता है वह ध्यान रूप है। उससे ध्यान का फल होता है एवं क्रिया करते-करते लेट जाना, ईश्वर के प्रति साष्टांग प्रमाणरूप नमस्कार का फलदायक है, इसी तरह साधक कुण्डलिनी जागरण से अपने-अपने संस्कारानुसार जो कोई भी क्रियायें करते हैं चाहे शुभ हों या अशुभ हों, सब आध्यात्मिक ज्ञान में परिणत होकर महामंगल रूप सुखदायक हो जाती हैं।

योगक्रिया द्वारा कर्मनिवृत्ति

वायवीय संहिता अध्याय ११

अध्यात्मविद्याहि नृणां सौख्यमौक्ष्यकरीभवेत् ।
धर्म कर्म तथा जप्यमेतत्सर्वं निवर्तते ॥१॥

मत्प्रसादाद्विशुद्धानां दुखमाश्रमरक्षणम् ।
न विधि न निषेधश्च तेषां मम यथा तथा ॥३०॥

क्योंकि त्रिताप से संतप्त मनुष्यों को संसार में रहकर परम शान्ति पाने के लिए एक मात्र उपाय अध्यात्मयोग विद्या है जो परम सुख और मुक्ति प्रदान करती है। उनकी प्राप्ति होने से साधक के सब धर्म-कर्म, पाठ-पूजन, जप-तप इत्यादि अपने आप छूट जाते हैं और साधक सदा के लिये विधि निषेध के सब धर्म-कर्म से निवृत्त हो जाता है। इसलिये श्री महेश्वर कहते हैं कि मेरी कृपा प्रसाद क्रियाशक्ति से जो साधक विशुद्ध हो गये हैं उनके लिये शास्त्र कथित वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करना कष्ट कर है इसलिये वे आश्रम धर्म की रक्षा नहीं कर सकते, न उन्हें करना आवश्यक है, क्योंकि वे भी मेरी भक्ति एवं शक्ति के बल से मेरे ही सदृश विधि और निषेध से परे हैं, अतएव उनके लिये विधि निषेध का कोई बन्धन नहीं है।

सूर्यगीता

आद्यज्ञानोदये काम्यकर्मत्याग उदोर्यते ।
द्वितीयसम्यग्ज्ञाने तु नैमित्तिकनिराकृतिः ॥१॥

तृतीयपूर्णज्ञाने तु नित्यकर्मनिराकृतिः ।
चतुर्थाद्वैतबोधेतु सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ॥२॥

अतएव प्रथम तों योग साधना से ज्ञान का उदय होता है जिससे साधक लोग काम्य कर्म का त्याग करते हैं, क्योंकि ज्ञान का प्रकाश होने से साधक के मन में सांसारिक सुख प्राप्ति की कोई इच्छा नहीं रहती। इसलिये वे कामना करके कोई कर्म नहीं करते, इसी तरह ज्ञान का उदय होने से साधक के काम्य कर्म का त्याग होता है, दूसरे साधना से प्रकाशित हुआ ज्ञान साधक की बुद्धि में समा जाता है। सम्यक प्रकार से ज्ञान बुद्धि में प्रतिष्ठा पा जाने से साधक निमित्त कर्म का भी त्याग कर देते हैं, क्योंकि वे लोग किसी निमित्त से कोई कर्म नहीं करते। इसी ज्ञान के विचार से उनके निमित्त कर्म का त्याग होता है। तीसरे योग साधना से साधक को पूर्ण ज्ञान हो जाता है तो वे नित्यकर्म का त्याग करते हैं और चौथे साधक को अद्वैत ज्ञान होने पर उनके वर्णाश्रम धर्म का भी त्याग हो जाता है। इसी तरह श्री शिवजी की कृपा क्रिया शक्ति से ज्ञान का उदय होकर प्रतिष्ठा पाकर पूर्णता लाभ करने पर साधकों के नित्य-निमित्त काम्य और प्रायश्चित तथा निषिद्धादि सब कर्मों का त्याग हो जाता है और साधक अद्वैत ज्ञान से शिवरूप हो जाते हैं। तब उनको कोई कर्म बांध नहीं सकते।

★★

द्वादश प्रकाश

दीक्षा द्वारा कुण्डलिनी शक्ति की मन्त्र सृष्टि

शारदा तिलक तंत्र प्रथम पटल

यदा भवति सा संविद्गुणी कृतविग्रहा ।
सा प्रसूते कुण्डलिनी शब्द ब्रह्ममयो विभुः ॥
शक्ति ततो ध्वनितस्मान्नादस्तस्मान्निबोधिका ॥१०८॥
ततोऽर्धेन्दुस्ततो विन्दुस्तस्मादासीत्परा ततः ॥
पश्यन्ती मध्यमा वाणी वैखरी सर्ग जन्मभूः ।
इच्छा-ज्ञान-क्रियात्मासौ तेजोरूपा गुणात्मिका ॥१०९
क्रमेणानेन सृजति कुण्डली वर्णमालिकाम् ॥

गुरु दीक्षा से साधक को जब संवित्-स्वप्रकाशिका ज्ञान शक्ति कुण्डलिनी देवी अपने स्वरूप का ज्ञान कराने के लिये विशेष गुणयुक्त क्रियाशील होती है, तो शब्द ब्रह्ममयीशक्ति से अनेकानेक चमत्कार गुणवती शक्ति का प्रसव करती है और उस शक्ति से ध्वनि, नाद, निबोधिका, अर्धेन्दु, बिन्दु, परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वर्णमाला प्रकाशक के क्षेत्र वैखरी वाणी को उत्पन्न करती है। यह कुण्डलिनी शक्ति ही तेजरूप होकर गुणों का आश्रय करके इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूप से प्रकाशित होकर उपरोक्त क्रम से वाणी और वर्णमाला की सृष्टि करती है जिसका अनुभव साधनकाल में साधक अपने में होने वाली

क्रियाओं के लक्षणों से जान सकते हैं, कि वे कुण्डलिनी शक्ति की किन-किन क्रियाओं का अनुभव कर रहे हैं।

कुण्डलिनी के प्रथम सम्वित्-स्वरूप की अवस्था में साधक को अनुभव होता है कि शरीर, मन, प्राण, शक्तिहीन हो गये हैं तथापि चेतना बनी हैं। दूसरे जब कुण्डलिनी शक्तिरूप से प्रकाश पाती है तो साधक को अपने में मन, प्राण की क्रिया शक्ति का अनुभव होता है, फिर ध्वनि के उत्पन्न होने पर साधक अन्तर में अव्यक्त ध्वनि शब्द सुनता है, परन्तु नाद का ठीक निर्देश नहीं कर सकता। जब कुण्डलिनी नाद का रूप धारण करती है, तब साधक अन्तर में व्यक्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म नाद को स्पष्ट सुनता है। इसके पश्चात् साधक को निबोधिका अवस्था का बोध होता है जिसमें ज्योतियों का दर्शन होना आरम्भ होता है, फिर अर्धेन्दु—चन्द्रमा के दर्शन होते हैं उनके पश्चात् बिन्दु-रूप ज्योति का प्रकाश होता है, उससे सब प्रकार के नाद सुस्पष्ट होकर भिन्न-भिन्न शब्द, वीणा, वंशी, भ्रमरादि रूप से परा, पश्यन्ती, मध्यमा में अनुभव करता है और फिर वैखरी द्वारा वर्णमाला के रूप में नाना प्रकार की क्रिया से शब्द के रूप में व्यक्त करता है।

गुणिता सर्वगात्रेषु कुण्डली पर देवता।

विश्वात्मना प्रबुद्धा सा सूते मंत्रमयं जगत् ॥५७॥

एकधा गुणिता शक्तिः सर्व विश्वप्रवर्तिनी।

वेदादिबीजं श्रीबीजं शक्तिबीजं मनोभवम् ॥५८॥

प्रासदं तुम्बुरं पिण्डं चिन्तारत्नं गणेशकरम् ।
मार्तण्डं भैरवं दौर्गं नृसिंह वराहजम् ॥५६॥
वासुदेवं हयग्रीवं बीजं श्री पुरुषोत्तमम् ।
अन्यान्मपि च बीजानि तदोत्पादयती ध्रुवम् ॥६०॥

वह परम देवता स्वरूपिणी ईश्वरी शक्ति जाग्रत होकर अच्छी तरह क्रियायें करती है, तो साधक के शरीर में व्याप्त होकर मंत्रमय जगत् को रचने लगती है, जिससे साधक वेदादि शास्त्र के बीज मंत्र प्रणव की ध्वनि करने लगता है, साथ ही साथ आवेश में नाना प्रकार के देवी देवता, शिव, शक्ति, विष्णु, सूर्य, गणपति, दुर्गा, भैरव, नृसिंह, बराह, वासुदेव, हयग्रीव, पुरुषोत्तम आदि देवताओ के ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं इत्यादि बीज मन्त्र उच्चारण करके जपने लगता है। इस प्रकार कुण्डलिनी शक्ति जो कि साधक ने न ही देखे–सुने और सीखे न हों, ऐसे अन्यान्य मंत्र सब निश्चय उसके मुख से प्रकाश करती है, कि जिससे साधक के नाम राशि के प्रतिकूल अनिष्ट करने वाले मन्त्र भी चैतन्य और सिद्ध हो जायें इससे मन्त्र प्रतिपाद्य कुण्डलिनी शक्ति और मन्त्र चैतन्य की एकता की सिद्धि होती है।

स्वतः सिद्ध प्रणव

कण्ठोपनिषद् प्रथम अध्याय

एतदेवाक्षरं ब्रह्म ह्येतदेवाक्षरं परम् ।
एतद्धये वाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्ययत् ॥१६॥

एतदालम्बनं श्रेष्ठं एतदाम्बनं परम।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥१७॥

इस प्रकार कुण्डलिनी शक्ति की व्यक्त और अव्यक्त तथा व्यापक अवस्था से प्रथम वेद का बीज मन्त्र ओंकार का प्रकाश होता है, ॐ के पश्चात और देवी देवताओं के मन्त्र की रचना होती है, इसलिये कुण्डलिनी शक्ति जागरण होने से साधक को प्रथम ध्वनि रूप शब्द ओंकार का बोध परावाणी में होता है क्योंकि ओंकार से ही मन्त्र सृष्टि का आरम्भ होता है। यह ॐ अक्षर ही ब्रह्म है और यही महाश्रेष्ट है इसको जो अपने अन्तरात्मा में स्वतः स्फुरित जानते हैं उनकी जो कोई भी इच्छा हो, वही परिपूर्ण होती है, यह ॐ ही परम श्रेष्ठ अवलम्बन है। योग साधना से इस परम आश्रय को जान लेने से ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है।

अतएव यह बीज रूप ॐ ब्रह्म है ऐसा वेद का कथन है ब्रह्म अवाङ् मनोगोचर है, तद्रूप वेद स्थित यह मूर्तिमान ॐ भी मन वाणी से परे लक्ष्यार्थ है. जैसे ब्रह्म के रूप को वाणी से व्यक्त नहीं किया जा सकता वैसे ही ॐ के रूप को भी सामान्य वाणी से व्यक्त नहीं किया जा सकता, परन्तु इसको अन्तर में ब्रह्म की तरह बोध किया जाता है। साधारणतया व्यवहार में आने वाले अक्षर सोलह स्वर और छत्तीस व्यञ्जन-वर्ण प्रचलित हैं, व्याकरण के हिसाब से उदात्त. अनुदात्त, स्वरित भेद से कई प्रकार से होकर ह्रस्व, दीर्घ प्लुतादि स्वर से उच्चारित किये जाते हैं, परन्तु उद्गीथ स्वरूप इस ब्रह्मरूप ॐ के सदृश आकृति वाला उन अक्षरों में से कोई नहीं

है इसलिये इसका उच्चारण भी उन अक्षरों की सहायता से नहीं हो सकता है।

वराहोपनिषद पञ्चम अध्याय

ह्रस्वो दहति पापानि दीर्घो मोक्षदायकः ।

आप्यायनः प्लुतोवापि त्रिविधो च्चारणो न तु ॥६८॥

शास्त्र में वैदिक मन्त्र जप के फल की अवधि कही है इस लिये सामवेद के मंत्र षडज, ऋषभ, गन्धारादि स्वर से उच्चारण करके जप हवन करने से उसका फल सद्य मिलता है। सामवेद के उद्‌गाता उद्‌गीथ उपासना में वेद के स्वरों से ॐ की ध्वनि करते हैं उसका स्वर भी उसके ही अन्तर्गत है। यह ॐ स्वतः सिद्ध है इनके विचित्र स्वरों की योजना कुण्डलिनी शक्ति से होती है। तब इसका ह्रस्व उच्चारण होने से पापों का नाश होता है और दीर्घस्वर से उच्चारण होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है और प्लुत स्वर से उच्चारण करने से शरीर, मन, प्राण तृप्ति लाभ करते हैं।

सिद्ध महायोग का कार्य सम्पादन करने वाली योगमाया कुण्डलिनी शक्ति वैदिक मंत्र के समस्त स्वरों का सम्पादन करती है, तब यही ॐकार परावाणी से प्रस्फुरित होकर पश्यन्ती मध्यमा होता हुआ वैखरी में व्यक्त होता है और वैखरी की क्रिया आरम्भ होते ही साधक को मूलाधार एवं तालुमूल में कम्पन आरम्भ होता है और कम्पन के साथ षडज, ऋषभ, गान्धारादि विचित्र स्वर से दीर्घ प्रणव उच्चारण होता है। इस प्रणव की ध्वनिका अर्थ स्वर व्यञ्जन वर्णों से कोई सम्बन्ध नहीं रखता।

मूलाधार से कुण्डलिनी शक्ति की प्रेरणा से साधक स्वयं उच्चारण करता है, तब साधक प्रायः अर्द्ध संज्ञा शून्य हो जाता है और हृदयाकाश में बहुत से नादों का गुंजार सुनता है, परन्तु नाद का निर्देश नहीं कर सकता और आवेश में आप्लुत हो जाता है, तब उन्हें यह ज्ञान नहीं रहता कि मैं बड़े जोर की ध्वनि कर रहा हूँ। यह गगनभेदी ध्वनि यदि रात्रि के समय खुले मैदान में को जाये तो दो तीन मील पर्यन्त गतिशील होती है, सुनने में ऐसी श्रुति मधुर होती है कि सुनने वालों के मन को मुग्ध कर देती है, परन्तु ध्वनि के स्वरादि समझ में नहीं आते हैं वरन् बहु स्वर मिश्रीत कोई अद्भुत स्वर की प्रतीति होती हैं। जैसे सामवेद के उद्गाता और श्रोता स्वर की एकता में तल्लीन हो जाते हैं, तैसे ही यह स्वतः प्रणव की ध्वनि उभय को अर्थ बोध रहित आश्चर्यता में निमग्न करती है। इसके स्वर का कुछ भाग हुकार शब्द के साथ मिलता है, परन्तु ठीक हुंकार कहा नहीं जा सकता क्योंकि इसकी विचित्रता का वर्णन नहीं हो सकता।

जब वैखरी क्रिया के प्रणव जप की ध्वनि अपना समाप्त कर लय हो जाता है, तब इसके बाद साधक वैसी अपनी इच्छा से भी कर सकता है परन्तु मानसिक आनन्द आता और पांच दश बार ध्वनि करते ही चित्त चाहता अब न करें, क्लान्ति होने लगती है और गले का स्वर भं जाता है, स्वभावतः क्रिया के आवेश में कई एक साधकों ने नित्य प्रति चार पांच घण्टा मासावधि काल दीर्घ प्रणव ध्वनि की थी। उस समय उसका स्वर गगनभेदी होता था

शरीर स्फुर्तियुक्त रहता था। महामायाकृत इस योगक्रिया कौशल का सामर्थ्य लिख कर समझाना सहज नहीं है। इस दीर्घ प्रणव ध्वनि के बाद किसी-२ भाग्यवान् साधक को यही ध्वनि सूक्ष्म होती है महायोग में इसका नाम है स्वतः प्रणव जाप, उक्त दीर्घ प्रणव जाप की अपेक्षा इस सूक्ष्म जाप में मन उससे शतगुण अधिक सुख अनुभव करता है और इस जप की क्रिया अष्ट प्रहर चलती रहती है, स्वप्न में भी साधक का मन क्रियात्मक रहता है। इसके आरम्भ और अवधि का कोई नियम नहीं है।

सूक्ष्य प्रणव जाप आरम्भ होने के पश्चात् मन योग से प्राप्त होने वाले ऐश्वर्य की वाञ्छा नहीं करता और इस जप के कारण अन्तरमुख होकर रहता है, विषय वासना ह्रास हो जाती है, एवं मन आत्मतत्त्व में अति निष्ठावान् हो जाता है और मूर्छित होकर रहता है, काम क्रोध से व्यथित नहीं होता, प्राण प्रवाह स्पन्द प्राय: रहता है और श्वास-प्रश्वास दीर्घ नहीं होते। साधकको क्रिया में बैठने पर और दूसरी क्रियायें कम आती हैं, यही क्रिया मुख्य रह जाती है इसके साथ२ साधक को सूक्ष्म नाद श्रवण गोचर होता है कभी दूर कभी निकट का लक्ष्य होता है, परन्तु इस अवस्था में भी साधक अन्तर में कोई दृश्य नहीं देखता, उसका मन शान्त एवं शून्य एकाग्र रहता है समयानुसार कभी२ बाहर की भी विस्मृति हो जाती है, किन्तु प्राय: साधक का मन इस अवस्था में भी बाहर के विषय ग्रहण करने का सामर्थ्य रखता है। इस स्वतः प्रणव जप की अवस्था से मन धारण में पूर्ण प्रतिष्ठित होता है। जिससे साधक आलस्य एवं निद्रा को जीत लेता है और

शरीर में सत्त्वगुण का संचार सदा बना रहता है।

योगमाया कृत वैखरो क्रिया से प्रवर्तित स्वत: सिद्ध प्रणव यह ॐ वर्णरूप नहीं कहा जा सकता, परन्तु ध्वनिरूप कहने की आवश्यकता है, क्योंकि षडज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धंवत और निषाद इन सप्त स्वरों के साथ इसकी ध्वनि का सम्बन्ध प्रतीत होता है, किन्तु स्वरों का पृथक निर्देश नहीं होता, इसलिये अद्भुत किंवा विचित्र कहने में अत्युक्ति नहीं है। अतएव स्वत:प्रणव जाप में मनकी अवस्था मन ही जानता है, सूक्ष्म प्रणव जप की ध्वनि के स्वर का कहना किसी साधक से अभी तक नहीं बना, साधक इस क्रिया को अनाहत ॐ ध्वनि अथवा नादानुसन्धान कह कर मौन हो जाते हैं, परन्तु अनाहत ध्वनि एवं स्वतः प्रणव जप की ध्वनि में विशेष तारतम्य है, क्योंकि अनाहत ध्वनि दश प्रकार की होती है, प्राणवायु के ब्रह्मरन्ध्र में जाते समय भेरी झरझरो शब्द सुने जाते हैं, अन्त में प्राण ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर होने पर किंकिणी, वंशी, वीणा, भ्रमरादि के शब्द सुने जाते हैं, अतएव नादानुसन्धान एवं स्वत: प्रणव जप में तारतम्य अवश्य है, क्योंकि नादानुसन्धान स्थिर एवं चिरस्थायी है और स्वतः प्रणव जाप अस्थिर तथा क्षणस्थायी है।

प्रणव नाम ॐ लक्ष्यार्थ है

समस्त वस्तुओं का नाम वाच्यार्थ है परन्तु उन का रूप लक्ष्यार्थ होता है, ऐसे ही परम पवित्र ब्रह्म का रूप ॐ जपादि साधन काल में प्रणव नाम से वाच्यार्थ होता है और जप करके स्थिति काल में ब्रह्म का रूप ॐ लक्ष्यार्थ है, जैसे किसी व्यक्ति

का नाम हरि है; हरि शब्द से हरि के रूप का बोध नहीं होता किन्तु नाम का बोध होता है नाम वाच्यार्थ है। हरि से मिलने पर उनके रूप का बोध होता है। वह उनका रूप लक्ष्यार्थ है। इसलिये योग दर्शन में कहा है—"तस्य वाचकः प्रणवः" प्रणव ईश्वर का वाचक अर्थात् उनके नाम का प्रकाशक है इस लिये वाच्यार्थ होता है। योगसाधन करके अथवा जप साधन करके ईश्वर से मिलने से ॐ लक्ष्यार्थ होता है, अतएव प्रणव नाम है, ॐ वस्तु है। इसलिये पुनः कहा है कि "तज्जपस्तदर्थभावनम्" प्रणव का जप करते समय अर्थ चिन्तन करना भी आवश्यक है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि प्रणव नाम है और ॐ वस्तु है। यह ॐ स्वर व्यञ्जन वर्ण नहीं है जो वर्ण ही नहीं है, वह ह्रस्व, दीर्घ प्लुत कैसे हो सकता है अतएव यह वर्णरूप 'प्रणव' शब्द नाम वाच्यार्थ है और ध्वनि रूप यह 'ॐ' 'शब्द' लक्ष्यार्थ है। यह हृदय ग्रन्थी भेदी ॐ का विषय योग साधन से अनुभवगम्य है।

योगशिखोपनिषद् अध्याय ३

यन्नमस्यं चिदाख्यातं यत्सिद्धीनां च कारणम्।
येन विज्ञातमात्रेन जन्मबन्धात्प्रमुच्यते ॥१॥
अक्षरं परमोनादः शब्द ब्रह्मेति कथ्यते।
मूलाधार गता शक्तिः स्वाधारा विन्दुरूपिणी ॥२॥
तस्यामुत्पद्यते नादः सूक्ष्मबीजादिवाङ्कुरः।
तां पश्यन्तीं विदुर्विश्वं यया पश्यन्ति योगिनः ॥३॥

जो चिद्रूप है; नमस्कार करने योग्य है एवं जो सिद्धियों

का कारण है और जिस का विज्ञान जानने मात्र से जीव जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाता है ऐसे अक्षर ॐ की ध्वनि के परम नाद को शब्द ब्रह्म कहते हैं। मूलाधार चक्र में स्थित बिन्दुरूपिणी शक्ति से यह ध्वनिरूप ॐ प्रकट होता है। जैसे बीज से अंकुर निकलता है, उस प्रकार ही ॐकार का प्रकाश होता है, इसको साधक मूलाधार में परावाणी तथा नाभि में और पश्यन्ती में अनुभव करता है।

हृदये व्यज्यते घोषो गर्जत्पर्जन्य सन्निभः।
तत्र स्थिता सुरेशाणि मध्यमेत्यभिधीयते ॥४॥
प्राणेन च स्वराख्येन प्रथिता वैखरी पुनः।
शाखा पल्लव रूपेण ताल्वादि स्थानघट्टनात् ॥५॥
अकारादिक्षकारान्तान्यक्षराणि समीरयेत्।
अक्षरेभ्यः पदानि स्युः पदेभ्यो वाक्य संभवः ॥६॥
सर्वे वाक्यात्मका मन्त्रा वेदशास्त्राणि कृत्स्नशः।
पुराणानि च काव्यानि भाषाश्च विविधा अपि ॥७॥

हृदय में मध्यमा, वाणी में मेघ गर्जनवत् इस ॐ की ध्वनि सुनता है। हृदयस्थ प्राण की सहायता से तालु मूलादि स्थान से, शाखा पल्लव रूप में वैखरी वाणी से, अकार से क्षकार तक अक्षरों का शब्द द्वारा प्रकाश करता है, उसके अक्षरों से पद और पद से वाक्य बनते हैं। जितने मंत्र, वेद, शास्त्रपुराणादि हैं, वे सब काव्य तथा नाना प्रकार की देश देशान्तरों की भाषायें सब वाक्यमय हैं।

सप्त स्वराश्च गाथाश्च सर्वे नाद समुद्भवः ।
एषा सरस्वती देवी सर्वभूत गुहाश्रया ॥८॥

वायुना वह्नि युक्तेन प्रेर्यमाणा शनैः शनैः ।
तद्विवर्तपदैर्वाक्यैरित्येवं वर्तते सदा ॥९॥

य इमां वैखरीं शक्ति योगी स्वात्मनि पश्यति ।
स वाक्सिद्धिमवाप्नोति सरस्वत्याः प्रसादतः ॥१०॥
वेद शास्त्र पुराणानां स्वयं कर्त्ता भविष्यति ।

इसी तरह सात स्वर तथा गाथायें ये सभी ध्वनिरूप नाद से ही उत्पन्न होते हैं, इनको उत्पन्न करने वाली सरस्वती देवी सब के हृदय में स्थित है, कुण्डलिनी शक्ति के कारण प्राण और अग्नि की प्रेरणा से इनको साधक क्रम से अनुभव करता है। यही वैखरी शक्ति विवर्त रूप होकर वाक्य रूप से बर्तती है। जो साधक योगी इस वैखरी शक्ति को अपने में देखता है वह सरस्वती की कृपा से वाक् सिद्धि लाभ करता है एवं वह स्वयं वेद शास्त्र और पुराणों का कर्त्ता बनता है।

दिव्यरूप दर्शन

सूर्यगीता तथा उमा संहिता अध्याय २७

यदा कुण्डलिनी शक्तिराविर्भवति साधके ।
तदा स पञ्चकोशे मत्तेजोऽनुभवति ध्रुवम् ॥१॥

ततस्तु तमसि ध्यानी पश्यति ज्योतिरैश्वरम् ।
श्वेतं रक्त तथा पीतं कृष्णमिन्द्रायुधप्रभम् ॥१६॥

भ्रुवोर्मध्ये ललाटस्थं बालार्क सम तेजसम् ।
दर्शनं नाम दिव्यानां दर्शनं चाप्रयत्नतः ॥२०॥

जब कुण्डलिनी शक्ति साधक में क्रिया रूप से प्रकाशित होती है तब साधक अन्नमय, प्राणमय, मनोमय आदि पंचकोश में मेरा सूर्यरूप ज्योतिर्मय तेज का निश्चय अनुभव करते हैं। ध्यान के समय साधक अन्धकारमय अन्तर आकाश में ज्योति-रूप ईश्वर के दर्शन करते हैं, वह ज्योति सफेद, लाल, पीली, काली, इन्द्रधनुष के सदृश्य नाना प्रकार के रंग की होती है। वह ज्योति भ्रूमध्य ललाट देश में प्रातःकाल में उदय हुए सूर्य के सदृश्य दीखती है इसका ही नाम दिव्य दर्शन है जो बिना प्रयत्न के ही स्वयं होता है 'विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थिति निबन्धनी, विशोका वा ज्योतिष्मती'।

इस प्रकार जब कुण्डलिनी शक्ति की प्रेरणा से क्रियायें करते२ साधकों के शरीर, मन, प्राग उत्कर्ष साधन करते हैं तो मन की स्थिति निबन्धन हेतु विषयवती प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, तब साधकों के चित्त की स्थिरता के लिये अन्तर में दिव्य वस्तु या ज्योति स्वयं प्रकट होती है। उस दिव्य ज्योति को देखकर मन स्वभावतः उसी में लग जाता है और साधक साधना के फल की चिन्ता से शोक रहित हो जाते हैं। प्रकाशमान दिव्य ज्योति का दर्शन होते ही साधकों का चित्त उसी में ही महासुख अनुभव करता है।

दिव्यदर्शन के प्रकार

वायवीय संहिता अध्याय ३८

एतेष्वथारविन्देषु यत्रैवाभिरतं मनः ।
तत्रैव देवं देवीं च चिन्तयेद्धीरयाधिया ॥७०॥

अंगुष्ठमात्रममलं दीप्तमानं समन्ततः ।
शुद्धदीपशिखाकारं स्वशक्त्या पूर्णमण्डितम् ॥७१॥

इन्दुरेखा समाकारं तारारूपमथापि वा ।
नीवारशूकसदृशं विससूत्राभमेववा ॥७२॥
कदम्बगोलकाकारं तुषारकणिकोपमम् ॥

इस ज्योति का दर्शन कई एक प्रकार से होता है जैसे :— विद्युत की चमक, विद्युत का प्रकाश, नक्षत्र दर्शन, चन्द्र, सूर्य और अग्नि का दर्शन, ज्योति का दर्शन, कोटि २ सूर्य प्रकाश के सदृश उग्र ज्योति तथा अनुग्रह सूचक महान् ज्योति का दर्शन होता है और उस ज्योति के रंग भी नाना प्रकार के होते हैं। इसके अतिरिक्त प्रज्वलित अग्नि शिखा, प्रदीप शिखा के सदृश, बिन्दु के सदृश तथा कांच, स्फटिकमणि और खद्योत के सदृश छोटे बड़े नाना प्रकार के रूप रंग के दर्शन होते हैं। कभी तारों से भरा हुआ आकाश, नीलाकाश, धुआँ, शीकर, अन्धकार और महाघोर अन्धकार के दर्शन होते हैं। साधना करते २ साधकों का मन जितना सूक्ष्म विषय ग्राही होता है उतने ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म दर्शन होते हैं।

सिद्धं वा स्वगुरुदेवं प्रसन्नतां च कुमारिकाम् ।
गंगा भागीरथीं भानु लिङ्गीनां लिङ्गमैश्वरम् ॥१॥

इसी तरह ज्ञान, योग, भक्ति आदि किसी भी मार्ग से तपस्या करते रहने से कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होने पर अथवा ईश्वर परायणता से चित्त शुद्ध होने पर साधकों को बिना आह्वान के उपरोक्त के अतिरिक्त और भी सिद्ध पुरुषों के दर्शन अपने गुरुदेव के दर्शन तथा ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर अथवा अपने इष्ट देवता के दर्शन और गन्धर्व, अप्सरायें, विद्याधर, पन्नग, यक्ष, रक्ष, किन्नरादि देवताओं के भी दर्शन होते हैं। योग, ज्ञान, ध्यान, परायण, सात्त्विक भावापन्न साधकों को प्रायः संन्यासी, ब्रह्मचारी, शिवलिङ्ग और अन्यान्य देवताओं की प्रतिमा के दर्शन ध्यान के समय अमनस्क अवस्था में, जाग्रत में अथवा स्वप्न में प्रायः होते रहते हैं, विशेष करके साकार उपासक भक्ति प्रधान साधकों को ही ये दर्शन अधिकतर होते हैं।

कन्या छत्रं रथं दीपं प्रासादं कमलं नदीम् ।
कुञ्जरं वृषभं माल्यं समुद्रं फणिनं द्रुमम् ॥२॥
पर्वतं च हयं मेध्यमामसांसं सुरासवम् ।
एवमादीनि सर्वाणि दृष्ट्वा सिद्धिमवाप्नुयात् ॥३॥

जो साधक कामना करके देवताओं के चैतन्य मंत्र, जप, तप अथवा गुरु प्रदत्त शक्ति की साधना करते हैं, उनकी कामना सिद्धि के सूचक उक्त दर्शनों के अतिरिक्त या साथ में ये दर्शन भी होते हैं। जैसे :— बालक, कुमारी कन्यायें, छत्र, रथ, दीप, प्रासाद,

देवमन्दिर, राजगृह, पद्म, नदी, हस्ती, घोड़ा, वृष, माल्य, समुद्र, फलित वृक्ष, पर्वत, ज्वलन्त अग्नि, कच्चा मांस, आसव, ग्रह, नक्षत्र, चन्द्र, सूर्य, रत्न, अलंकार, सिंहासन, आकाशगामी विमान, ध्वजा, राज्याभिषेक, सफेद चन्दन, शुभ्र वस्त्र, धान्य, कुमकुम, मधु, सफेद सरसों, राजा और बहुत सी स्त्रियां ये सब मंगलदायक वस्तुयें साधकों को स्वप्न में अथवा जब ध्यान के समय स्वप्न की सी अवस्था में दीखें तो उनके मन्त्र की सिद्धि शीघ्र ही होती है।

इसके अतिरिक्त नये पात्र, खीर, फल, सिद्धअन्न, दही, दूध, वाद्ययंत्र, सुन्दर स्त्रियां, ब्राह्मण, गौ, हंस, कबूतर, नीलकण्ठ मयूर, नकुल, शृंगाल, मृग, मेढक, पुष्प, सद्‌वाक्य, अंजन जलपूर्ण कलश, दर्पण एवं मीन, मद्य, भक्षण तथा रोदन हीन शव, इक्षु पताका, वेद ध्वनि, यान, चाबुक, अंकुश मंगल गीत, सैनिक, और अपने प्रियजनों के दर्शन तथा सूर्योदय, चन्द्र-ग्रहण, सूर्यग्रहण इत्यादि स्वप्न में दीखते हैं और बड़े बड़े मकान श्रीमानों के घर, राजमहल एवं देव मन्दिरों में जाने का और हाथी पर, घोड़े पर, बैल पर, बैठने तथा पर्वत पर चढ़ने का और अग्नि में प्रवेश करने स्वप्न साधको को दीखता है, इनके अतिरिक्त भयजनक स्वप्न भी होते हैं, बहुत सी स्त्रियों के साथ में भोजन करना, पकाया हुआ मांस खाना, शरीर में कीड़े लगते देखना, विष्टा का लेपन करना, रक्त से स्नान करना, रक्त का पान करना, मद्य पान करना, कच्चा मांस खा जाना इत्यादि प्रकार के भयंकर स्वप्न भी साधकों को दीखते हैं ये सब स्वप्नों के दर्शन मंत्र सिद्धि के सूचक हैं, कामना सिद्धि के लिए शास्त्र में इनको मंगलरूप कहा है।

इस प्रकार निष्कामता से अथवा कामनायुक्त होकर कुण्डलिनी जागरण से क्रिया करने वाले साधकों को प्रायः स्वप्न में देव प्रतिमा के दर्शन, देवताओं के उत्सव, संकीतन, शख, घड़ी-घण्टा के वाद्य, तथा उत्तम कथाओं का श्रवण और अति रमणीय मनोहर दिव्य स्थानों के दर्शन होते हैं, साधक अपने को आकाश में उड़ते हुए शून्यगामी प्रायः देखते हैं, ये सब लक्षण शुभ और सिद्धिदायक हैं क्योंकि कुण्डलिनी शक्ति के जागरण से साधक के अन्तर के द्वार खुल जाते हैं इसलिए मन अन्तर जगत में जब २ चला जाता है तब २ चलते, फिरते, बैठते, क्रिया करते और सोने में अपने २ संस्कार के अनुसार विशेष करके श्रद्धा भक्ति वाले साधकों को प्रायः ऐसे दर्शन होते रहते हैं।

दिव्य शब्द नादोत्पत्ति

राम गीता तथा उमा संहिता अ० २६

उक्तात्मभानतः पूर्वं पश्चात् च विविधः कपे ।
अभिव्यजन्त एतस्य नादस्तत्सिद्धि सूचकाः ॥१॥
अनाहतमनुच्चार्यं शब्दब्रह्म परं शिवम् ।
तस्मात् शब्दा नव प्रोक्ताः प्राणविद्भिस्तुलक्षिता ॥२८

अन्तर में ज्योतिरूप आत्मा के प्रकाश के पूर्व अथवा पश्चात् साधक नाना प्रकार के नाद सुनते हैं। ये नाद शब्द व्यक्त और अव्यक्त दो प्रकार के हैं जिस शब्द की उपमा किसी बाहर के शब्द के साथ दी जाये उसको अव्यक्त कहते हैं और जो शब्द घड़ी-घण्टा के तुल्य स्पष्ट प्रतीयमान होता हो उसको व्यक्त

कहते हैं। ये शब्द वर्णात्मक और ध्वनि आत्मक रूप से नाना प्रकार के हैं। बिना आघात और बिना उच्चारण के जो शब्द अन्तर में स्वतः होते हैं उनको मंगलदायक शब्द ब्रह्म कहते हैं, इसलिये शब्द ब्रह्म अनाहत ध्वनिको लक्ष्य करने वाले योगी लोग, इनको नौ प्रकार का कहते हैं, योग शास्त्र में नाद असंख्य प्रकार के कहे हैं, परन्तु योग साधन करने वाले साधक इनको संख्यारूप से सुनकर अनुभव करते हैं।

जाबाल दर्शन तथा योग चूड़ामण्युपनिषद्

आकाशंधारणयास्य व्योम सूक्ष्मं प्रवर्तते।
पश्यते मण्डलं सूक्ष्मं घोषश्चास्य प्रवर्तते ॥१॥
ब्रह्मरन्ध्रं गतेवायौ नादचोत्पद्यतेऽनघ।
शंख ध्वनि निभश्चादौ मध्ये मेघध्वनिर्यथा ॥३६॥
पवने व्योम सम्प्राप्ते ध्वनिरुत्पद्यते महान्।
घण्टादीनां प्रवाद्यानां ततः सिद्धिरदूरतः ॥११५॥

जब योग साधना से मन आकाश तत्त्व में जाता है तब सूक्ष्म आकाश से नाद प्रवर्तित होता है, उस समय साधक अन्तर में सूक्ष्म शून्य रूप ज्योति का दर्शन करते हैं, एवं शब्द सुनते हैं, जब ब्रह्मरन्ध्र में प्राणवायु जाता है तब मेघध्वनि और शंखध्वनि सदृश शब्द सुने जाते हैं, अन्तर आकाश में प्राण जाने से ही यह महान् ध्वनि होने लगती है तो घण्टादि के सदृश वाद्य बजने लगते हैं, ये शब्द योग सिद्धि के सूचक हैं ऐसा हो तो साधक को समझ लेना चाहिये कि अब योग सिद्धि दूर नहीं है।

दिव्य नाद के प्रकार

हठयोग प्रदीपिका चतुर्थ उपदेश

आदौ जलधिजीमूत भेरीझरझर संभवाः ।
मध्ये मर्दल शंखोत्था घण्टाकाहलजास्तथा ॥८४॥

अन्ते तु किङ्किणि वंशी भ्रमर निःस्वनाः ।
इति नाना विधा नादाः श्रूयन्ते देहमध्यगाः ॥८५॥

ये नाद सागर के जल के शब्द सदृश, मेघ गर्जनवत्, झरने के जल के प्रवाह की तरह, अथवा गाड़ी के शब्द सदृश तथा जलती हुई अग्नि के शब्द समान सुने जाते हैं और भेरी, काहल, दुन्दुभि, मादल, मृदंग, शंख, घण्टा, किंकिणी, कांस, झांझर, करताल एवं तंत्री वीणा, वंशी आदि वाद्य यंत्र के सदृश होते हैं और वृषभ, मयूर, भ्रमर, मधुमक्षिका, झीन, झीणी, चिन्, चीणी आदि पशु-पक्षी, कीट, पतंग के शब्द सदृश और स्त्रियों के गीत तथा बहुत से लोगों के कोलाहल सदृश घोष शब्द भी सुनने में आते हैं और कभी अव्यक्त ब्रह्म ॐकार की ध्वनि सुनी जाती है, इसमें चिन् चिञ्चिण, घण्टा, शंख, वीणा, करताल, वंशी, मृदंग भेरी और मेघ ये दश नाद मुख्य कहे हैं।

दिव्यनाद श्रवण का फल

हंसोपनिषद्

प्रथमे चिञ्चिणी गात्रं द्वितीये गात्रभञ्जनम् ।
तृतीये स्वेदनं याति चतुर्थे कम्पते शिरः ॥१॥

पञ्चमे स्रवते तालु षष्ठेऽमृतनिषेवणम् ।
सप्तमे गूढविज्ञानं परा वाचा तथाष्टमे ॥२॥
अदृश्यं नवमे देहं दिव्यं चक्षुस्तथामलम् ।
दशमे परमं ब्रह्म भवेद्ब्रह्मात्मसंनिधौ ॥३॥

प्रथम चिगनाद के प्रकट होने पर शरीर में झन२ होता है। दूसरे चिञ्चिणनाद होने से शरीर टूटने लगता है, तीसरे घण्टा नाद सुनकर प्रस्वेद होता है, चौथे शंखनाद श्रवण से शिर कांपता है, पांचवें तंत्री नाद सुनने पर तालु से अमृत टपकता है, छटे करताल के नाद से अमृत का आस्वादन होता है। सातवें वंशी नाद होने पर गूढ़ विषय का ज्ञान होता है जिससे कि वाक् सिद्धि होती है; नवमे भेरीनाद सुनकर शरीर की सुन्दरता और अदृश्य सिद्धि तथा आवरण रहित दिव्य दृष्टि हो जाती है और दशवें मेघनाद श्रवण कर साधक समाधि में ब्रह्म के साथ एकता लाभ कर ब्रह्मरूप हो जाता है।

उमासंहिता अध्याय २६ तथा नाद बिन्दु उपनिषद्

नव शब्दं परित्यज्य ॐकारान्तु समाश्रयेत् ।
ध्यायन्नेवं सदा योगी पुण्यपापैर्न लिप्यते ॥४१॥
नाद कोटि सहस्राणि बिन्दु कोटि शतानि च ।
सर्वे तत्र लयं यान्ति ब्रह्म प्रणव नादके ॥५०॥

साधक को चाहिये कि उपरोक्त नौ शब्द त्याग कर मेघवत् केवल ध्वनिरूप ॐकार का ही आश्रय करके रहे अर्थात् ॐ ध्वनि स्वतः प्रकाशित हो जाने पर और किसी नाद में मन लगाने की आवश्यकता नहीं है, ॐकार का ही नाद रूप से ध्यान

करते रहने से योगी लोग पाप पुण्य से लिप्त नहीं होते और मोक्ष पा जाते हैं क्योंकि हजारों कोटि नाद और शत कोटि बिन्दु रूप ज्योतियां, ये सब ब्रह्मस्वरूप ॐकार के नाद में लय हो जाते हैं ।

शक्ति गीता

ॐकारमधिकृत्याशु योगी ध्वन्यात्मकं मम ।
सत्यलोकावधिं प्राप्तुं शक्नुयात्कोऽत्र संशयः ।
कर्मनिष्ठमहात्मानो योगनिष्ठास्तथामराः ॥२॥
ॐकाराश्रयतो नूनं देवयानं गतिं गताः ।
यस्मान्न पुनरावृत्तिस्तं लोकं प्राप्तुमीशते ॥३॥

एक मात्र मेरे ध्वनिरूप ॐकार का ही आश्रय करके योगी लोग शीघ्र ही सत्यलोक को प्राप्त कर सकते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है जो महात्मा लोग वैदिक कर्म उद्गीथ उपासना परायण अथवा योग परायण हैं, वे लोग ॐकार का आश्रय करके देवयान गति से मोक्ष लाभ करते हैं, इसलिये जहां से पुनरावृत्ति नहीं होती उस लोक को प्राप्ति की इच्छा वाले साधक ॐकार की उपासना कर मोक्ष धाम को जाते हैं ।

दिव्य स्पर्श ज्ञान

रुद्रयामल तंत्र पटल १५

अनन्तज्ञाननिलयां यां भजन्ति मुमुक्षवः ।
सुप्ता सर्पोपमा मौला पाति साधकमीश्वरी ॥१॥

चैतन्या कुण्डलीशक्ति र्वायवी बलतेजसा ।
चैतन्या सिद्धि हेतुस्था ज्ञानमात्रं ददाति सा ॥
ज्ञानमात्रेण मोक्षः स्याद्वायवी ज्ञानमाश्रयेत् ॥२॥

अनन्त ज्ञान का आलय मूलाधार में स्थित सुप्त नागोपमा कुण्डलिनी शक्ति साधकों का पालन और रक्षा करती है, इस लिये मोक्ष की इच्छा वाले साधक प्राणायाम द्वारा उसका हीं भजन करते हैं और वह वायवी कुण्डलिनी शक्ति साधकों के भजन प्राणायाम से जागती है और क्रियाशील चेतन्य होकर सिद्धि का कारण होती है । एवं साधकों को केवल आनन्द स्वरूप आत्मज्ञान प्रदान करती है, क्योंकि एक मात्र ब्रह्मज्ञान से ही मोक्ष होता है, इसलिए साधकों को चाहिये कि वायवीं कुण्डलिनी शक्ति के ज्ञान का आश्रय करें ।

योगचूड़ामण्युपनिषद्

प्रबुद्धा बह्नियोगेन मनसा मरुता सह ।
सूचीवद्गात्रमादाय ब्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्णया ॥३८॥
यथा कुण्डलिनी देहे स्फुरत्यब्ज इवालिनी ।
तथा संविदुदेत्यन्तमृदुस्पर्शवशोदया ॥३॥

उसका आश्रय करने से वह जाग्रत शक्ति अग्नि, मन और प्राण सहित सुषुम्ना में प्रवेश करके ऊपर चलती है, जैसे सुई वस्त्र को स्पर्श करके बींधती हुई ऊपर जाती है तैसे ही कुण्डलिनी शक्ति भी मूलाधार से सुषुम्ना में चक्र वेध करती ब्रह्मरन्ध्र में जाती है तो साधक को शरीर में उसके स्पर्श का अनुभव होता

है, जब इस प्रकार कुण्डलिनी शक्ति जाग कर शरीर में क्रियायें कराती है, तब जैसे भ्रमर कमल पर मृदु २ विचरता है तैसे ही साधक के शरीर में ज्ञान का प्रकाश करने वाली यह शक्ति भी मृदु कोमल महासुख कर दिव्य स्पर्श का साधकों को बोध कराती है। यह स्पर्श आवश्यकतानुसार कोमल और कठोर भी होता है।

दिव्य रस

योगशिखोपनिषद् तथा धर्मसंहिता

रेचकं पूरकं मुक्त्वा वायुना स्थीयते स्थिरम् ।
नाना नादाः प्रवर्तन्ते संस्रवेच्चन्द्रमण्डलम् ॥१२७॥
समाकुंच्याभ्यसेद्योगी रसनां तालुकं प्रति ।
किंचित्कालान्तरेणैव क्रमात्प्राप्नोति लम्बिकाम् ॥१॥
ततः प्रस्रवते सा तु संस्पृष्टा शीतलां सुधाम् ।
पिबन्नेव सदा योगी सोऽमरत्वं हि गच्छति ॥२॥

जब योगसाधन करने वाले साधकों को कुण्डलिनी शक्ति की प्रेरणा से अथवा प्राणायाम के अभ्यास से रेचक, पूरक का त्याग होकर केवल कुम्भक होने से प्राण स्थिर हो जाता है, तो नाना-प्रकार के नाद होने लगते हैं और मस्तक में स्थित चन्द्र-मण्डल से सुधा का क्षरण होता है उसका नाम पीयूष-अमृत है, आत्म-शक्ति के उद्बोधन से खेंचरी क्रिया के पश्चात् प्रायः देखा गया है कि साधक की जिह्वा उलट कर तालु में लग जाती है एवं ऊपर की ओर खिचती है। उस समय और भी गले की कई एक क्रियायें होती हैं जिससे यह जिह्वा उपजिह्वा को जो कि काक

से आगे गले में है ऊपर को ओर कर देती है। तब अकस्मात् साधक को सुधा रस का पान हो जाता है अथवा यही जिह्वा आभ्यन्तरिक क्रिया शक्ति से तालु में लग जाती है तो सहस्रार से शीतल चन्द्रामृत का क्षरण होता है। उसका साधक पान करता है, जिससे नख शिखा पर्यन्त कुछ समय के लिये साधक सुन-सान होकर आश्चर्यता में निमग्न हो जाता है और नित्य अभ्यास से पान करते रहने पर साधक निश्चय अमरत्व लाभ करता है।

दिव्य रस के प्रकार

घेरण्डसंहिता तथा याज्ञवल्क्य संहिता

आदौ लवणं क्षारञ्च ततस्तिक्त कषायकम्।
नवीनोतं घृतं क्षीरं दधितक्र मधुनिच॥
द्राक्षारसञ्च पीयूषं जायते रसनोदकम्॥३२॥
मनोलयं यदा याति भ्रूमध्ये योगिनां नृणाम्।
जिह्वामूलेऽमृतस्रावो भ्रूमध्ये चात्मदर्शनम्॥२६॥

इस प्रकार खेंचरी मुद्रा द्वारा जिह्वा से अमृत का पान होता है। उस रस का स्वाद—प्रथम लवण, क्षारयुक्त, खट्टा, तीखा एवं कषैला होता है, और मध्य में मक्खन, घी, दूध, दही तथा मठ्ठा जैसा होता है, और अन्त में मधु, अंगूर रस सदृश एवं अमृत के समान रस पान होता है। यह रस पान तभी होता है जब योग साधन करते रहने से साधक का मन आज्ञाचक्र में लय हो कर भ्रकुटी में आत्म दर्शन होता है, जब जिह्वा मूल में अमृतस्राव होता है, उस समय साधक को रस पान होता है।

दिव्य रस के गुण

योगसागर

रसनास्वाद भेदेन विशेषं शृणु पार्वति।
क्षारेण नश्यति व्याधिः कटुना कुष्ठनाशनम् ॥१॥
अम्लकेन महादेवि वलिपलितवर्जितः।
मधुस्वादुरसाद्देवि शास्त्रमुद्गीर्यते ध्रुवम्।
घृत स्वादु रसाद्देवि अमरत्वं प्रजायते ॥२॥

श्री महेश्वर कहते हैं कि रसना के स्वाद के भेद से उपरोक्त रस यदि इच्छानुसार पान होते रहें, तो लवणादि क्षार रस से रोग का नाश होता है, तीखे रस से कुष्ठ रोग का भी नाश होता है, तथा अम्ल रस से चर्म की शिथिलता तथा केश की अकाल पक्वता दूर होती है, मधुर रस के पान से शास्त्र ज्ञान का प्रकाश होता है और घृत रस का पान होते रहने से अमरत्व-मोक्ष की प्राप्ति होती है।

दिव्य गन्ध

अग्नि पुराणे

दिव्यं स्तम्भं समाकर्षेद् गन्धो नासान्तिको ध्रुवः।
गन्धलीनं मनः कृत्वा स्तम्भयेन्नात्र संशयः ॥१॥

जैसे ऊपर कहे हुए स्पर्शादि दिव्य विषयों का साधकों को अनुभव होता है उसी प्रकार दिव्य गन्ध का भी बोध होता है

इस दिव्य गन्ध का स्थान भ्रू मध्य से नासाग्र पर्यन्त है, इस गन्ध में मन लीन करने से निस्संदेह मन स्तम्भित हो जाता है और बंध जाता है।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध संसार के इन पांच विषयों में मनुष्यों का मन बलात्कार से बंध जाता है और उनमें आसक्त हो जाने से मनुष्यों का सर्वनाश, पतन, अधोगमन होता है, क्योंकि यही पांच विषय बाहर में मन को बांधने के लिये बड़े प्रबल और दु:खदायी है। यह बात सभी शास्त्र कहते हैं, परन्तु यही पाँच विषय योग साधना करके अन्तर में अनुभव करने से या भोगने से अथवा उसमें आसक्ति करके मन को बांधने से पतन तो क्या उल्टा ऊर्ध्व गमन ही होता है, अतएव श्री महेश्वर कथित वास्तविक ज्ञान को न जान कर अज्ञानी मनुष्यों का सुख भोगना भी दु:खदायी होता है, परन्तु ईश्वर परायण बुद्धिमान् साधकों का विषय भोगना भी सब अवस्थाओं में सुखदायक है।

त्रयोदश प्रकाश

ब्रह्म के तीन शरीर

योगशिखोपनिषद् अध्याय ५

नाडीचक्रमिति प्रोक्तं बिन्दुरूपमतः शृणु ।
स्थूलं सूक्ष्मं परं चेति त्रिविधं ब्रह्मणो वपुः ॥
स्थूलं शुक्लात्मकं बिन्दुः सूक्ष्मं पञ्चाग्निरूपकम् ॥२८॥
भ्रूमध्यनिलयो बिन्दुः शुद्धस्फटिक सन्निभः ॥
महाविष्णोश्चदेवस्य तत्सूक्ष्मं रूपमुच्यते ।
सोमात्मकः परः प्रोक्तः सदासाक्षी सदाच्युतः ॥२९॥

श्री महेश्वर ब्रह्मा के प्रति नाड़ी चक्रों का वर्णन करके अब ब्रह्म के ज्योति स्वरूप स्थूल, सूक्ष्म और पर तीनों शरीरों का वर्णन करते हैं; ब्रह्म का जीवरूप स्थूल शरीर, ज्योतिरूप बिन्दु, शुक्ल अर्थात् शुक्रात्मक शुभ्रज्योति है। जिसको कि योग साधन करने वाले धारणाज प्रज्ञा से ध्याता, ध्यान, ध्येय रूप से अपने अन्तर में प्रत्यक्ष देखते हैं। दूसरा ब्रह्म का सूक्ष्म शरीर पञ्चाग्नि रूप कहलाता है अर्थात् कालाग्नि, वडवाग्नि, पार्थिवाग्नि, विद्युत् और सूर्य चन्द्र नक्षत्र आदि में भौतिक अग्नि जो कि स्थूल रूप से बाहर ब्रह्माण्ड में व्याप्त है और सूक्ष्म रूप से अन्तर्जगत पिण्ड में है। पृथ्वी के निम्न देश पाताल में रहने वाली जो अग्नि है वह कालाग्नि कहलाती है। वह ही सूक्ष्म रूप से शरीर

में मूलाधार-स्थित कुण्डलिनी शक्ति अग्नि के तेज-पुञ्ज रूप से प्रतिष्ठित मूलाग्नि है जिससे नाद उत्पन्न होता है; समुद्र और जल में रहने वाले अग्नि का नाम वडवाग्नि हैं वह शरीर की अस्थि में निवास करता है, जिससे शुक्र मज्जादि उत्पन्न होते हैं और काष्ठपाषाणादि में रहने वाला दावानल पार्थिव अग्नि कहलाता है। वह शरीर में कठिन पदार्थ अस्थि तथा आंतों में वास करता है, जिससे कि शरीर की दृढ़ता और बल तथा अन्न की पाक क्रिया संपादित होती है। चौथा विद्युत रूप अग्नि अन्तरिक्ष में मेघ में रहता है जो शरीर में हृदयाकाश में आत्मारूप से अवस्थित है वह ध्यान से विद्युत सदृश दृष्टि-गोचर होता है, पांचवां आकाश स्थित सूर्याग्नि है जो शरीर में नाभिस्थान में रहकर शारीरिक क्रियाओं का सम्पादन करता है यह ही ब्रह्म का व्यापक महाविष्णु रूप सूक्ष्म शरीर भ्रू मध्य में शुद्ध स्फटिक सन्निभ नील ज्योतिर्मय बिन्दु रूप से ध्यान गम्य होता है। तीसरा ब्रह्म का पररूप कारण शरीर सोमात्मक है जो सहस्रार म स्थित चन्द्रामृत से परीपूर्ण नित्य तृप्त सदा अच्युत सर्वदा साक्षीभूत परब्रह्म का महान् ज्योतिर्मय पररूप है। उसको योगी लोग समाधिज प्रज्ञा से ध्याता ध्यान वृत्ति का त्याग करके ध्येयाकार तद्रूप होकर देखते हैं।

अतएव ब्रह्म का स्थूल शरीर ज्योतिर्मय शुक्रात्मक शुभ्र-बिन्दु शुक्लरूप धारणा से उत्पन्न हुई। प्रज्ञा से ध्याता, ध्यान, ध्येय रूप त्रिपुटि सहित देखा जाता है और ब्रह्म का सूक्ष्म शरीर पंचाग्नि रूप ज्योतिमय नील बिन्दु, महाविष्णु, धारणा की रूप परिपक्वता के अनन्तर ध्यान से उत्पन्न हुई ध्यानज प्रज्ञा से

ध्यान और ध्येयरूप से दीखता है; ब्रह्म का पररूप कारण शरीर सोमात्मक सच्चिदानन्दस्वरूप ध्यान के परिपक्व होने पर समाधिज प्रज्ञा से ध्येयाकार तद्रूपता से अनुभव गम्य होता है।

योग, जप, तप, पाठ पूजन, भक्ति, श्रद्धा आदि सत्कर्म करने वाले साधकों को अपने अन्तर में ब्रह्म का ज्योतिर्मय स्थूल, सूक्ष्म रूप स्वत: प्रकाशित होता है उसको शास्त्रों में कोई शिव, कोई विष्णु, कोई शक्ति, कोई आत्मा, कोई परमात्मा, कोई ओंकार अथवा परब्रह्म परतत्त्व तथा कोई कुण्डलिनी महाशक्ति एवं कोई अपने उपास्य देवी देवता कहकर नाना प्रकार से वर्णन करते हैं अतएव उसमें किसी भी प्रकार का सन्देह करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह भी परब्रह्म शिव ही सर्वत्र-विराजमान है इसलिये द्वैतभावना करना अनुचित है; इसका वास्तविक ज्ञान तो समाधि से ही होता है, परन्तु साधना करने वालों को समाधि के पूर्व धारणा और ध्यान से पाप क्षय होकर मन एकाग्र होने पर नाद बिन्दु कला ज्योतिरूप से ब्रह्म का दर्शन क्षणिक और प्राय: होता है।

कलारूप ब्रह्म ज्योति दर्शन

छान्दोग्य तथा पाशुपत ब्रह्मोपनिषद्

अग्नि: कला सूर्य: कला चन्द्र: कला विद्युत कला।
एष वै सौम्य चतुष्कल: पादो ब्रह्मणो ज्योतिष्मान्नाम॥
अकल्पितोद्भवं ज्योति: स्वयं ज्योति प्रकाशितम्।७-३-४
अकस्माद्दृश्यते ज्योतिस्तज्ज्योति: पारमात्मनि॥१॥

स्व शरीरे स्वयं ज्योतिः स्वरूपं पारमार्थिकम् ।
क्षीणदोषाः प्रपश्यन्ति नेतरे माययावृताः ।।३३।।

अग्नि, सूर्य, चन्द्र और विद्युत ये चारों ब्रह्म की कला-अंश हैं, इनको वेद में ब्रह्म के ज्योति रूप पाद कहा है, इसलिये योग साधन करने वाले साधक ब्रह्म के अंश रूप कला को अग्नि, सूर्य, चन्द्र और विद्युत रूप से ज्योतिर्मय देखते हैं, यह ब्रह्म-ज्योति बिना कल्पना के प्रकट होती है। ऐसी स्वयं प्रकाशित ज्योति अकस्मात् दीखती है, साधारणतया ध्यान, भजन करने वाले साधक कल्पना करके ही देवी देवता और ज्योतियों को देख पाते हैं; परन्तु ये आत्म ज्योति बिना धारणा, ध्यान, कल्पना के स्वयं दीखती है, ऐसी अपने आप बिना कल्पना ध्यान में आने वाली ज्योति परमात्मा में अवस्थित है अतएव अपने ही शरीर में अपने आप जो ज्योति प्रकाशित होती है उसको परमार्थतः ब्रह्म रूप कहा है, तपस्या के द्वारा जिनके पाप नष्ट हो गये हैं ऐसे पुण्यात्मा मनुष्य ही उस ब्रह्म ज्योति को देखते हैं किन्तु माया से आवृत पाप कर्म वाले तपहीन जड़ बुद्धि वाले मनुष्य इस ज्योति को देख नहीं सकते।

बिन्दुरूप ब्रह्म ज्योति दर्शन

घेरण्ड संहिता तथा अद्वयतारकोपनिषद्

बिन्दु ब्रह्म सकृद्दृष्टवा मनस्तस्मिन्नियोजयेत् ।
स्वयमेव तु संपश्येद्देहे बिन्दु च निष्कलम् ।।१।।
भ्रू दहरादुपरि सच्चिदानन्द तेजः कूटरूपम् ।
परब्रह्म अवलोकयन्तद्रूपो भवति गर्भजन्मजरा-
मरणसंसारभयात्संतारयति तस्मात्तारकमिति ।।१।।

शरीर के मध्य में अग्नि, विद्युत, सूर्य, चन्द्र एवं श्वेत-स्फटिक सदृश प्रकाशमान बिन्दु हैं, इन पांचो ज्योतियों को ब्रह्म का सूक्ष्म रूप कहकर शास्त्र में निर्देश किया है, इसलिये योग साधना से इनका दर्शन सर्वदा होता है। अतएव बिन्दु रूप ब्रह्म को देख के उसमें ही मन लगाना चाहिये, उसका ध्यान करना चाहिये और कुछ देखने की साधक आकांक्षा न करें, इष्ट ज्योति-रूप बिन्दु की ही अपने इष्ट देवता रूप में भावना करें, क्योंकि अपने में बिन्दु रूप निष्कल ब्रह्म को तो साधक स्वयं ही देखते है, इसलिये और किसी देवी देवता की कल्पना या भावना करने की कोई आवश्यकता नहीं है, भ्रू मध्य के ऊपर सच्चिदानन्द-मय तेज राशि है उसको परब्रह्म कहते हैं, उसको देखते देखते साधक तद्रूप हो जाते हैं जिससे गर्भ, जन्म, जरा, मृत्यु और भय से त्राण पाते हैं। इसलिए इसको उपनिषद् में तारक ब्रह्म या तारक योग कहा है।

आत्मरूप ब्रह्म ज्योति दर्शन

गौतमीय तत्र तथा शिव संहिता।

अन्तःकरण मध्येतु ज्योतिरात्मा प्रवर्तते।
लिङ्गदेहं तु तं प्राहुर्योगिनस्तत्ववेदिनः॥
तत्प्रतीतौ भवेन्मुक्तिर्नान्यतो जन्मकोटिभिः॥१॥
तदा लक्षणमात्मनो ज्योतिरूपं प्रपश्यति॥
तत्तेजो दृश्यते येन क्षणमात्रं निराविलम्।
सर्वपापविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिम्॥१॥

यह आत्मा अन्तर में ज्योतिरूप से प्रकाशित हो रहा है उसको तत्त्व से जानने वाले योगी लोग लिङ्ग-देह-सूक्ष्म शरीर

कहते हैं उसका प्रत्यक्ष दर्शन होने से ही मुक्ति होती है अतएव जब तक अन्तःकरण में ज्योति स्वरूप आत्मा का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता तब तक कोटि जन्म में भी मुक्ति नहीं हो सकती; ध्यान परायण योगी लोग बाह्य नेत्र बन्द करके अन्तर्चक्षु-दिव्य-नेत्र से ज्योति स्वरूप आत्मा को देखते हैं, उस तेज को जो कोई साधक क्षण मात्र भी सुस्पष्ट और निर्मल भाव से देख लेते हैं वे समस्त पापों से मुक्त होकर परम गति-ज्ञान लाभ करते हैं।

ब्रह्म पुराण शिव पुराण तथा गीता सार

विधूम इव दीप्तार्च्चिरादित्य इवदीप्तिमान् ।
विद्युतोऽग्निरिवाकाशे पश्यन्त्यात्मानमात्मनि ॥१॥
नेत्रे पश्यति यज्ज्योतिस्तारा रूपं प्रकाशकम् ।
स जीवः सर्व भूतानामात्मानं च समाहितः ॥१॥
यदा प्रकाशते ह्यात्मा घटे दीपो ज्वलन्निव ।
ज्ञानमुत्पद्यते पुन्सां क्षयात्पापस्य कर्मणः ॥१॥

धूम रहित प्रज्वलित अग्नि के सदृश अथवा प्रकाशमान सूर्य की तरह और आकाश में चमकती हुई विद्युत् की नाईं अपने अन्तराकाश में आत्मा को साधक देखते हैं; ध्यान करने वाले व्यक्ति नेत्र में जो नक्षत्र की तरह प्रकाशित ज्योति देखते हैं वही ज्योति समस्त प्राणियों का जीवन जीवात्मा है, जो दीपशिखा के आकार से सर्वदा हृदय में स्थित है, जब आत्मा शरीर के मध्य में प्रज्वलित प्रदीप के नाईं प्रकाशित होता है तब सब पाप कर्म क्षय हो जाते हैं एवं मनुष्य को ज्ञान उत्पन्न होता है।

त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषद्

हृत्पुण्डरीकमध्यस्थं चैतन्यज्योतिरव्ययम् ।
निवातदीप सदृशम कृत्रिममणिप्रभम् ॥
ध्यायतो योगिनस्तस्य मुक्तिः करतलेस्थिता ॥१५७॥
ध्यानयुक्तः सदा पश्येदात्मानं सूर्यचन्द्रवत् ॥
सत्त्वस्यानुपपत्तौतु दर्शनं तु न विद्यते ॥१

यह ज्योति रूप चैतन्य अव्यय आत्मा हृदय कमल म निर्वात दीपक सदृश स्थिर और कृत्रिम मणि की नांई प्रकाशित है उसका ध्यान करके योगी लोग निश्चय मुक्ति पाते हैं, ध्यान-युक्त होकर ही सदा आत्मा को सूर्य और चन्द्रवत् देखा जाता है परन्तु सत्त्व गुण उत्पन्न नहीं होने से ऐसा दर्शन नहीं हो सकता, इसलिये साधकों को सदा सत्त्व गुण का आश्रय लेना चाहिये कि जिससे आत्म दर्शन हो जाये ।

कुलार्णव तन्त्र

ध्यायन्ते योगिनस्तञ्च शुद्धं ज्योतिः स्वरूपिणम् ।
हस्तपादादिरहितं निर्गुणं प्रकृतेः परम् ॥१॥
करपादोदराङ्गास्थिरहितं परमेश्वरम् ।
सर्वं तेजोमयं ध्यायेत्सच्चिदानन्दलक्षणम् ॥२॥

जिस परब्रह्म परमात्मा के योगीजन प्रकृति से परे निर्गुण हस्तपादादि रहित निराकार शुद्ध ज्योतिर्मय स्वरूप का ध्यान करते हैं, वह परमेश्वर हाथ, पैर, उदर आदि अङ्ग और अस्थि मांसादि के स्थल शरीर से रहित निराकार है, इसलिये साधकों

की उसका सत्-चित्-आनन्द लक्षण स्वरूप तेजोमय ध्यान करना चाहिये।

नव चक्र में विभिन्न रूप ब्रह्म ज्योति दर्शन

वशिष्ठ कृत तत्व सारायण अन्तर्गत रामगीता

मूलाधाराभिधं चक्रं प्रथमं समुदीरीतम्।
तत्र ध्येयं स्वरूपं तु पावकाकारमुच्यते ॥१॥
स्वाधिष्ठानाभिधं चक्रं द्वितीयं चोपरिस्थितम्।
प्रवालाङ्कुर तुल्य तु तत्र ध्येयं निगद्यते ॥२॥
तृतीयं नाभिचक्रे तु ध्येयं रूपं तडिन्निभम्।
तुर्ये हृदयचक्रे तु ज्योतिर्लिङ्गाकृतीर्य्यते ॥३॥

मूलाधार नामक प्रथम चक्र में ध्यान करने से वहां पर अपना ज्योतिर्मय स्वरूप अग्नि रूप भासता है, मूलाधार के ऊपर स्वाधिष्ठान नामक द्वितीय चक्र में ध्यान करने से आत्म ज्योति प्रस्फुटित प्रवालांकुर के सदृश प्रतीयमान होती है। तृतीय मणिपुर नाभिचक्र में ध्यान करने से ज्योति का रूप विद्युत के सदृश दीखता है। चतुर्थ अनाहत चक्र हृदय कमल में ध्यान द्वारा आत्मस्वरूप ज्योति का दर्शन लिङ्गाकृति रूप से होता है।

पञ्चमे कण्ठचक्रे तु सुषुम्ना श्वेतवर्णिनी।
ध्येय षष्ठे तालुचक्रे शून्यचित्तलयार्थकम् ॥४॥
भ्रूचक्रे सप्तमे ध्येय दीपांगुष्टप्रमाणकम्।
आज्ञाचक्रेऽष्टमे ध्येयं रूपं धूम्रशिखाकृतिः ॥५॥

आकाशचक्रे नवमे परशुः स्वोद्धर्वशक्तिकः ।
एवं क्रमेण चक्राणि ध्येयरूपाणि विद्धि च ॥६॥

पंचम कंठ में विशुद्ध चक्र है वहां ध्यान करने से स्वरूप ज्योति सुषुम्ना श्वेत वर्ण प्रतीत होती है। षष्ठ तालु चक्र है जहां चित्त का लय साधित होता है, वहा पर ध्यान करने से ब्रह्म ज्योति शून्याकार एक रस अपने आप अनुभव गम्य होती है। सप्तम भूचक्र में ध्यान करने से जैसे निर्वात स्थान में जलती हुई दीप शिखा अंगुष्ठ मात्र प्रतीत होती है, तैसे ही अपने आत्म स्वरूप ज्योति का रूप भी प्रकाशित दीपक की तरह स्वयं प्रकाशित होता है। अष्टम आज्ञा चक्र में ध्यान से ठीक देखने पर ज्योतिरूप स्वरूप, जैसे अग्नि लगने के समय जलने वाली सामग्री से धूम्र शिखाकृति होकर ऊर्ध्वगामी दीखता है, तद्रूप आत्म ज्योति धूम्रवर्ण दीखती है। नवम आकाश चक्र में ध्यान करने से निजरूप ज्योति का आकार चमकते हुए परशु सदृश प्रतीत होता है, इसी तरह जैसे ऊपर कहा है आत्म ज्योति नाना प्रकार के रूप से नवों चक्रों म ध्यान-गोचर होती है।

अखण्डैकरसत्वेन ध्येयस्यैक्येऽप्युपाधितः ।
आकारा विविधायुक्ता नोपाधिश्वेतरः स्वतः ॥७॥
विद्याशक्ति बिलासेन पावकात् विस्फुलिङ्गवत् ।
अकस्मात् ब्रह्मणोऽखण्डात् विविधाकृतयोऽभवन् ॥८॥
प्रत्यगात्माभिधानां तदेतेषां ध्येय वस्तुनाम ।
अचेतनत्वं स्वप्नेऽपि न शक्यं विबुधैरपि ॥९॥

यह अपने आप ध्यान में आने वाली प्रत्येक ज्योति आनन्द

प्रदान करती है इसलिये ये सब आत्म स्वरूप ज्योतियां एक ही हैं, तथापि ये नाना प्रकार की ज्योतियां अखंड एक रस, एक रूप होते हुए भी उपाधि भेद से विभिन्न रूप धारण करती है। विद्याशक्ति कुण्डलिनी देवी के क्रीड़ा करने के कारण जैसे अग्नि से चिंगारी निकलतो रहती है तैसे ही एक अखण्ड ब्रह्म से विविध प्रकार की ज्योतिरूप आकृतियां प्रकाश पाती हैं, इसलिये ज्योति रूप प्रत्यगात्मा नामक ये सब ध्येय वस्तु अचेतन नहीं हैं, अतएव ध्यान में प्रत्यक्ष दर्शन करने वाले साधकों को बाहर के सूर्य, चन्द्र, अग्नि, विद्युत की तरह अन्तर में होने वाले ज्योति दर्शनों को स्वप्न में भी अचेतन नहीं समझना चाहिये।

आकार रूप ब्रह्म ज्योति दर्शन

अन्ये च योगिभिर्ध्यानेष्वाकाराश्चेतनात्मकाः।
दृश्यन्ते ताञ्च वक्ष्यामि सावधानमनाः शृणु ॥१०॥
वटस्य कणिकाकारःश्यामाक सदृशःक्वचित्।
श्यामाकतण्डुलाकारो बालाग्रशतभागवत् ॥११॥
नीवारशूकवत् शुक्रज्योतिर्वत्सूर्यव्रत् क्वचित्।
चन्द्रवच्चाणुवत्सूक्ष्मं प्रादेशपरिमाणवत् ॥१२॥

उक्त ज्योतियों से भिन्न और भी चेतनात्मक आकार वाले ज्योतिर्मय दृश्य योगसाधना करने वाले योगीजन ध्यान में देखते हैं वे अब कहे जाते हैं, जैसे वट के बीज के कण की तरह तथा सांवा धान्य और उसके चावल सदृश कभी उससे भी छोटे धान्य की तरह सूक्ष्म और उससे भी सूक्ष्म बाल के अग्रभाग के सौवें भाग के बराबर अति सूक्ष्म दृश्य प्रकाश रूप से अन्तर में

दीखते हैं, ये अन्तर में ज्योति दर्शन प्रकाशित शुक्र तारे की तरह ज्योतिर्मय, तथा कभी सूर्य की तरह, चन्द्र की तरह और परमाणुवत् ब्रह्मनाड़ी सुषुम्ना के मध्य अन्तर आकाश में अति क्षुद्र प्रमाण प्रदेश में ये आकार महान् ज्योतिरूप से दीखते हैं।

खद्योतवच्च स्फटिकसदृशस्तारवत्क्वचित् ।
नीलज्योतिःक्वचित् रक्तज्योतिःशुभ्रद्युतिःक्वचित् ॥१३॥

विविध ज्योतिरन्यत्र ज्योतिषां ज्योतिरेव सः ।
अभिव्यक्तिकरा एवं आकारा ब्रह्मणि स्थिताः ॥१४॥

योगिनां यतचित्तानां जितश्वासेन्द्रियात्मनाम् ।
ध्यानेनामी प्रकाशन्ते चिदाकाराः पुनः पुनः ॥१५॥

यह महान् आत्म ज्योति कभी पटबीजने की तरह या स्फटिक के सदृश अथवा मुक्ता की तरह चमकती हुई दीख पड़ती है, इनका रंग कभी नीला, कभी लाल और कभी विद्युत के सदृश श्वेत होता है, ये नाना प्रकार को अथवा सब रंग की ज्योतियों का दर्शन एकत्र हो जाता है क्योंकि आत्मा ही समस्त ज्योतियों की महान् ज्योति है इसलिये ये नाना प्रकार की ज्योतियाँ स्वयं आत्मा की ज्योति से प्रकाशित होती हैं ब्रह्म की अभिव्यक्ति कारक से त्रिविध प्रकार के आकार से प्रकाश पाने वाली ज्योतियां ब्रह्म में ही अवस्थित होती हैं अतएव जिन साधक योगियों ने योग साधना से मन, प्राण और इन्द्रियों का जय किया है ऐसे योगियों के ध्यान में ये चिदाकार चैतन्य स्वरूप ज्योतियाँ बार२ प्रकट होती हैं।

व्यवहार दशा में ब्रह्म ज्योति दर्शन

व्यवहारदशायां च योगिनः खण्ड रूपकम् ।
स्तंभ कुड्य कुशूलादिष्विदं ज्योतिः प्रकाशते ॥१६॥
यत्र यत्र विकारेषु दृष्टिः पतितः योगिनः ।
ते सर्वे चिन्मया भान्ति तडिद्वत्तत्क्षणे भृशम् ॥१७॥
ज्योतिरेव परं ब्रह्म ज्योतिरेव परं सुखम् ।
ज्योतिरेव परा शान्तिर्ज्योतिरेव परं पदम् ॥१८॥
नवचक्रेषु यः पश्येद्यत्र कुत्रापि योगतः ।
प्रत्यगात्मानमन्तेऽयं ब्रह्मलोके महीयते ॥१९॥

कुण्डलिनी शक्ति जागने से जिनके अन्तर में ये ज्योतियां प्रकट हो गई हैं, उनको योगसाधन के समय बिना व्यवहार दशा में भी कामकाज करते समय जहां कहीं भी उनका मन लगता है, वहाँ२ ये अखण्ड ज्योतियां दीखने लगती हैं, जिस२ पदार्थ में साधक की दृष्टि पड़ती है, उसी में उसी क्षण विद्युत् के सदृश चिन्मय ज्योति स्पष्ट प्रकाश पाती है, यह ज्योति ही पर-ब्रह्म है। यह ब्रह्म ज्योति परम सुख और परम शान्तिदायक है, यह आत्म ज्योति ही परम पद है; जो साधक योग साधना से योगावलम्बन करके नवों चक्रों में अथवा किसी भी स्थान में ज्योति रूप प्रत्यगात्मा का दर्शन करते हैं वे अन्त में ब्रह्मलोक की प्राप्ति करते हैं।

उक्तलक्षणमात्मनं कूटस्थं सद्गुरोर्मुखात् ।
श्रुत्वात्र पश्येद्ध्यानेन मुद्रया भद्रयापि च ॥२०॥

आधारेषु समस्तेष्वप्युक्तस्य प्रत्यगात्मनः ।
दृष्ठव्यत्वस्य नियमो नैव चित्त विशुद्धये ।।२१।।

यत्र कुत्रापि चाधारे दृष्टवा ध्यानेन तं ततः ।
शुद्धचित्तो महावाक्य श्रवणेऽधिकृतो भवेत् ।।२२।।

जो लोग वेदान्त कथित ज्ञान के अधिकारी होकर ज्ञान लाभ करना चाहते हैं उनको चाहिये कि सद्गुरु के मुख से पूर्वोक्त ज्योति के आकार से कूटस्थ आत्मा का विषय सुनके योग साधन रूप तपस्या करके ध्यान द्वारा एवं शाम्भवी मुद्रा से अपने ज्योति स्वरूप आत्मा को देखें, क्योंकि चित्त-शुद्धि का फल आत्म प्रतीति है, इसलिये जब अन्तर में यह अनुभव होने लगे तो समझना कि चित्त शुद्धि हो रही है, अतएव उक्त प्रत्यगात्मा को चित्त शुद्धि के लिए प्रत्येक चक्र में ही देखना होगा ऐसा कोई नियम नहीं है, परन्तु कोई भी स्थान में या किसी भी आधार चक्र में ध्यान द्वारा ज्योतिर्मय आत्मा को देखने से चित्त की शुद्धि होती है, चित्त शुद्धि हो जाने पर गुरु से महावाक्य श्रवण द्वारा साधक ज्ञान का अधिकारी हो सकता है और योग-साधना करके समाधि में ज्ञान लाभ करता है ।

इस प्रकार ईश्वर के अनुग्रह से एवं गुरु कृपा रूप शक्तिपात से साधकों को शास्त्र कथनानुसार उपरोक्त नाना प्रकार के आध्यात्मिक अनुभव होते हैं कि जिनका वर्णन करना भी सहज साध्य नहीं है तथापि अनुभव करना ही ज्ञान है ।

शक्तिपात के प्रकार और फल

मालिनी विजयोत्तर तंत्र

सति तस्मिश्च चिह्नानि तस्यैतानि विलक्षयेत् ।
तत्रैतत्प्रथमं चिह्नं रुद्रे भक्तिः सुनिश्चला ॥१॥
द्वितीयंमन्त्रसिद्धिस्यात्सद्यः प्रत्ययकारिका ।
सर्वसत्त्व वशित्वं च तृतीयं तस्य लक्षणम् ॥२॥
प्रारब्ध कर्म निष्पत्तिश्चिह्नमाहुश्चतुर्थकम् ।
कवित्वं पंचमं ज्ञेयं सालङ्कारमनोहरम् ॥
सर्वं शास्त्रार्थ वेत्तृत्वं अकस्मात्तस्य जायते ॥३॥

श्री शम्भु से परम्परा आगत शैवीशक्ति का यह शक्तिपात उत्कृष्ट तीव्र, मध्यतीव्र, मन्दतीव्र निकृष्टतीव्र अथवा मृदु, मध्य-तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम भेद से कई प्रकार का है। जिसका फल देशकालपात्रानुसार विलम्ब से, क्रम से और तत्काल इष्ट-अनिष्ट और निकृष्ट रूप से गुरु शिष्य की योग्यतानुसार इच्छा होने न होने पर भी स्वयं हो जाता है।

गुरु के द्वारा तीव्र शक्तिपात होने से बिना प्रयत्न के अकस्मात् शिष्य में जो लक्षण प्रकाशित होते हैं उसमें प्रथम लक्षण यह है कि साधक की श्री महेश्वर में दृढ़ भक्ति हो जाती है, द्वितीय उसको प्रत्यक्ष विश्वास योग्य सत्वर मन्त्र की सिद्धि होती है, तृतीय लक्षण से सब प्राणियों को अपने अनुकूल वश में करने की क्षमता आती है, चतुर्थ उसके प्रारब्ध कर्म की निष्पत्ति हो जाती है, वह बेभोगे भी छूट जाता है, तथापि साधक दैवयोग से सुख-दुःख का भोग जो कुछ भी आजाये उसका कोई विशेष

प्रतिकार व प्रयत्न न करके प्रसन्न चित्त से आनन्दपूर्वक भोग के शेष कर लेने में ही प्रसन्न रहता है और पञ्चम लक्षण से साधक को कविता रचने की योग्यता तथा सब शास्त्रों का ज्ञान जानने की शक्ति स्वयं हो जाती है।

जिस शक्ति के प्रभाव से साधक दिव्य ज्ञान का अनुभव करके मोक्ष लाभ करते हैं, उस शक्तिपात के वास्तविक विज्ञान के स्वरूप को तो श्री महेश्वर ही जानते हैं और जिस पर वह कृपा करें वे भी कुछ जान सकते हैं, परन्तु वर्त्तमान काल में यह परम दुर्लभ रुद्रशक्ति का सम्पूर्ण प्रकाश क्वचित् कहीं किसी में होगा या नहीं यह तो ईश्वर ही जाने, तथापि श्रीमन्नारायण तीर्थ देव गुरु की परम कृपा से इस विषय में अनुशीलन करके जो कुछ सामान्य जाना गया है उसके फलस्वरूप यह ग्रन्थ है।

एवमस्यात्मनः काले कस्मिश्चिद् योग्यतावशात् ।
शक्तिः संबध्यते शैवी शान्ता मुक्तिफलप्रदा ॥४॥
तत्संबन्धात् ततः कश्चित् तत्क्षणापवृज्यते ।
अज्ञानेन सहैकत्वं कस्यचिद् विनिवर्त्तते ॥५॥
रुद्रशक्तिसमाविष्टः स जिज्ञासुः शिवेच्छया ।
भुक्तिमुक्तिप्रसिद्ध्यर्थं नीयते सद्गुरुं प्रति ॥६॥
तमाराध्य ततस्तुष्टाद् दीक्षामासाद्य शांकरीम् ।
तत्क्षणाद् वोपभोगाद् वा देहपाते शिवं व्रजेत् ॥७॥

मनुष्यों को पूर्व जन्म के सुकृत से इस जन्म में जब किसी समय तत्त्वज्ञाने लाभ करने का अधिकार प्राप्त होता है तब दैवी शक्ति ग्रहण की योग्यता आती है पश्चात् आत्मा को परम

शान्ति प्रदायिनी मुक्ति रूप फल देने वाली शैवीशक्ति का गुरु द्वारा सम्बन्ध होता है, और उसका सम्बन्ध होने से किसी२ को तो तत्काल ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है और किसी को अज्ञान की निवृत्ति होकर ज्ञान की प्राप्ति होती है। अर्थात् किसी को तो शक्तिपात होते ही पूर्ण ज्ञान हो जाता है और किसी को ज्ञान का होना आरम्भ होता है। जब योग, ज्ञान, ध्यान, जप, तप आदि साधन करते रहने से साधक में इस मंगलमयी शक्ति का आविर्भाव होता है, तब रुद्रशक्ति समाविष्ट यह जिज्ञासु श्री शिवजी की इच्छा से भोग और मोक्ष की प्राप्ति के लिये दीक्षार्थ गुरु के पास प्रेरित होता है, क्योंकि भुक्ति और मुक्ति देने वाले और शक्ति को सुचारु रूप ठीक क्रम से चलाने वाले गुरु ही हैं, इसलिये भक्ति से गुरु को प्रसन्न करके उनसे शांकरी दीक्षा लेकर साधक उसी क्षण समाधि द्वारा सब कर्म बन्धन का नाश करके मोक्ष लाभ करता है और जीवनमुक्त हो जाता है। अथवा भोगों का उपयोग करके देहपात होने पर शिवपद को प्राप्त होता है।

इस प्रकार उपरोक्त शास्त्र कथित क्रम से शक्तिपात के कई प्रकार के भेद हैं, जिनका ठीक प्रयोग शक्तिमान् गुरु की योग्यता पर निर्भर करता है, क्योंकि जिस परमाशक्ति से तत्काल दिव्यज्ञान और मोक्ष होता है, वह दिव्य शक्ति सामान्य वस्तु नहीं है। जैसे इसके उचित प्रयोग से महान् कल्याण होता है तैसे ही इसके अनुचित व्यवहार से महा अनिष्ट भी होता है। इसलिये गुरु परम्परा क्रम से सिद्ध शक्ति का उचित प्रयोग नहीं होने पर वह शक्ति गुरु तथा शिष्य दोनों का अमं-

गल करती है ऐसा भी देखा गया है। इसलिए जो गुरु शक्ति-पात के भेद को यथाविधि नहीं जानते अथवा जो अनुग्रह करके निग्रह करने में अक्षम हैं, और जो शक्तिपात के वास्तविक विज्ञान से तथा उनके तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, उत्कृष्ट, निकृष्ट भेद से अनभिज्ञ हैं और जो अपने गुरु परम्परा क्रम का व्यतिक्रम करके रूपान्तर कर हरेक शिष्य को मन माने क्रम से निकृष्ट प्रकार का शक्तिपात करते हैं उनके द्वारा दीक्षित शिष्यों को इष्ट की अपेक्षा अनिष्ट होने की ही अधिक सम्भावना है। क्योंकि जो गुरु स्वयं शैवी शक्ति को सामान्य समझकर शास्त्र विधि अनुसार न बर्तें तो उनसे शक्ति प्राप्त करने वाले साधकों को ऐसे गुरु के ज्ञान से कैसे फल मिल सकता है।

योग साधन गुप्त रखना चाहिए

रुद्रयामल तंत्र पटल ३६

प्रवृति लक्षणाख्यानाद्योगिनो विस्मयात्तथा।
विज्ञानं विलयं याति तस्मात् गोप्याः प्रवृत्तयाः ।।१।।

एकान्त मन से दृढ़तापूर्वक तपस्या, भगवद् भजन करते रहने से साधको को दिव्य दर्शन तो होते ही हैं, किन्तु साथ ही ईश्वर के अनुग्रह से अलौकिक शक्ति भी प्राप्त होती है, और दिव्य दर्शन का होना ही सामर्थ्य प्राप्ति का लक्षण है यदि ऐसा न होता तो गुरु कृपा और ईश्वर की महानता ही क्या है? जिस तपस्या का कोई फल न हो, उसको कौन करेगा? परन्तु यह बात नही है, ईश्वर बड़े कृपालु हैं, साधकों के साधन का फल वृथा नहीं जाता, साधक चाहे या न चाहे तथापि मंगलमय महेश्वर

अवश्य और शीघ्र ही साधक की तपस्यानुसार फल देते हैं, अतएव यह कोई नई अथवा आश्चर्य चकित एवं विस्मित होने की बात नहीं है, तपस्या और योग साधना से तो स्वाभाविक ही साधकों को ईश्वर की दिव्यशक्ति के गुण का प्रकाश होता ही है इसमें किञ्चित्मात्र भी सदेह नहीं है।

सामर्थ्य वाले गुरुओं से दीक्षित होने पर उनकी कृपा से योग के आरम्भ काल में ही नाना प्रकार के दिव्य आन्तिरिक अनुभव होते हैं और उनसे मानसिक शक्ति उत्पन्न होती है परन्तु विस्मयवशतः अथवा कौतूहल से बहुत से साधक उन अनुभवों को अपने से भिन्न प्रकृति वालों को कह देते हैं यहां तक कि अपना महत्व दिखाने के लिए नाम देकर समाचार पत्रों में भी छपवा कर प्रकाशित कर देते है, फलस्वरूप उनका विज्ञान नष्ट हो जाता है और आगे जाने से उनका मन रुक जाता है, फिर वैसे अनुभव भी नहीं होते, इसलिए तपस्या एवं योग साधना करने वालों को योग में प्रवृत्त होने से जो२ दिव्य अनुभव होते हैं अथवा ईश्वर के अनुग्रह से बहुत से सांसारिक कार्य अपने मन के अनुकूल हो जाते हैं, उनसे विस्मित न होकर चञ्चलता त्याग करके शान्त चित्त से उन्हें हृदय में धारण करना चाहिए और प्रयत्न करके गुप्त रखना चाहिए।

योग योगाद्भवेन्मोक्षो मंत्र सिद्धिरखण्डिता।
न प्रकाश्यमतोयोगं भुक्तिमुक्तिफलाय च ॥२॥
योग योगाद्भवेन्मोक्षस्तप्रकाशाद्विनाशनम्।
अतो न दर्शयेद्योगं यदीच्छेदात्मनः शुभम् ॥३॥

योग साधना करके योग से ही मोक्ष की प्राप्ति और अख-

ण्डित दोनों ही प्रदान करता है इसलिए योग का फल भोग और मोक्ष प्राप्त करने के लिए योगसाधन को गुप्त रखना चाहिए, एकान्त मन से योगसाधन करते रहने से योग से ही निश्चय मोक्ष होता है, परन्तु इसको अपक्व अवस्था में प्रकाश करने से विनाश हो जाता है, योग साधना से जो शक्ति-विभूति आती है उसका चमत्कार प्रलोभन में आकर लोगों को नहीं दिखाना चाहिए, जब योग से मोक्ष की भी प्राप्ति हो जाती है तो फिर भोग मिले बिना कैसे रह सकता है, अतएव प्रकाश करने से मोक्ष की हानि होती है और फिर भोग ही रह जाता है, इसलिए जब तक समाधि से दिव्य आत्मज्ञान की सिद्धि न हो तब तक प्राणान्त होने पर भी प्रकाश नहीं करना चाहिए दुर्बुद्धि से भोग प्राप्ति की इच्छा करके लोगों को दिखाने से, सिखाने से साधक की साधना का विनाश होता है, इसलिए यदि साधक अपना मंगल चाहे तो जब तक अपने अभीष्ट की सिद्धि न हो, ज्ञान परिपक्व न हो और गुरु प्रसन्न होकर आज्ञा न देवें तब तक योगसाधन न किसी को दिखाना और न सिखाना ही चाहिये।

तत्त्वाप्ति वा गुरोराज्ञां बिनापि गुरुतां ब्रजन् ।
शक्तिसम्पातकृद्योऽसौ क्रीडेद्विषधरैः सह ॥

परन्तु जो लोग गुरु से योग दीक्षा लेकर गुरु की आज्ञा बिना पूर्णत्व प्राप्त न करके दूसरों को शक्ति सञ्चार कर गुरु होने जाते हैं। वे विषधर सर्प के साथ खेलने का फल पाते हैं, क्योंकि यह शैवी शक्ति परम्परागत नियम की रक्षा न करके स्वेच्छा से

वर्तने वाले प्रदाता और गृहीता उभय का अनर्थ साधन करती है।

योग का रहस्य अप्रकाश्य है

कुलार्णव तंत्र तथा गन्धर्व तंत्र

स्वशास्त्रोक्तं रहस्याद्यं न वदेद्यस्य कस्यचित् ।
यदि ब्रूयात्स समयाच्च्युत एव न संशयः ॥१॥

एतत्प्रकाशनं यच्च आयुः क्षयकरंस्मृतम् ।
साधकस्य विनाशस्तु तस्मान्नैतत्प्रकाशयेत् ॥१॥

लोभान्मोहाच्च गर्वाद्वा विद्वेषाद्वाप्रकाशयेत् ।
सोऽचिरान्मृत्युमाप्नोति शास्त्राघातविषादिभिः ॥२॥

श्री महेश्वर कहते हैं कि जो साधक शास्त्र कथनानुसार गुरु प्रदत्त योग की साधना करते हैं। उसका आद्यान्त रहस्यादि जिस किसी को कहना नहीं चाहिए, क्योंकि यदि उस समय कह दिया जाय तो निस्सन्देह साधक साधना से गिर जाता है। इसलिए आरम्भ काल में जो दर्शनादि अनुभव होते हैं, उनको प्रकाश करने से अथवा किसी को मन्त्र उपदेश कर देने से साधक का आत्म सामर्थ्य एवं गुरु कृपा का फल नष्ट हो जाता है जिससे नाना प्रकार के रोग होकर आयु भी क्षीण हो जाती है और साधक की साधना का भी विनाश हो जाता है, इसलिए किसी विशेष प्रयोजन के बिना योग का यथातथ्य रहस्य प्रकाश नहीं करना चाहिए, परन्तु जो साधक दुष्ट बुद्धि से लोभ, मोह और धन, कीर्त्ति, सम्मान पाने की इच्छा से या मोह

से तथा गर्व से कि मैं बड़ा साधक योगी हूँ, ऐसा भावना से मेरा कोई क्या कर सकता है ? मैं गुरु क्यों न बनूँ ? या गुरुजनों के द्वेष से और साधना में तिरस्कार बुद्धि से विद्वेषी होकर जो अपनी साधना को प्रकाश करता है, वह पूरी आयु न भोग के अकाल में ही अस्त्राघात से या किसी के विष प्रयोग से शीघ्र मृत्यु को प्राप्त होता है।

सदा बुद्धिमता भाव्यं योगिना योगसिद्धये ।
एते विघ्ना महासिद्धेर्न रमेत्तेषु बुद्धिमान् ॥७५॥

न दर्शयेत्स्वसामर्थ्यं यस्य कस्यापि योगिराट् ।
यथा मूढा यथा मूर्खो यथा वधिर एव वा ॥७६॥

तथा वर्तेय लोकस्य स्वसामर्थ्यस्य गुप्तये ।
शिष्याश्च स्वस्वकार्येषु प्रार्थयन्ति न संशयः ॥७७॥

तत्तत्कर्मकरव्यग्रः स्वाभ्यासेऽविस्मृतो भवेत् ।
अविस्मृत्य गुरोर्वाक्यमभ्यसेत्तदहर्निशम् ॥७८॥

श्री महेश्वर की आज्ञानुसार आत्मज्ञान के पूर्व साधकों को अपना योगसाधन और उससे प्राप्त सामर्थ्यको प्रकाश नहीं करना चाहिये, तैसे ही महान् ऐश्वर्य सम्पन्न योगियों को भी सदा यह विचारते रहना चाहिये कि आत्मज्ञान महासिद्धि के बिना योग का और जो कुछ भी ऐश्वर्य है वह सब ब्रह्मज्ञान के लिए विघ्न रूप है, इसलिए बुद्धिमान् योगी को उसमें आसक्त नहीं होना चाहिए और अपना सामर्थ्य भी हर किसी को दिखाना नहीं चाहिए वरन् सामर्थ्य गुप्त रखने के लिए व्यवहार में भी लोगों

के साथ मूढ़ की तरह, मूर्ख के समान, और बहरे के सदृश बर्तना चाहिए। ताकि लोग जान न सकें, क्योंकि सामर्थ्य जान लेने से लोग अपने २ कार्य के लिए निस्सन्देह शिष्य बनाने की प्रार्थना करते रहते हैं और उन पर कृपा करते रहने से अपना नित्य का योगाभ्यास छूट जाता है, फलस्वरूप गुरु के वाक्यों का उलघन हो जाता है और मन की स्थिति भी पहले जैसी नहीं रहती, इसलिए गुरु के वाक्य की स्मृति करके अभ्यास में लगे रहना चाहिए ताकि इस जन्म में ही योग से दिव्य ब्रह्मज्ञान हो जाये और जीवनमुक्त दशा शीघ्र प्राप्त हो जाये।

दक्ष संहिता

आयुर्वित्तं गृहच्छिद्रं मंत्रमैथुन भषेजम्।
तपोदानापमानञ्च नवगोप्यानि प्रयत्नतः ॥१॥

गुप्त विषय प्रकाश कर देने से महा अनर्थ होता है इसलिए शास्त्र में कहा है कि मनुष्यों को अपनी आयु और धन का परिमाण अपने घर के छिद्र, मन्त्र, मैथुन, औषध, तपस्या—योग-साधन, दान और निज का अपमान ये विषयगुप्त रखने चाहिए क्योंकि इनके प्रकाश से महा अनर्थ और बड़े विघ्न होते हैं।

योग साधन के अन्तराय

योगदर्शन समाधि पाद

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्ध भूमिकत्वानवस्थित्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः॥३०॥

व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्ति-दर्शन, अलब्ध, भूमिकत्व और अनवस्थित्व ये नव अन्तराय

योगशास्त्र में चित्त विक्षेप के कारण और योग के विरोधी विघ्नरूप कहे हैं।

व्याधि—अनियमित आहार से अथवा ऋतु के दोष से वात पित्तादि के बढ़ने से होने वाले रोगों का नाम व्याधि है। **स्त्यान**—इच्छा होने पर भी योग में प्रवृत्त होने की चित्त की असमर्थता और तमोगुण के कारण चित्त की मूढ़ता से साधक की अकर्मण्यता का नाम स्त्यान है। **संशय**—योग सिद्ध होता होगा कि नहीं, उसका फल सत्य है कि मिथ्या, कल्पना मात्र है इत्यादि सन्देहयुक्त मन की अवस्था का नाम, साधक का सर्वनाश करने वाला संशय है। **प्रमाद**—समाधि के साधन में प्रयत्न न करना और योगसाधन से उदासीन रहना प्रमाद का लक्षण है, इस प्रमाद से प्राप्त योग भी नष्ट होता है। **आलस्य**—कफादि से शरीर का तथा तमोगुण से चित्त का भारी होना एवं योगसाधन में प्रवृत्त न होना, ध्यान में चित्त का न लगना इत्यादि चित्त की दुरावस्था का नाम आलस्य है, **अविरति**—ध्यान करने बैठते ही मन में विषय व्यापार के संकल्प का होना और उस संकल्प के अधीन होकर ध्यान का त्याग कर देना, विषय तृष्णा अविरति है जो साधक के मन को बलात्कार से ज्ञानध्यान से हटाकर विषय में लगाती है और नीचा दिखाती है। **भ्रान्ति दर्शन**—योगसाधन में असाधनपने की बुद्धि किंवा विपर्यय ज्ञान भ्रान्ति कहलाता है जिसके साधक कुछ की कुछ धारणा कर लेता है, **अलब्ध भूमिकत्व**—समाधि का अभ्यास का करते रहने पर भी किसी निमित्त से लाभ न होना ही अवलब्ध-भूमिकत्व है, यह विघ्न भी साधक को

सन्तोष से च्युत करता है, **अनवस्थित्व**—पहिले योग में अच्छी स्थिति थी, परन्तु अब नहीं है यह भाव उत्पन्न करने वाला अनवस्थित्व अन्तराय साधक को आक्षेप कराता है और समाधि की स्थिति होने नहीं देता।

इन नौ योग-विघ्नों के अतिरिक्त और इनके ही सहकारी दुःख दौर्मनस्य अंग में जयत्व और श्वास प्रश्वास है। दुःख—आधिभौतिक इत्यादि नाना प्रकार का प्रसिद्ध है, **दौर्मनस्य**—इच्छा का विघात होने से मन का क्षोभ, **अंगमेजयत्व**—बिना इच्छा के शारीरिक कम्पन, अंगों का प्रचलन भी विघ्न है, **श्वास प्रश्वास**—ध्यान के समय अधिक श्वास प्रश्वास चलने से मन चञ्चल होता है, ये सब योग के मल रूप विघ्न ही हैं इसलिए इनके प्रतिषेधार्थ एक तत्व का अभ्यास करना चाहिये। इसका विशेष विवरण योग दर्शन में है।

योग विघ्न प्रतिकार

एकादश स्कन्ध अध्याय २८

योगिनोऽपक्वयोगस्य युञ्जतः काय उत्थितैः।
उपसर्गैर्विहन्येत तत्रायं विहितो विधिः॥३८॥
योगधारणया कांश्चिदासनैर्धारणान्वितैः।
तपोमंत्रोषधैः कांश्चिदुपसर्गान बिनिर्दहेत्॥३९॥
कांश्चिन्ममानुध्यानेन नाम संकीर्तनादिभिः।
योगेश्वरानुवृत्या वा हन्यादशुभदाञ्छनैः॥४०॥

यदि कुर्यात् प्रमादेन योगी कर्म विगर्हितम् ।
योगेनैव दहेदंहो नान्यत्तत्र कदाचन ॥२५।२०॥

भगवान श्री कृष्ण कहते हैं कि योग साधन करने वाले साधकों को योग सिद्धि होने से पूर्व बीच में ही यदि कोई शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक व्याधिरूप विघ्न आ जाये तो उनके लिये यह प्रतिकार है, कि किसी रोग को योग धारण से और किसी को धारणायुक्त आसन, प्राणायाम के अभ्यास से, किसी उपसर्ग को जप, तप, मंत्र और औषध से शान्त करना चाहिए, इस प्रकार किसी को मेरे ध्यान से, किसी को नाम संकीर्तन से और किसी विघ्नरूप उपद्रव को मंगलदायक योगीश्वरों के ध्यान से शनैः शनैः नष्ट कर देना चाहिये, यदि प्रमादवश साधक योगी से लोक निन्दित कोई गर्हित कर्म हो जाये तो उसका भी प्रायश्चित् योग साधना से ही कर लेना चाहिए उसके लिए और योग के बिना कोई उपाय करने की आवश्यकता नहीं है।

केचिद्देहमिमं धीराः सुकल्पं वयसि स्थिरम् ।
विधाय विविधोपायैरथ युञ्जन्ति सिद्धये ॥४१॥

कोई कोई धीर योगी पुरुष इस शरीर को मन्त्र औषधादि नाना प्रकार के उपायों से कल्प करके सुदृढ़ युवावस्था में स्थिर करके फिर सिद्धि के लिए योग साधन करते हैं परन्तु चतुर पुरुष को ऐसा करने की आवश्यकता नहीं है। यह तो व्यर्थ का ही परिश्रम है क्योंकि वृक्ष में लगे हुए फल की तरह यह शरीर भी एक दिन तो गिरने वाला ही है, नित्यप्रति एक मात्र हठयोग

करते रहने से यदि शरीर का कल्प होकर सुदृढ़ हो जाये तथापि मुझे भजने वाला बुद्धिमान् पुरुष योगसाधन को छोड़कर केवल शरीर को ही सर्वस्व न समझ कर रह जाये, क्योंकि शरीर दृढ़ करने में लगा रहना भी मेरी प्राप्ति के अर्थ विघ्न रूप है। इसलिए जो साधक योगी निष्काम होकर योग साधन से मेरे में लगे रहते हैं और सब सुख अपने में ही अनुभव करते हैं, ऐसे मेरे आश्रय वाले योगपरायण साधकों को कोई विघ्न नहीं आता और यदि दैवात् कोई विघ्न आ भी जाये तो बाधक नहीं होता।

योग सिद्धि का उपाय

हठयोग प्रदीपिका तथा गीता

भयं क्रोधमथालस्यमतिस्वप्नातिजागरम् ।
अत्याहारमनाहारं नित्यं योगी विवर्जयेत् ॥१॥
अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमग्रहः ।
जनसङ्गश्च लौल्यञ्च षड्भिर्योगो विनश्यति ॥१५॥
उत्साहसाहसधैर्यात्तत्त्वज्ञानाच्च निश्चयात् ।
जनसङ्गपरित्यागात्षड्भिर्योगः प्रसिद्ध्यति ॥१६॥
युक्ताहार विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्त स्वप्नावबोधस्य योगी भवति दुःखहा ॥१७॥

योग साधन करने वाले साधकों को भय, क्रोध और आलस्य तथा बहुत सोना और बहुत जागना एवं अधिक खाना, और

उपवास करना सदा वर्जित है। क्योंकि अति आहार, बहुत परिश्रम तथा वृथा बहुत बोलना, नियमों को ग्रहण कर किसी नियम में प्रतिज्ञाबद्ध हो जाना, एवं योग साधना के विरोधी लोगों का संग करना, और चंचलता, ये छः योग साधन का नाश करने वाले हैं, इसलिए इनका त्याग करना चाहिए। और उत्साह, साहस, धैर्य, तत्त्वज्ञान तथा शास्त्र द्वारा अपने कल्याण का दृढ़ निश्चय कर लेना और प्रतिकूल जनसंग का परित्याग, ये छः योग की सिद्धि कराने वाले हैं इनको ग्रहण करना चाहिए। जो साधक परिमित आहार और नियमित विहार करते हैं तथा जो नियम से ठीक समय पर सोते जागते हैं और अपने व्यवहारिक कर्म में आवश्यकतानुसार चेष्टा करते हैं उनको सब दुःखों का नाश करने वाला योग सिद्ध होता है।

चतुर्दश प्रकाश

षट् चक्र ज्ञान

योगचूणामण्युपनिषद् तथा योग स्वरोदय

षट्चक्रं षोडशाधारं विलक्ष्यं व्योम पञ्चकम् ।
स्वदेहे यो न जानाति तस्य सिद्धिः कथं भवेत् ।।२।।

नवचक्र षडाधारं त्रिलक्ष्यं व्योम पञ्चकम् ।
सम्यगे तन्न जानाति स योगी नामतो भवेत् ।।१।।

श्री महेश्वर कहते हैं कि अपने शरीर में स्थित षट्चक्र, सोलह आधार, त्रिलक्ष्य और पञ्च व्योम को जो साधक नहीं जानते हैं उनको योग सिद्धि कैसे हो सकती है ? इसलिए योगसाधन करने वाले सभी साधकों को योगशास्त्र में श्री महेश्वर कथित षट्चक्र तथा उनके अधिष्ठाता देवी देवता, उनके कार्य तथा सोलह आधार, तीन लक्ष्य, पञ्च व्योम तथा प्राणादि वायुओं के कार्य, और मुख्य २ नाड़ियों के संस्थान को अवश्य जान लेना चाहिये। जो लोग इन सब को भली प्रकार से जाने बिना ही साधना करते हैं और अपने को योग समझते हैं वे नाम मात्र के ही योगी होते हैं। उनको योग साधना का कोई फल नहीं मिलता । वे योगी नहीं हो सकते । अतएव जो योगी इनको जानते हैं, अनुभव करते हैं और करा सकते हैं, वे ही सिद्धि को पाये हुए वास्तविक योगी हैं।

षट्चक्र के नाम और उनके स्थान

ज्ञान सकलिनी तंत्र

मूलाधारं स्वाधिष्ठानं मणिपूरमनाहतम् ।
विशुद्धञ्च तथाज्ञाश्च षट्चक्राणि विभावयेत् ।।१।।
आधारं गुह्य चक्रन्तु स्वाधिष्ठान च लिङ्गकम् ।
मणिपूरं नाभि चक्रं हृदयन्तु अनाहतम् ।।२।।
विशुद्धं कण्ठ चक्रन्तु आज्ञा चक्रं च मस्तकम् ।
चक्र भेदं मयाख्यातं चक्रातीतं निरञ्जनम् ।।३।।

मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध तथा आज्ञा यह षट्चक्र कहलाते हैं। मूलाधार को गुदाचक्र, स्वाधिष्ठान को लिङ्ग चक्र और मणिपूर को नाभि चक्र कहते हैं। अनाहत को हृदय चक्र, विशुद्ध को कण्ठचक्र, आज्ञा को भ्रू चक्र एव सहस्रदल कमल सहस्रार को मूर्धा चक्र कहते हैं। चक्रों का यह भेद मैंने प्रकाशित किया है। इन षट् चक्रों से परे सहस्रार में निरञ्जन परमात्मा है।

रुद्रयामल तंत्र पटल २५

सुषुम्ना जननी मुख्या सूक्ष्मा पंकज तन्तुवत् ।
सुषुम्ना मध्य देशेतु वज्राख्या नाडिका शुभा ।।१।।
तत्र सूक्ष्मा हि चित्रिणी तत्र श्रीकुण्डली गतिः ।
तथा संग्राह्या तन्नाड्या षट् मद्मसु मनोहरम् ।।२।।

शरीर के मध्य मेरुदण्ड में स्थित मुख्य सुषुम्ना नाड़ी है जो सब नाड़ियों को जननी है। वह कमल-तन्तु के समान अतीव

सूक्ष्म है । उस सुषुम्ना के मध्य में शुभ रूपा वज्रा नाम की नाड़ी है और उस वज्रा के बीच में उससे भी सूक्ष्म चित्रिणी नाड़ी है, जिसमें कुण्डलिनी शक्ति आती जाती रहती है । इसी चित्रिणी नाड़ी में यह मनोहर षट् पद्म गुथे हुये हैं ।

योगचूड़ामण्युपनिषद्

चतुर्दलस्यचाधारं स्वाधिष्ठानं तु षट्दलं ।
नाभौ दशदलं पद्मं सूर्य संख्या दलं हृदि ।।४।।

षोडशारं विशुद्धाख्यं भ्रूमध्ये द्विदलं तथा ।
सहस्र दलमाख्यातं ब्रह्मरन्ध्रे महापथैः ।।५।।

सप्त पद्म मयैवोक्तं सुषुम्ना ग्रथितं प्रिये ।
अधोवक्त्रादीनेताञ्च नारव्येयं यस्य कस्यचित् ।।१।।

लिङ्ग के नीचे गुदा के ऊपर मूलाधार कमल चार दल वाला है । लिङ्ग के ऊपर तथा नाभि के नीचे स्वाधिष्ठान चक्र छह पंखड़ी वाला है । नाभि में स्थित मणिपूर चक्र दश दल वाला है । हृदय में अनाहत चक्र बारह पंखड़ी का है । कण्ठ स्थान में स्थित विशुद्ध चक्र सोलह दल का है तथा दोनों भ्रूवों के मध्य में दो दल वाला आज्ञा चक्र है । सातवां सहस्रदल वाला कमल मूर्धा (ब्रह्मरन्ध्र) में स्थित है । मैंने जो उपरोक्त सात कमल कहे हैं वे सब सुषुम्ना में गुथे हुए हैं और नीचे मुख किये हुए हैं जो लोग अज्ञानी हैं, प्रवृत्ति परायण हैं, उनके उपरोक्त कमल नीचे ही मुख किये रहते हैं । परन्तु निवृत्ति परायण मोक्षमार्ग वालों के योग साधना करने से ऊर्ध्वमुख हो जाते हैं । तभी योग की सब सिद्धियां आती हैं और ज्ञान होता है । इसका तत्त्व

अतीव आश्चर्यजनक है और मोक्ष देने वाला है इसलिये इसका भेद हर एक सर्व साधारण मनुष्य को नहीं कहना चाहिए।

षट्चक्र में पंच महाभूत

शाक्तानन्द तरंगिणी

मूलाधारे स्थिता भूमिः स्वाधिष्ठाने जलं प्रिये।
मणिपूरे स्थितं तेजो हृदये वायवस्तथा ॥१॥
विशुद्धौ तु महेशानि आकाशं कमलेक्षणे।
आज्ञाचक्रे महेशानि मनः सर्वार्थ साधनम् ॥२॥

मूलाधार चक्र में भूमि तत्त्व स्थित है, स्वाधिष्ठान में जल-तत्त्व, मणिपूर चक्र में तेज तत्त्व तथा अनाहत चक्र में वायु तत्त्व स्थित है, विशुद्ध चक्र में आकाश तत्त्व का निवास है तथा भ्रूमध्यस्थ आज्ञा चक्र में सर्व कार्य के साधन करने वाले मन का निवास है। भूमितत्त्व का बीज "लं" है, जल का बीज "वं", अग्नितत्त्व का "रं", वायु तत्त्व का "यं" तथा आकाश तत्त्व का बीज 'हं" है।

आपः श्वेताः क्षितिः पीता रक्तवर्णो हुताशनः।
मारुतो नीलजीमूत आकाशं भूरि वर्णकम् ॥३॥
आकाशं मण्डलं प्रोक्तं वर्त्तुलं सर्व सम्मतम्।
षट्कोण मण्डलं वायोस्त्रिकोणन्तु विभावसोः।
अष्टास्त्रं वरुणस्यापि चतुरस्त्रं धरासुतम् ॥४॥

पृथ्वीतत्त्व का रंग पीला है। जल तत्त्व का वर्ण श्वेत, तेज तत्त्व का लाल, वायुतत्त्व का नीले बादल के समान तथा आकाश

तत्त्व का रग नाना प्रकार का है। आकाश मण्डल का रूप वर्त्तुलाकार है जो सर्वशास्त्र सम्मत है । वायुमण्डल की आकृति षट्कोण है कोई उसे अर्द्ध चन्द्राकार भी कहते हैं। तेज तत्त्व की आकृति त्रिकोण है, जल तत्त्व की अष्टकोण है तथा पृथ्वी तत्त्व की आकृति चतुष्कोण है।

षट्चक्र के अधिष्ठातृ देवता

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः ।
ततः पर शिवश्चैव षट्शिवा परिकीर्तिता ।।५।।
डाकिनी राकिनि चैव लाकिनी काकिनी तथा ।
शाकिनी हाकिनो चैव क्रमात्षट् पङ्कजाधिपाः ।।६।।
ब्रह्मा जनार्दनो रुद्र ईश्वरश्च सदाशिवः ।
चित्राख्या नाड्यन्तरस्थाः पञ्चभूताधि देवताः ।।७।।

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव एवं परशिव ये ६ शिव कहलाते हैं। डाकिनी, राकिनी, लाकिनी, काकिनी, शाकिनी और हाकिनी ये छै शक्तियां कहलाती हैं जो क्रमशः षट्चक्र के अधिष्ठातृ देवी देवता हैं। योगशास्त्र में कार्य कारण भेद से इनकी नाना प्रकार की व्याख्या की गई है। जब योग साधना करने वाले साधकों के मन, प्राण सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करके ब्रह्मरन्ध्र में आते जाते रहते हैं तब स्थान विशेष में शिव और शक्ति रूप से साधकों को परमात्मा के दर्शन होते हैं। इस लिये

षट्चक्र के प्रसंग में इन शिव शक्तियों का उल्लेख प्रायः होता रहेगा । इनका विशेष विवरण योग शास्त्र में है इसलिये यहां संक्षेप से कहा है। यही षट्चक्र के अधिपति देवी देवता हैं। मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र जाते समय प्रत्येक चक्र में साधकों को इनका साक्षात्कार होता है। यही देवता साधकों को ईश्वर से मिलाते हैं। जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, सुषुम्ना के बीच वज्रा नाड़ी तथा वज्रा के मध्य में चित्रा नाड़ी के अन्दर स्थित सप्त पद्म समूह में पञ्चभूत सूक्ष्म तत्त्वों के अधिपति देवता ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव हैं।

जैसे बाहर ब्रह्माण्ड की रचना और लय के लिए शास्त्र में ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर को कार्य ब्रह्म कहा है और निराकार पूर्ण ब्रह्म को कारण ब्रह्म कहा है, वैसे ही यह अन्तर्जगत् के पांच कार्य ब्रह्म हैं और परशिव कारण ब्रह्म हैं। जैसे बाहर जगत् में कार्य-ब्रह्म-ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर माया द्वारा यावतीय कार्य सम्पादन करते हैं और महाप्रलय में कारण ब्रह्म में लीन हो जाते हैं वैसे ही अन्तर्जगत् में भी डाकिनी, राकिनी आदि तथा माया शक्ति द्वारा सर्व कार्य सम्पादित होते रहते हैं। जैसे महाप्रलय में परब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई तत्त्व नहीं रहता, ब्रह्मादि स्वयं भी उसी में लीन हो जाते हैं वैसे ही साधक को निर्बीज समाधि होने से शिव और शक्तिरूप कार्य ब्रह्म परशिव कारण ब्रह्म में लय हो जाते हैं। यह विषय साधारणतया विस्तार से मूल ग्रन्थों में ही लिखा है। उन ग्रन्थों के प्रचलित न होने से सब के लिए समझना तथा समझाना आसान नहीं है। क्योंकि यह तत्त्व कहने सुनने का नहीं, वरन् स्वयमेव करने का है।

अधिष्ठातृ देवताओं के स्थान

आधारेनिवसेन्ब्रह्मा सृष्टिकारकतंविभो ।
स्वाधिष्ठानेमहाविष्णु त्रैलोक्य पालक सदा ॥८॥
मणिपुरेमहारुद्र सर्वं संहार कारकः ।
अनाहते ईश्वरोऽहं साक्षात् मंगलदायक ॥६॥
विशुद्धे राजते तत्र सदाशिवः शक्यासह ।
आज्ञायान्तु शिवज्योति सहस्रारे ह्यनामयः ॥१०॥
आधारे डाकिनी देवी राकिनी लिङ्ग गोचरा ।
लाकिनी मणिपूरस्था अनाहते तु काकिनी ॥११॥
विशुद्धे शाकिनी देवी आज्ञायां हाकिनी तथा ।
याकिनी ब्रह्मरन्ध्रस्था सर्वकाम फलप्रदाः ॥१२॥

मूलाधार कमल में ब्रह्मा, स्वाधिष्ठान में विष्णु, और मणिपुर में रुद्रदेव का निवास है, अनाहत में ईश्वर एव विशुद्ध चक्रमें शक्ति सहित सदाशिव विराजमान हैं। आज्ञा चक्र में ज्योतिर्मय शिव तथा सहस्रार में अनामय परशिव प्रतिष्ठत हैं। आधार चक्र में डाकिनी देवी, स्वाधिष्ठान में राकिनी शक्ति और मणिपुर में लाकिनी देवी स्थित है। अनाहत में काकिनी, विशुद्ध में शाकिनी, आज्ञा चक्र में हाकिनी तथा सहस्रार में सम्पूर्ण कामनाओं के फल को देनें वाली याकिनी महादेवी का निवास है।

निर्वाणतंत्रसप्तम पटल

भूर्लोके निवशेद् ब्रह्मा भुवर्लोके जनार्दनः ।
स्वर्लोके निवसेच्छम्भुः सदा संहार कारकः ॥१॥

ब्रह्मादिनाञ्च ईशानः सर्वकर्त्ता च ईश्वरः ।
सर्वस्वामी स्वरूपश्च सर्वकर्त्ता सुरेश्वरः ॥
सृष्टिस्थिति लयादिनां कर्त्ता च परमेश्वरः ॥२॥
ब्रह्मणासृजते लोकं पाल्यते विष्णुरूपिणा ॥
परोदेवो रुद्ररूपः सदा संहार कारकः ॥३॥

भूर्लोक में ब्रह्मा का निवास है, भुवर्लोक में विष्णु निवास करते हैं और सदा संहार करने वाले शंम्भु स्वर्लोक में निवास करते हैं। वही शिव ब्रह्मादिक सब देवताओं के नियंन्त्रण कर्त्ता ईश्वर हैं तथा सबके स्वामी हैं। वही सर्व कर्त्ता देवताओं के ईश्वर हैं, एवं वही शिव सृष्टि की स्थिति लय करने वाले परमेश्वर हैं। जो कि ब्रह्मा रूप से लोक समूह का सृजन, विष्णु रूप होकर पालन, एवं वही रुद्र रूप से सदा उनका संहार भी करते हैं।

षट् चक्र विज्ञान

शिवसंहिता पञ्चेम पटल

गुदाद्द्वयङ्गुल तश्चोर्ध्वं मेढ्रैकांगुल तस्त्वधः ।
एवाञ्चास्ति समंकन्दं समता चतुरङ्गुलम् ॥८०॥
पश्चिमाभिमुखी योनिर्गुद मेढ्रान्तरालगा ।
तत्रकन्दं समाख्यातं तत्रास्ते कुण्डली सदा ॥८१॥
संवेष्ट्य सकला नाड़ी साष्ट्धा कुटिलाकृतिः ।
मुखे निवेश्य तत्पुच्छं सुषुम्ना विबरे स्थितम् ॥८२॥

अब श्री महेश्वर षट्चक्रों के विशेष विज्ञान को साधन, ज्ञान, ध्यान के फल सहित विस्तार से वर्णन करते हैं, कि गुदा से जो अंगुल ऊपर और मेढ़ से एक अंगुल नीचे पक्षी के अण्डे के सदृश्य कन्दवत् एक मूल ग्रन्थी है, जिसका परिमाण चार अंगुल वर्गाकार है। उसी का नाम कन्द है। गुदा एवं मेढ़ के मध्यस्थल में समानान्तर पर पश्चिमाभिमुखी एक योनि स्थान है। उपरोक्त कन्द इस योनि मण्डल में अवस्थित है और वहीं पर कुण्डलिनी शक्ति निरन्तर रहती है। वह सब नाड़ियों को वेष्टन किये हुए सर्पवत् अष्टधा कुण्डलाकृति होके, मुख में पूंछ देकर तथा ब्रह्मद्वार को रोक कर सुषुम्ना विवर में स्थित है। यह कुण्डलिनी शक्ति निद्रित सर्प की तरह आकृति विशिष्ट अपनी ही प्रभा से समुद्भासित है, जिसका वर्णन नवम (९वें) प्रकाश में किया जा चुका है।

मूलाधार चक्र वर्णन

तत्र बन्धूक पुष्पाभं काम बीजं प्रकीर्त्तितम् ।
कलहेम समं योगे प्रयुक्ताक्षर रूपिणम् ॥८५॥
सुषुम्नापि च संश्लिष्टा बीजं तत्र वरं स्थितम् ।
शरच्चन्द्रनिभं तेजस्त्रयमेतत्स्फुरत् स्थितम् ॥८६॥
सूर्य कोटि प्रतीकाशं चन्द्र कोटि सुशीतलम् ।
एतत्त्रयं मिलित्वैतत् देवी त्रिपुर भैरवी ॥८७॥

मूलाधार कमल में योनी मण्डल है उस योनिमण्डल में उपरोक्त कन्द के भीतर बन्धूक पुष्प की आभा के समान रक्त

वर्ण काम बीज 'क्लीं' शोभायमान है। इसलिए योग साधन काल में तप्त स्वर्ण सदृश कान्तिमान् 'क्लीं' बीज का चिन्तन एवं ध्यान करना चाहिए, क्योंकि सुषुम्ना में संलग्न मूलाधार कमल में ही कुण्डलिनी शक्ति महाशक्ति है। कुण्डलिनी शक्ति परम श्रेष्ट काम बीज 'क्लीं' तथा शरद चन्द्रमा के समान देदीप्यमान् मूलाधार कमल में स्थित व. श. ष. स. वर्णाक्षर इन तीनों का तेज कोटि सूर्य सदृश्य प्रकाशवान् एवं कोटि शरद चन्द्र के समान स्निग्ध व सुशीतल है। कुण्डलिनी शक्ति, काम बीज 'क्लीं' तथा वर्णाक्षर (व. श. ष. स.) यह तीनों मिलकर "त्रिपुर भैरवी" देवी के नाम से प्रसिद्ध है।

बीज संज्ञं परं तेजस्तदेव परिकीर्त्तितम् ।
क्रिया विज्ञान शक्तिभ्यां युतं यत्परितो भ्रमेत ॥८८॥

उत्तिष्ठद् विसतन्त्वाभं सूक्ष्मं शोण शिखायुतम् ।
योनिस्थं तत्परं तेजः स्वयंभू लिङ्ग संस्थितम् ॥८९॥

इसलिए यही परं श्रेष्ट बीज सज्ञक तेज-त्रय, ज्ञान-शक्ति और क्रियाशक्ति सहित सुषुम्ना में संलग्न मूलाधार कमल के यीनिमण्डल में परिभ्रमण करता है। यह महातेज कमल तन्तु के समान सूक्ष्म एवं अग्नि शिक्षा के समान रक्त वर्ण ज्वाला विशिष्ट है तथा योनी मण्डल स्थित स्वयंभू लिंग का आश्रय करके अवस्थित है।

आधार पद्ममेतद्धि योनिर्यस्यास्तिकन्दतः ।
परिस्फुरद् वादि सान्तं चतुर्वर्णं चतुर्दलम् ॥९०॥

कुलाभिधं सुवर्णाभं स्वयंभू लिंग संगतम् ।
द्विराण्डोयत्र सिद्धोऽस्ति डाकिनी यत्र देवता ॥६१॥

तत्पद्म मध्यगा योनिस्तत्र कुण्डलिनी स्थिता ।
अस्याऊर्ध्वे स्फुरन्तेजः काम बोजं भ्रमन्मतम् ॥६२॥

इसको ही मूलाधार कहते हैं, इसके ही बीज कोष योनि-मण्डल में स्वयंभूलिग तथा कुण्डलिनी शक्ति विद्यमान् है तथा यहीं सब आध्यात्मिक एव भौतिक शक्तियों के भण्डार व परम-ज्ञान निहित है। यह मूलाधार कमल चार पंखुड़ी वाला है। इसके चारों दलों पर क्रमश: व. श. ष. स. यह चार अक्षर तेज रूप से प्रकाशित हो रहे हैं। इस आधार पद्म को ही कुल नाम से कहा जाता है-क्योंकि यही पर स्वयंभूलिंग को वेष्टन किये हुए स्वर्ण के समान देदीप्यमान कुण्डलिनी शैवी शक्ति प्रतिष्ठित है। यहीं द्विराण्ड नाम के सिद्ध देव तथा डाकिनी नाम की देवी सिद्ध शक्ति का निवास है। यहां के अधिपति देवता ब्रह्मा जी हैं। यह स्थान भूलोक, पीतवर्ण, चतुष्कोण पृथ्वीतत्त्व का है। इसका बीज "ल" है। यहां के रक्षक गजारूढ़ इन्द्रदेव तथा गणाधिपति गणेश प्रथम पूज्य देव हैं। इस पद्मयोनि में जहां कुण्डली स्थित है उससे ऊपर के भाग में महा तेज युक्त भ्रमण शील काम बीज "क्लीं' शोभायमान् है। इसी स्थान पर सृष्टि के सब देवी-देवता निवास करते हैं। यही स्थान परम कल्याणकर शिव शक्ति के ज्ञान और सब प्रकार की सिद्धियों का प्रकाशक है। अन्तर जगत् का द्वार एवं सभी ज्ञातव्य तत्त्वों का आधार है। अतएव इसको मूलाधार कहते हैं।

मूलाधार के ज्ञान ध्यान का फल

यः करोति सदा ध्यानं मूलाधारे विचक्षणः ।
तस्य स्यद्दार्दुरी सिद्धिर्भूमित्याग क्रमेण वै ॥९३॥

वपुषः कान्ति रूत्कृष्टो जठराग्नि विवर्धनम् ।
आरोग्यञ्च पटुत्वञ्च करणानाञ्च जायते ॥९४॥

भूतार्थञ्च भविष्यञ्च वेत्ति सर्वं सकारणम् ।
अश्रुतान्यपि शास्त्राणि सरहस्यं वदेत् ध्रुवम् ॥९५॥

जो कोई विचक्षण साधक योगी इस प्रकार मूलाधार कमल में स्थित आध्यात्मिक तत्त्व का ध्यान करता है उसको दादुरी सिद्धि होती है। उसका प्राण उत्थान होकर सुषुम्ना विवर में प्रवेश करता है। तब क्रम से प्राण जय होने पर उसका आसन भी शून्य में स्थिर हो सकता है एवं शरीर की कांति बढ़ जाती है। जठराग्नि प्रज्वलित होती है जिससे योगी के सभी रोग नष्ट हो जाते हैं शरीर स्वस्थ, सुन्दर, सुदृढ़ और परिपक्व होता है। इन्द्रियों की शक्ति भी दिव्य रूप धारण कर लेती है। फल स्वरूप त्रिकाल के ज्ञान को वह कारण सहित जान सकता है। और अश्रुत शास्त्र जो पहिले कभी देखे सुने भी न हों उनका अत्यन्त गूढ़ रहस्य निश्चयपूर्वक कह सकता हैं। सरस्वती देवी सदा उस योगी के मुख में नृत्य करती है, उसके वाक्य पर निर्भर करती है। वह जो कुछ कहे उसे साक्षात् सरस्वती का ही कथन समझना चाहिये। उस साधक योगी को किसी भी मन्त्र की सिद्धि उस मन्त्र के जप करने मात्र से ही हो जाती है। इसमें कोई सन्देह नहीं है।

साक्षात् ईश्वर तथा गुरुजनों का कथन है कि जरा, मृत्यु आदि समस्त प्रकार के दुःख नाशार्थ योगसाधन करने वाले प्राणायाम परायण योगी को सदा सर्वदा प्रथम मूलाधार कमल का ही ध्यान करना चाहिये। इसका ध्यान करते रहने से ही योगी निःसन्देह जीवनमुक्त हो जाता है। अतः जब मूलाधार कमल में स्थित कुण्डलिनी शक्ति सहित स्वयंभूलिंग का ध्यान किया जाता है तो निश्चय पाप समूह का विनाश हो जाता है तथा योगी मन में जो कोई भी कामना करता है वह सभी पूर्ण होती हैं। सब कामनाओं का त्याग करके निरन्तर अभ्यास कर के ध्यान परायण रहने से योगी मुक्ति दाता ईश्वर को साक्षात् देखता है। आत्म रूप ईश्वर अन्तर में ध्यान से तथा बाहर में ज्ञान से प्रत्यक्ष दीखता है। उसी परमेश्वर की ही अन्दर बाहर यत्नपूर्वक पूजा करनी चाहिए। मेरे विचार से आत्मदेव से बढ़कर अन्य कोई श्रेष्टतम देव नहीं है तथा न इसकी पूजा के अतिरिक्त अन्य किसी की पूजा ही श्रेष्ठ है।

बहुत से अविवेकी मनुष्य अपने शरीर में मूलाधार कमल में स्थित शिव का परित्याग करके बाहर के अन्य देवताओं का पूजन करते हैं वे मानों सामने उपस्थित अमृतमय भोजन का त्याग करके क्षुधार्त हुए व्यर्थ ही इधर उधर भागते फिरते हैं। इस प्रकार के व्यर्थ ही भटकने वाले अज्ञानी मनुष्यों का जन्म-मरण होता ही रहेगा। वे कभी परम सुख शान्ति को नहीं पाते।

इसलिये जो लोग आलस्य त्यागकर अपने शरीरस्थ मूलाधार कमल में स्वयंभूलिंग आत्मदेव का नित्यप्रति पूजन करते हैं उनको निस्सन्देह अवश्यमेव सभी प्रकार की सिद्धियों का लाभ

होता है। गुरु उपदेशानुसार प्रामायाम द्वारा निरन्तर आधार-चक्र में आत्मदेव शिव का पूजन करने से ६ मास में सिद्धि होती है। इस प्रकार नित्य नियमित रूप से योगाभ्यास करते रहने से साधक योगी का प्राणवायु निश्चय सुषुम्ना में प्रवेश करता है एवं मन वशीभूत हो जाता है। प्राण के भी जय हो जाने से बिन्दु का जय भी सहज हो जाता है। मन, प्राण तथा बिन्दु को जय कर लेने से योगी की सब प्रकार की सांसारिक तथा पारमार्थिक सिद्धि निस्सन्देह अवश्य हो जाती है।

स्वाधिष्ठान चक्र के ज्ञान ध्यान का फल

द्वितीयन्तु सरोजं यल्लिग मूले व्यवस्थिम् ।

तद्वादिलान्त षड्वर्णैः परिभास्वर षड्दलम् ॥१०५॥

स्वाधिष्ठानाभिधं तत्र पङ्कजं शोण रूपकम ।

बालाख्योयत्र सिद्धोऽस्तिदेवीयत्रास्तिराकिनी ॥१०६॥

अब श्री महेश्वर दूसरे स्वाधिष्ठान का वर्णन करते हैं। यह द्वितीय स्वाधिष्ठान चक्र लिंग मूल में व्यवस्थित है और यह कमल ६ पंखुड़ी (दल) का है एवं रक्त वर्ण का है। इसके प्रत्येक दल पर एक एक क्रमशः ब. भ. म. य. र. ल. वर्णाक्षर प्रकाशित हो रहे हैं। यहीं पर बाल नाम के सिद्ध देव तथा राकिनी नामक सिद्ध शक्ति देवी का निवास है। यहां के अधिपति देवता विष्णु हैं। यह स्थान भुवर्लोक, श्वेत वर्ण अष्ट कोणाकार जल तत्त्व का है। इसका बीज वं है। जल के देवता वरूण यहां के रक्षक हैं।

योऽध्यायति सदा दिव्यं स्वाधिष्ठानारविन्दकम् ।
तस्य कामागंनाः सर्वा भजन्ते काम मोहिताः ॥१०७॥

विविधञ्चाश्रुतशास्त्रं निःशङ्को वै वदेद्ध्रुवम् ।
सर्वरोग विनिर्मुक्तो लोके चरति निर्भयः ॥१०८॥

जो साधक योगी दिव्य स्वाधिष्ठान कमल का सदा ध्यान करता है उसको ध्यान में देवांगनायें कामार्त होकर वरण करने आती हैं अथवा कामिनी सुन्दरियां मोहित होकर उसको भजती हैं। इसके अतिरिक्त इस चक्र का नित्य ध्यान करने वाले योगी को नाना प्रकार के अश्रुत शास्त्रों का ज्ञान होता है जिसको यह निशंक निश्चयपूर्वक कह सकता है। वह सब रोगों से सर्वथा मुक्त होकर निर्भय यथेच्छ लोगों में विचरता है। सर्व भक्षक काल का भय तो सभी को होता है, परन्तु स्वाधिष्ठान चक्र में ध्यान करने वाला योगी उस काल का भी भक्षण कर जाता है क्योंकि उसे अणिमादि अष्ट परमा सिद्धियों की प्राप्ति हो जाती है। मन, प्राण तथा बिन्दु के जय से योगी का शरीर सुदृढ़ हो जाता है। सहस्रार से सुधारस का क्षरण होता है, जिसके पान करने से शरीर प्लावित रहता है। सुतरां उस योगी की इच्छा बिना प्राण शरीर को नहीं त्याग सकता। इस प्रकार वह योगी अमर हो जाता है।

मणिपूर चक्र के ज्ञान ध्यान का फल

तृतीयं पंकजं नाभौ मणिपूरक संज्ञकम् ।
दशारं डादि फान्तार्णैः शोभितं हेमवर्णकम् ॥१११॥

रुद्राख्यो तत्र सिद्धोऽस्ति सर्व मंगलदायकः ।
तत्रस्था लाकिनी नाम्नी देवी परम धार्मिका ॥११२॥

अब नाभि स्थान में स्थित मणिपूर चक्र का वर्णन किया जाता है। यह मणिपूर कमल दश दल का है। इसके दलों पर क्रमशः ड. ढ. ण. त. थ. द. ध न. प. फ. वर्णाक्षर सुशोभित हैं। इसका वर्ण स्वर्ण के समान पीला है। इस कमल में सर्व मंगल प्रदाता रुद्र नाम के सिद्ध देव और परम धार्मिक लाकिनी नाम की शक्ति देवी प्रतिष्ठित हैं। यहां के अधिपति पूर्व कथित षट्-शिव में से तृतीय रुद्रदेव हैं। यह स्थान स्वर्लोक कहलाता है तथा रक्तवर्ण त्रिकोणाकार अग्नितत्त्व का है। इसका बीज 'रं' है। यहां के रक्षक त्रिपाद हुताशन अग्निदेव हैं।

तस्मिन्ध्यानं सदा योगी करोति मणिपूरके ।
तस्य पाताल सिद्धि स्यान्निरन्तर सुखावहा ॥११३॥

ईप्सितञ्च भवेल्लोके दुःख रोग विनाशनम् ।
परकाय प्रवेशोऽपि काल वञ्चनमेव च ॥११४॥

जाम्बुनदादि करणं सिद्धानां दर्शनं भवेत् ।
औषधि दर्शनञ्चापि निधिनां दर्शनं भवेत् ॥११५॥

जो योगी मणिपूर चक्र में इन सब देवताओं का सर्वदा ध्यान करता है उनको निरन्तर सुखदाई पाताल सिद्धि होती हैं जिससे भूगर्भ में छिपी हुई समस्त वस्तुओं का ज्ञान होता है। और पाताल गमन की शक्ति होती हैं और इस लोक में भी योगी मनोवांछित फल पाता है एवं परकाय प्रवेश की भी शक्ति होती

है। वह योगी काल को भी अतिक्रम कर जाता है और किसी भी धातु को वह स्वर्ण कर सकता है। उनको सिद्धों के दर्शन होते हैं तथा पृथ्वी पर की अन्दर बाहर की समस्त दिव्य औषधियों का ज्ञान होता है। जो औषधियां या धन भूगर्भ धरातल में निहित हैं उनको वह योगी देख सकता है।

अनाहत चक्र के ज्ञान ध्यान का फल

हृदये अनाहतं नाम चतुर्थं पंकजं भवेत्।
कादिठान्तार्ण संस्थानं द्वादशच्छद शोभितम् ॥११६॥
अतिशोणं वायु बीजं प्रसाद स्थानमीरितम्।
पद्मस्थं तत्परं तेजो बाणलिगं प्रकीर्त्तितम् ॥११७॥
तस्य स्मर्ण मात्रेण दृष्टादृष्ट फलं लभेत्।
सिद्ध पिनाकी यत्रास्ते काकिनी यत्र देवता ॥११८॥

हृदय में अनाहत नाम का चतुर्थ कमल है। यह बारह दल का है और अतीव रक्तवर्ण है। इस के दलों पर क्रमशः 'क' से लेकर 'ठ' तक (क. ख. ग. घ. ङ. च. छ. ज. झ. ञ. ट. ठ) बारह वर्ण संस्थित हैं। जो परमतेज रूप प्रकाश से शोभायमान हैं। यह हृदय कमल ही आत्मदेव के निवास का एवं सभी की परम प्रसन्नता का स्थान कहलाता है। जैसे मूलाधार में स्वयंभूलिंग स्थित है वैसे ही इस कमल में परमतेजोमय ज्योति स्वरूप बाणलिंग प्रतिष्ठित है जिसका स्मरण करने मात्र से दृष्टादृष्ट समस्त विषयों के ज्ञान का फल मिलता है। यहां पर पिनाकी नाम के सिद्ध देव और काकिनी नाम की देवी शक्ति का निवास है। यहां के अधिपति देव साक्षात् ईश्वर हैं। यह महर्लोक का

स्थान षट्कोणाकार, मेघ समान नील वर्ण वायु तत्त्व का है। इसका बीज 'यं' है। यहां के रक्षक देवता प्राण वायु हैं।

अस्मिन्सततं ध्यानं वै हृत्पाथोजे करोति यः।
क्षुभ्यन्ते तस्य कान्तावै कामार्त्ता दिव्ययोषितः ॥११९॥

ज्ञानञ्चाप्रतिमं तस्य त्रिकाल विषयं भवेत्।
दूर श्रुतिर्दूर दृष्टिः स्वेच्छया खगतां व्रजेत् ॥१२०॥

सिद्धानां दर्शनञ्चापि योगिनी दर्शनं तथा।
भवेत् खेचर सिद्धिश्च खेचराणां जयस्तथा ॥१२१॥

इस प्रकार जो योगी हृदय पद्म में सतत ध्यान करता है उसके लिये देवताओं की स्त्रियां भी कामार्त होकर व्यथित होती हैं एवं उस योगी को वरना चाहती हैं। उस योगी को भूत, भविष्य, वर्तमान त्रिकाल का अप्रतिभ ज्ञान होता है तथा दूर का सुनने व देखने की क्षमता आ जाती है। वह स्वेच्छानुसार आकाश गमन करने का सामर्थ्य लाभ करता है तथा उसे आकाशगामी सिद्ध व योगिनियों के दर्शन होते हैं। आकाश गमन का सामर्थ्य होने से वह देवगणों को जय करता है अतएव हृदय कमल में स्थित द्वितीय परं ज्योतिर्मय वाणलिंग का नित्य ध्यान करने वाले योगी को इस प्रकार खेचरी एवं भूचरी सिद्धि होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं है। इस हृदय कमल के ज्ञान ध्यान का वर्णन एवं महात्म्य कहा नहीं जा सकता क्योंकि जहां साक्षात् ईश्वर विराजमान हैं वहां की दिव्य विभूति एवं ऐश्वर्य का वर्णन कोई नहीं कर सकता। इसीलिए ब्रह्मादि सकल देवता भी इसको गुप्त रखते हैं।

विशुद्ध चक्र के ज्ञान ध्यान का फल

कण्ठस्थान स्थितं पद्मं विशुद्धं नाम पंकजम् ।
धूम्रवर्णं स्वरोपेतं षोडशच्छद शोभितम् ॥१२४॥
छगलाण्डोऽस्ति सिद्धोऽत्र शाकिनी चाधिदेवता ।
ध्यानं करोति यो नित्यं स योगीश्वर पण्डितः ॥१२५॥
किंतस्य योगीनोऽन्यत्र विशुद्धाख्ये सरोरुहे ।
चतुर्वेदा विभासन्ते सरहस्या निधेरिव ॥१२६॥

कण्ठ स्थान में विशुद्ध नामक पंचम पद्म अवस्थित है। यह विशुद्ध चक्र नामक कमल सोलह दल का है। धूम्र वर्ण है। इसके प्रत्येक दल पर क्रमशः सोलह स्वर (अ. आ. इ. ई. उ. ऊ. ऋ. ॠ. ऌ. ॡ. ए. ऐ. ओ. औ. अं अः.) एक दल पर एक अक्षर के हिसाब से सुशोभित हैं। यहां छगलाण्ड नामक सिद्ध देव और शाकिनी नाम की देवी शक्ति विराजमान् हैं। यहां के परम अधिपति देव सदाशिव हैं। यही स्थान जनलोक, आकाश तत्त्व का है। यह मण्डलाकार तथा अनेक वर्ण का है। इसका बीज 'हं' है। जो साधक योगी नित्य इसका ध्यान करता है वही पंडित्त है, वही योगीश्वर है उसको विशुद्ध कमल का ध्यान करने मात्र से चारों वेदों का रहस्यमय ज्ञान भासने लगता है।

श्री महेश्वर विशुद्ध चक्र के ध्यान की महानता को कहते हैं कि कण्ठ चक्र के ध्यान परायण योगी एकान्त मन से जब कभी क्रोधित हो जाता है तो उनके क्रोध के भय से त्रैलोक्य कांप जाता है इसमें सन्देह नहीं। यदि इस स्थान में दैवात् जिस योगी का मन लय होकर समाधिस्थ होता है तो वह बाह्य व्यापार

को भूल के निश्चय अन्तर आत्मा की परमशान्ति में रमण करता है और यदि विशुद्ध चक्र में योगी निरन्तर समाधिस्थ होकर लय रहे तो हजार वर्ष पर्यन्त भी उसकी शारीरिक शक्ति का क्षय नहीं होता वरन् उसका शरीर बज्र से भी कठिन हो जाता है और जब कभी वह समाधि से उठता होता है तब यहां के हजार वर्ष व्यतीत होने पर भी योगी को क्षण मात्र काल व्यतीत हुआ प्रतीत होता है।

आज्ञा चक्र के ज्ञान ध्यान का फल

आज्ञा पद्मं भ्रुवोर्मध्ये हक्षोतेतं द्विपत्रकम् ।
शुक्लाभं तन्महाकालः सिद्धोदेव्यात्र हाकिनी ॥१३१॥

शरच्चन्द्र निभं तत्राक्षर बीजं विजृम्भितम् ।
पुमान्परमहंसोऽयं यज्ज्ञात्वा नावसीदति ॥१३२॥

यह षष्ठ आज्ञाचक्र है जो दोनों भ्रू के मध्य में स्थित है आज्ञा पद्म दो दल का है और शुक्ल वर्ण शुभ्र ज्योतिर्मय है। इसके दोनों दलों पर दो अक्षर ह. क्ष. परं तेज रूप से शोभायमान हैं। यहां महाकाल नाम के सिद्धदेव और हाकिनी देवी नाम की शक्ति विराजमान है, शरच्चन्द्र समान देदीप्यमान बीजाक्षर 'ॐ' यहां प्रकाशित हो रहा है। इस कमल का शेष ज्ञान जान लेने से ध्यानी परमहंस योगी को और कुछ विशेष जानना नहीं रहता। वह कृतार्थ हो जाता है। यह स्थान तपलोक मनस्तत्त्व का है। यहां ही मन रहता है। यहाँ के अधिपति देवता षट्शिव में से छटे परशिव हैं। यहां का वर्ण शुक्ल बीजाक्षर 'ॐ' तथा रक्षक मन है।

एतदेव परं तेजः सर्व तन्त्रेषु गोपितम् ।
चिन्तयित्वा परां सिद्धिं लभते नात्र संशयः ॥१३३॥

तुरीयं तृतीयं लिङ्गं तदाहं मुक्तिदायकः ।
ध्यान मात्रेण योगीन्द्रो मत्समोभवति ध्रुवम् ॥१३४॥

आज्ञा चक्र स्थित परम तेजोमय महामन्त्र 'ॐ' सर्व शास्त्रो में गोपनीय है। इसका ध्यान करने से परं सिद्धि ज्ञान लाभ निस्सन्देह होता है। अतएव अब श्री महेश्वर षट्चक्र के परम श्रेष्ठ और चरम निःशेष ज्ञान के फल को कहते हैं कि जिस समय मूलाधार स्थित स्वयंभूलिंग, हृदय कमल में स्थित बाण-लिंग एवं आज्ञा चक्र में स्थित तृतीय इतरलिंग, इन तीनों धाम का ध्यान करके मन, प्राण के जय से ब्रह्मग्रंथी, विष्णुग्रन्थीं, रुद्रग्रन्थी (तीन गुणों की तीन ग्रन्थियों) का भेदन करके योगी षट्चक्र का भेदन करता हुआ समाधि द्वारा चतुर्थ धाम ब्रह्म-रन्ध्र में पर्यवसित होता है तब उस समय ही मैं योगी को मुक्ति प्रदान करता हूँ। फलस्वरूप इस आज्ञाचक्र का ध्यान करने वाला योगेन्द्र निश्चय ही मेरे समान सर्व ऐश्वर्य सम्पन्न शिवरूप हो जाता है।

योग शास्त्र में इड़ा और पिंगला नाड़ी वरुणा और असी के नाम से भी प्रसिद्ध हैं इन दोनों के मध्य स्थान को वाराणसी काशी क्षेत्र भी कहते हैं जहां साक्षात् काशी विश्वनाथ शिव विराजमान हैं। इसलिए इस आज्ञाचक्र के स्थान को तत्त्वदर्शी योगीऋषि मुनियों ने शास्त्र में तीर्थ रूप में नाना प्रकार से वर्णन किया है, क्योंकि आज्ञाचक्र में ही श्री महेश्वर का नित्य

निरन्तर निवास है। त्रिकालदर्शी योगियों का कथन है कि आज्ञाचक्र के ऊर्ध्व भाग में बिन्दुपीठ, नादपीठ और शक्ति पीठ हैं। ललाटस्थ आज्ञाबिन्द के यह तीन महापीठ साधक योगी की सभी कामना पूर्ण करते हैं। यही आज्ञाचक्र पूर्व कथित त्रिवेणी (इड़ा-पिंगला-सुषुम्ना अथवा गंगा-यमुना-सरस्वती का संगम स्थान) प्रयागराज तीर्थ है। यहां के ज्ञान ध्यान के अनुभवों का वर्णन करना सहज एवं संभव भी नहीं है। इसलिए जो कुछ पूर्व कहा गया है और जो कुछ फिर कहा जा सकता है तथा जितने भी भौतिक तथा आध्यात्मिक तत्त्व हैं उन सब की अवधि आज्ञाचक्र में होती है।

मेरुदण्ड मध्य स्थित सुषुम्ना विवर में स्थित षट्चक्र में ही तीन ग्रन्थियों का वर्णन है। नाभी में ब्रह्मग्रन्थी, हृदय में विष्णु ग्रन्थी एवं भ्रूमध्य प्रदेशस्थ आज्ञाचक्र में रुद्रग्रन्थी है। तीनों गुणों की ये तीन ग्रन्थियां दुर्भेद्य कही हैं। परन्तु कुण्डलिनी शक्ति को मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र में ले जाने के लिए योगसाधन प्राणायाम द्वारा अथवा धारणा, ध्यान, समाधि करके तीनों ग्रन्थियों का क्रमशः भेदन करना होता है। कुम्भक प्राणायाम करके मूलाधार में मन प्राण को रोककर वहां स्थित स्वयभूलिंग का ध्यान करने से ब्रह्मग्रन्थी का भेदन होता है इस प्रकार हृदय कमल में मन प्राण का निरोध करके तत्रस्थ वाणलिंग का ध्यान करने से विष्णु ग्रन्थी का भेदन होता है तथा भ्रूमध्यस्थ आज्ञाचक्र में मन प्राण का लय करके वहां ज्योतिर्मय इतर-लिंग का ध्यान करने से रुद्र ग्रन्थी का भेदन होता है। इस प्रकार इन तीनों ग्रन्थियों का भेदन होने से योगी अनायास ही

कुण्डलिनी महाशक्ति को सहस्रार ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचा सकता है और उसका योगाभ्यास सदा के लिए सफल और समाप्त हो जाता है। यही सहस्रार तुरीय स्थान, कैलाश धाम या गुरुस्थान है। इसी को वैकुण्ठ धाम, विष्णु का परम पद एवं नित्यधाम कहते हैं। यही परमधाम, आनन्दधाम या कैवल्यपद है। इसी को शास्त्रों में प्रकृति-पुरुष, शिवशक्ति का स्थान परमव्योम कहा है और यही शून्य शिखर दशमद्वार या निर्वाणप्रद मोक्षधाम है, इसका अपने शरीर में ही अनुभव करने वाला पुरुष निस्सन्देह जीवनमुक्त ज्ञानी होता है।

सहस्रार के ज्ञान ध्यान का फल

अतउर्ध्वं तालुमूले सहस्रारं सुशोभनम् ॥
अस्ति यत्र सुषुम्नाया मूलं सविवरं स्थितम् ॥१६१॥
तालुमूले सुषुम्ना सा अधोवक्त्रा प्रवर्त्तते।
मूलाधारेण योन्याता सर्वा नाडी समाश्रिताः ॥
ताबीज भूतास्तत्त्वस्य ब्रह्म मार्ग प्रदायिका ॥१६२॥

ऊपर कहे हुए आज्ञा चक्र के ऊपरी भाग तालुमूल में सप्तम पद्म सहस्रार सुशोभायमान है। यहीं पर सुषुम्ना का भी ऊपरी विवर ब्रह्मरन्ध्र समाप्त होता है। सुषुम्ना नाड़ी तालुमूल से अधोमुख होकर मूलाधार पर्यन्त गई है अथवा मूलाधार से ही तालुमूल पर्यन्त ऊर्ध्वमुख आई है। मूलाधार में स्थित सुषुम्ना का प्रथम विवर मुख्य द्वार निद्रित कुण्डलिनी महाशक्ति द्वारा अवरुद्ध है परन्तु ऊपर तालुमूलस्थ द्वार ब्रह्मरन्ध्र खुला है। यह सुषुम्ना ही शरीरस्थ मूलाधार स्थित सब नाड़ियों का

आश्रय एव ब्रह्माण्ड के ज्ञान का बीज रूप है। इसी में सारा ब्रह्माण्ड विद्यमान है। यह सुषुम्ना ही मूलाधार से सहस्रार पर्यन्त अध्यात्म तत्त्व की प्रकाशक एवं ब्रह्म मार्ग प्रदायक है।

तालुमूले च यत्पद्मं सहस्रारं पुरोदितम् ।
तत्कंदे योनिरेकास्ति पश्चिमाभिमुखो मता ॥१६३॥

तस्यामध्ये सुषुम्नाया मूलं सविवरं स्थितम् ।
ब्रह्मरन्ध्रं तदेवोक्त मा मूलाधार पंकजम् ॥१६४॥

तद्रन्ध्रे तु तच्छक्तिः सुषुम्ना कुण्डली सदा ।
सुषुम्नायां सदाशक्ति श्चित्रास्यन्मम बल्लभे ।
तस्यां मम मते कार्या ब्रह्मरन्ध्रादि कल्पना ॥१६५॥

तालुमूल में जो देदीप्यमान सहस्रदल कमल कहा है उसमें भी मूलाधार की तरह कन्द में पश्चिमाभिमुखी एक योनि-मण्डल है उस योनि-मण्डल में सुषुम्ना का मूल ब्रह्मविवर है यही ब्रह्मरन्ध्र कहा गया है जो मूलाधार कमल से सुषुम्ना में तालुमूल पर्यन्त आ करके शेष होता है, यही सुषुम्ना में संस्थित विवर ब्रह्मरन्ध्र में ही सुषुम्ना के मुखद्वार पर मूलाधार में कुण्डलिनी शक्ति सदा स्थित है। वह निद्रित शक्ति प्राणायाम द्वारा षट्चक्र का भेदन होने से जाग्रत होकर ब्रह्मरध्र में सीधी होकर सीधी सहस्रार में शिव के साथ मिलती है। तभी मुक्ति होती है। इसलिए श्री महेश्वर षट्चक्र के विषय में अपना निश्चित अभिप्राय कहते हैं कि मूलाधार से तालुमूल पर्यन्त मेरु-दण्ड में सुषुम्ना नाड़ी है। उसका विवर ब्रह्मरन्ध्र कहलाता है।

उस रन्ध्र में सूक्ष्म वज्रा नाड़ी है। बज्रा नाड़ी के मध्य में भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म शक्ति रूपा चित्रा है। उस चित्रा नाड़ी में ही सूक्ष्मतम यह मनोहर षट्चक्र हैं, जो महान दिव्य प्रकाश वाले और बृहत् ब्रह्माण्ड के प्रदर्शक हैं। अतएव मेरे मत से सुषुम्ना में बज्रा नाड़ी, बज्रा के मध्य चित्रिणी नाड़ी में ब्रह्मरन्ध्र और षट्चक्र की कल्पना करनी चाहिए।

अतऊर्ध्वं दिव्यरूपं सहस्रारं सरोरुहम्।
ब्रह्माण्डाख्यस्य देहस्य वाह्ये तिष्ठति मुक्तिदम् ॥१६८॥

कैलाशोनाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति।
नकुलाख्यो विलासी च क्षय वृद्धिः विवर्जितः ॥१६९॥

यस्य स्मरेण मात्रेण ब्रह्मज्ञत्वं प्रजायते।
पापक्षयश्चभवती न भूयः पुरुषो भवेत् ॥१६६॥

अब सर्वोपरि मूर्धा स्थित सहस्रार में विद्यमान सहस्र दल कमल कहा जाता है, जो कि बाह्य ब्रह्माण्ड रूपी इस शरीर में यहां ही प्रत्यक्ष जीवनमुक्ति देने वाला स्थान है जो कैलाश नाम से प्रसिद्ध है और जहां भोग, ऐश्वर्य, मुक्ति प्रदाता साक्षात् स्वयं श्री महेश्वर विराजमान हैं। यह स्थान मूलाधारस्थ भूलोक से सप्तम सत्यलोक कहलाता है जहां पहुँचने पर पुनः कभी आवागमन नहीं होता यह वेद का कथन है। यहां पर नित्य विलासी, क्षय वृद्धि रहित, सदा आनन्द स्वरूप नकुल नामक सिद्धदेव महेश्वर एवं सर्व कामनाओं के फल को देने वाली महादेवी याकिनी नाम की शक्ति प्रतिष्ठित है। इस सप्तम पद्म में परं तेजोमय

देदीप्यमान दिव्य ज्योति स्वरूप सहस्रदल कमल पर देवाधिदेव महादेव परं गुरु विराजमान हैं। यह स्थान गुरुतत्त्व का है जो अमृतमय चन्द्राभा सुधारस सरोवर के आनन्द सागर से परिपूर्ण है। "नास्ति तत्त्वं गुरोपरम्' गुरु तत्त्व से परे और तत्त्व नहीं है। इसलिए यहां का तथा यहां से परे का कोई विशेष वर्णन नहीं हो सकता अतएव सुषुम्ना विवरस्थ ब्रह्मरन्ध्र में स्थित सहस्रार में सहस्र दल कमल में गुरुतत्त्व का ध्यान करने से, स्मरण मात्र से ब्रह्मज्ञान हो जाता है और पाप क्षय हो जाने से ध्यानी पुरुष का फिर जन्म नहीं होता।

ब्रह्मरन्ध्रे मनोदत्त्वा क्षणार्धं यदि तिष्ठति।
सर्वं पाप विनिर्मुक्तः सयाति परमां गतिम् ॥१८४॥

यस्मिन् लीनं मनोयस्य सयोगी मयि लीयते।
अणिमादि गुणान् भुक्त्वा स्वेच्छया पुरुषोत्तमः ॥१८५॥

यदि कोई योगी मनोयोग करके ब्रह्मरन्ध्र में क्षणमात्र भी स्थित होता है, वह सर्व पापों से विनिर्मुक्त होकर मुक्ति लाभ करता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है जिस योगी का मन यहां सहस्रार में लीन होता है वह मुझ शिव में लय हो जाता है और वही श्रेष्ठ पुरुष स्वेच्छापूर्वक अणिमादि गुण महान ऐश्वर्य का भोक्ता होकर रहता है। वही कृतार्थ होता है इन षट्चक्रों के विषय में योगशास्त्रों में नाना प्रकार से वर्णन मिलता है। इन सातों चक्रों के अतिरिक्त मनचक्र, बुद्धिचक्र इत्यादि अन्य चक्रों का भी वर्णन मिलता है; तथापि योगशास्त्र के सर्वोत्तम ग्रन्थ शिव संहिता से षट्चक्र विज्ञान का यह आवश्यक विषय

लिखा गया है। इस विषय में परमहंस योगी पूर्णानन्द गिरी कृत संस्कृत भाषा में "षट्चक्र निरूपण" भी प्राचीन एवं अति उत्तम ग्रन्थ है।

षोडशाधार

सम्मोहन तंत्र तथा योग स्वरोदय

मूलाधारः स्वाधिष्ठानं मणिपूर मनाहतम् ।
विशुद्धमाज्ञा चक्रञ्च बिन्दुर्भूयः कलापदम् ॥१॥
निबोधिका तथार्द्धेन्दु नादो नादान्त एव च ।
उन्मनी विष्णु वक्त्रञ्च ध्रुव मण्डलिका शिवः ॥२॥
इत्येतत् षोडशाधारं कथितं योगी दुर्लभम् ॥३॥

योगशास्त्र में शक्तियों के केन्द्र स्थान को आधार कहा है क्योंकि बिना आधार के शक्ति नहीं रहती। यह शक्तियां शरीर में विद्युत रूप से प्राणकला के आश्रय से नाना प्रकार से विभिन्न रूप से कार्य करती हैं। इनके कार्य स्वभावत: शरीर, मन, प्राण की आवश्यकतानुसार सम्पादन होते हैं। परन्तु योग साधना से इनको भिन्न २ स्थान से कार्य विशेष के लिये एकत्र किया जा सकता है और इच्छानुसार इनसे आध्यात्मिक और भौतिक काम लिया जा सकता है। इस प्रकार काम लेने के लिए धारणा, ध्यान, समाधि तीनों को एकत्रित करके आधार शक्तियों का साक्षात्कार किया जाता है। इस क्रिया का नाम 'संयम' कहाता है। संयम की सिद्धि के लिए योगशास्त्र में प्रथम धारणा कही है। धारणा के लिये यह सोलह आधार देश बताये हैं। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध तथा आज्ञा चक्र,

बिन्दु, कला, पद, निब्रोधिका, अर्द्धेन्दु, नाद एवं नादान्त, उन्मनी, विष्णुवक्त्र, ध्रुवमण्डल तथा शिव यह सोलह अति सूक्ष्म आधार स्थान हैं कि जहां पर अति आश्चर्यजनक और परम शान्ति-दायक प्रत्यक्ष कार्य करने वालीं अलौकिक अद्भुत शक्तियां हैं इस प्रकार इन षोडशाधार के ज्ञान को कराने वाले और कहने वाले योगी दुर्लभ हैं।

यह आधार स्थान समाधि योग में परम ज्ञान लाभ करने के लिए सूक्ष्मातिसूक्ष्म और महान से महान शक्ति के केन्द्र अथवा भण्डार हैं। इनका उपयोग केवल समाधि के साधन में और आत्मज्ञान के लिए ही योगसाधन की अवधि एवं विज्ञान की पराकाष्ठा का अन्त है। योगशास्त्र में यह सोलह आधार स्थित शक्ति समूह का एकीकरण परशिव में होता है। परशिव में शक्ति का प्रवेश ही योगसाधन की शेष सीमा है। इसको अध्यात्मज्ञान में परिणित करने के लिए सूक्ष्म मन, प्राण की क्रियायें की जाती हैं। मन-प्राण का रोध जय किये बिना इन आधारों के तत्त्व जाने नहीं जाते। इनको जानने के लिए योग की सिद्धि प्राण का जय और षट्चक्र का वेध होना आवश्यक है। प्राण के जय के लिए स्थूल आधारों की योग क्रियायें करनी चाहिए कि जिससे इनका बोध होता है।

बिन्दुर्ललाट देशञ्च तदुर्ध्वे बोधिनीस्वयम्।
तदुर्ध्वे भाति नादोऽसावर्ध चन्द्राकृतिः परः ॥४॥

तदुर्ध्वे च महानादो लाङ्गलाकृतिरूज्वलः।
तदुर्ध्वे च कलाप्रोक्ता अञ्जोति योगी वल्लभा ॥
उन्मनी तु तदुर्ध्वे च यद् गत्वा न निवर्तते ॥५॥

आधार स्थान के ललाट देश में बिन्दु है और उसके ऊपर साक्षात बोधनी शक्ति है। उसके ऊपर नाद शोभायमान है जो अर्द्धचन्द्राकार है और उसके ऊपर उज्ज्वल महानाद है जो लाङ्गलाकृति भासता है। उसके भी ऊपर आञ्जी नाम की कला कही है जो योगियों को अतीव प्रिय है और उसके ऊपर उन्मनी अवस्था है जहां पहुँचने से फिर आवागमन नहीं होता। योगशास्त्र में प्राणायाम द्वारा प्राण का निरोध करके प्रत्येक आधार में मन प्राण की गति का रोध करके धारण करना कहा है।

शारदा तिलक तंत्र द्वादश पटल

आधार देशेऽधिष्ठाने नाभौ पश्चादनाहते।

कण्ठदेशे भ्रूवोर्मध्ये बिन्दौ भूयः कलापदे ॥१२१॥

निरोधिकायामर्द्धेन्दौ नाद नादान्तयोः पुनः।

उन्मन्यां विष्णुवक्त्रे च ध्रुव मण्डलक् शिवे ॥१२२॥

ऊपर कहे हुए स्थानों में जो शक्ति के भण्डार हैं कि जहां पर नाना प्रकार की शक्तियां और आध्यात्मिक तत्त्व हैं उनको जानने आयत्व = एकत्र करके उपयोग में लेने के लिए साधकों को धारणा की योग्यता होनी चाहिए। "देशबन्ध चित्तस्य धारणा" मन को एकाग्र करके किसी एक स्थान में चित्त को बांधने का नाम धारणा है। जिन स्थानों में मन प्राण को रोका बांधा जा सकता है उनमें प्रथम स्थान मूलाधार है। आधार स्थान से आरम्भ करके क्रमशः स्वाधिष्ठान, नाभि स्थित मणिपूर हृदयस्थ अनाहत चक्र, कण्ठ देश में विशुद्ध चक्र में होते हुए

भ्रूमध्य आज्ञा चक्र में मन-प्राण को लाकर इनसे ऊपर बिन्दु, कलापद, निरोधिका, अर्धेन्दु, नाद और नादान्त में मन-प्राण का निरोध करना चाहिये। इसी तरह उत्तरोत्तर पुनः उन्मनी, विष्णुवक्त्र, ध्रुवमण्डल में होते हुए शिव में मन-प्राण का लय करना चाहिए। इसका नाम षट्चक्र वेध है कि जिससे समाधि होकर तत्त्वज्ञान होता है।

इन सूक्ष्म सोलह आधारों का कार्य-कारण भेद से योग-शास्त्र में नाना प्रकार से वर्णन हो चुका है इसलिए यहां उनकी उस रूप में व्याख्या निष्प्रयोजन एवं अनावश्यक है क्योंकि इनका साधन गुरुद्वारा और ज्ञान समाधि से ही होता है।

गौतमीय तंत्र

अंगुष्ठ गुल्फ जानूरु सीवनी लिङ्ग नाभिषु।
हृद् ग्रीवा कण्ठ देशेषु लम्बिकायां ततोरनसि ॥१॥
भ्रूमध्ये मस्तके मूर्ध्नि द्वादशान्तेयथाविधि।
धारणं प्राण मारुतो धारणेति निगद्यते ॥२॥

श्री महेश्वर सूक्ष्म षोडशाधार को कहकर अब स्थूल षोडशाधार के भेद को तथा फल सहित उनके साधन का वर्णन करते हैं कि जिस से शरीर में आधार स्थित शक्ति समूह का संचय किया जा सकता है और उससे कार्य की सिद्धि सत्वर होती है। पैर के अंगूठे, गुल्फ, जानु, उरू, सीवनी और लिङ्ग तथा नाभी, हृदय, ग्रीवा, कण्ठ और गलकम्बल, जिह्वामूल तथा नासिका, भ्रूमध्य एवं मस्तक तथा मस्तकोपरि भाग मूर्ध्नि, इन सब को योगशास्त्र में मर्म स्थान अथवा स्थूल

आधार कहा है कि जहां पर मन-प्राण का रोध करने से धारणा होती है क्योंकि यही स्थान शक्ति के केन्द्र हैं। इन प्रत्येक के आधार स्थान में विभिन्न प्रकार की शक्ति स्थित है जो योग साधन द्वारा प्राणवायु के रोध से इच्छानुसार जहां-तहां शरीर के किसी भी स्थान में एकत्र की जा सकती है जिसका फल भौतिक (शारीरिक) सिद्धि और आध्यात्मिक फल मानसिक सिद्धि होता है।

षोडशाधार साधन का भेद

योगस्वरोदय

षोडशाधार भेदन्तु शृणु देवि विशेषतः।
अंगुष्ठ पादयोस्तेजः सलक्ष स्थिर दृष्टिमान् ॥१॥
पादांगुष्ठे थ आधारः प्रथमो योग तत्त्वतः।
द्वितीयं पादमूलन्तु पादमूल पुरः सरौ ॥२॥
पादस्य पार्ष्णौ संस्थाप्य बलवान्प्रभवेन्मुनिः।
पादमूले अऽथवा पादांगुष्ठ मूलं विधारयेत् ॥३॥

प्रथम आधार पैर के अंगूठे हैं कि जहां पर शक्ति रूप से तेज स्थित है। उस तेज को लक्ष्य करके त्राटक द्वारा दोनों पैर के अंगूठों पर दृष्टि स्थिर करनी चाहिये। यह कार्य शवासन में सोकर किया जाता है अर्थात् प्रथम लम्बे होकर मृतवत् लेट के दोनों पैर के अंगूठों पर स्थिर दृष्टि से त्राटक करके मन को स्थिर करना योगतत्त्व का प्रथम आधार सोपान है। इसका अभ्यास यहां से ही आरम्भ किया जाता है। पश्चात् दूसरा

पाद मूल में है जिससे कि एड़ी दबाई जा सके। एक पैर गुदा के नीचे सीवनी के पास दूसरा पैर लिंग के ऊपर रखकर महाबन्ध आसान म बैठके अभ्यास करना है. इससे प्रथम आधार पैर के अंगूठे भी दबेंगे और दूसरे आधार पैर की एड़ी भी दबी रहेगी।

तृतीयन्तु गुदाधारो गुदसंकोचन क्रिया।
विकाशाकुञ्चनस्तस्य स्थिर वायौ च मृत्युजित् ।।४।।
लिङ्गाधारं चतुर्थन्तु लिंग संकोचनन्तुच।
लिङ्गसंकोचनाभ्यासात् पश्चिमादण्डमध्यगः ।।५।।
वज्रा नाडीति तन्मध्ये पुनरभ्यसन्तथा।
सञ्चारो वायु मनसो रतिं संचरति त्रिधा ।।६।।

फिर तीसरे आधार की क्रिया गुदा का संकोच और विकास है अर्थात् मलद्वार से अपान वायु को ऊपर की ओर खींचना एवं छोड़ना बारम्बार आकर्षण करना है। यह क्रिया महाबन्ध से लगे हुए मूलबन्ध से ही हो जाती है। इससे प्राणवायु भी स्थिर हो जाता है कि जिससे साधक मृत्यु को भी जीत लेता है। चौथा लिंगाधार है और इसकी क्रिया बज्रोली कहलाती है कि जिसमें बारम्बार लिंग का संकोच एवं विकास तथा आकर्षण किया जाता है। यह क्रिया महायोग साधन करने वाले साधकों को कई एक प्रकार से होती है और की भी जाती है जो बज्रोली, सहजोली एवं अमरोली के नाम-भेद से योगी लोग जानते हैं। इसकी सत्वर सिद्धि स्त्री संग (मैथुन) से भी होती है। इससे ही सुषुम्ना का मार्ग खुलता है। महाबंध के द्वारा मूल-

बन्ध से गुदा के संकोच विकास के अभ्यास के साथ ही साथ अपान वायु का आकर्षण करके, बज्रोली मुद्रा की क्रिया लिंग का संकोच तथा विकास नित्यप्रति करते रहने से गुदाचक्र मूलाधार तथा लिंग चक्र स्वाधिष्ठान का मार्ग सरल हो जाता है जिससे मेरुदण्ड सुषुम्ना के बीच में वज्रा नाड़ी में प्राण, मन तथा बिन्दु इन तीनों का संचरण होता है तब मन-प्राण का सुषुम्ना में लय होता है और बिन्दु स्वस्थान में भस्म होकर ओज हो जाता है।

ग्रन्थित्रय बिभेदस्तु तद्‌भेदो ब्रह्म मार्गतः।
ब्रह्मपद्मे वायुपूर्ण भूत्वा तिष्ठति योगिराट् ॥७॥

वीर्यस्तंभो भवेत्तेन साधयेन्तु सदायुवा।
मूलाधारे ब्रह्मपद्मे षट्पद्मे च यथातथा ॥८॥

इस प्रकार चतुर्थ लिंगाकार बज्रोली की क्रिया होने से अथवा करते रहने से मूलाधार, स्वाधिष्ठान और मणिपूर तीनों चक्र ग्रन्थी का भेदन हो जाता है। यह चक्र वेधन ब्रह्म मार्ग सुषुम्ना में प्राणवायु के निरोध से होता है। इससे साधक योगी को मूलाधार में प्राणवायु के रोकने की क्षमता आती है और वीर्य स्तंभन हो जाता है। स्त्री संभोग करते रहने पर भी बिन्दु का पतन नहीं होता और सर्वदा साधना करते रहने से साधक युवास्था को सी सामर्थ्यवाला एक सा बना रहता है। और मूलाधार तथा स्वाधिष्ठान में इच्छानुसार मन-प्राण को रोक सकता है।

पञ्चमं जठराधारं तदाबन्धयतिक्रमात् ।
मृत्युनाभंग सिद्धोऽयं मृत्युरेव क्षयं करः ॥६॥
अनेन पश्चिमादुर्ध्वं वायु कुर्यात्विशालधीः ।
बन्धोऽयं बुद्धि मनसोः पञ्चमाधार कालिजत् ॥१०॥
नाभ्याधारोभवेत्षष्ठस्तत्र प्राणं समभ्यसेत् ।
स्वयंमुत्पद्यते नादो नादतो मुक्तिदस्ततः ॥११॥

पञ्चम जठराधार है इसकी क्रिया महाबन्ध आसन में मूल बन्ध के साथ उड्यान बन्ध करना है। इसलिये बुद्धिमान् साधक को चाहिये कि क्रम से महाबन्ध, मूलबन्ध के साथ उड्यान बंध से पश्चिम मार्ग सुषुम्ना में प्राण को ऊपर करके रोके। यह पञ्चम आधार स्थान मृत्यु भंग के लिए सिद्ध माना गया है। यहां पर मनप्राण और बुद्धि बधते हैं जिससे निश्चय मृत्यु का क्षय होता है और आयु बढ़ती है एव साधक योगी काल को जींतता है। षष्ठ नाभी आधार है कि जहां पर प्राण के रोध से अपने आप नाद होने लगना है। इस नाद में मन-प्राण लय करने से यही नाद मुक्तिदायक हो जाता है।

सप्तमो हृदयाधार तस्मिन् वायु निबन्धनात् ।
ऊर्ध्व वक्त्राणि पद्मानि विकसन्ति महान् भवेत् ॥१२॥
कण्ठाधारोऽष्टमस्तत्र कण्ठ संकोच लक्षणः ।
जालन्धराख्यो बन्धस्यात्तस्मिन्सति मरुत्दृढः ॥१३॥
नवमो घन्टिकाधारस्तत्र जिह्वाग्रः मग्नतः ।
संपिवत्यमृतं तस्माद् योग विन्मृत्युजित्परः ॥१४॥

सप्तम हृदयाधार है, यहां पर प्राण वायु का रोध करने से आधार स्थित पद्म समूह ऊर्ध्वमुख होकर विकसित हो जाते हैं जिससे कि महानता आती है एवं साधक को अलौकिक ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है।

अष्टम कण्ठाधार है जिसकी क्रिया कण्ठ का संकोच करना जालन्धर बन्ध है। इसके सिद्ध होने से प्राण वायु दृढ़ता से रोका जा सकता है। नवम घन्टिका आधार है-जिसकी क्रिया खेचरी मुद्रा है। जिह्वा को उलटाकर तालु में काक के ऊपर लगाने से खेचरी मुद्रा होती है जिससे अमृत रस का पान होता है। इसलिये अमृत का पान करते रहने से इस योग को जाननें वाला योगी मृत्यु को जीत लेता है अर्थात् खेचरी सिद्ध योगीं इच्छानुसार जीवन धारण कर सकता है।

दशमस्तालु का धारस्तत्र जिह्वाग्रतः कृते।

चालने दोहने चैव जिह्वा तालु विलम्बिता ॥१५॥

नासिका प्राप्त जिह्वेयं तालु लग्नाभवेत्ततः।

दशम आधार तालु मूल कहलाता है यहां पर घंटिका से ऊपर जिह्वा का अग्रभाग तालुमूल में लगाने से अमृतपान होता है। अमृत पान के लिए खेचरी मुद्रा की आवश्यकता होती है और खेचरी मुद्रा जिह्वा के बढ़ने से होती हैं। साधारणतया प्रायः साधकों की जीभ उलटाने से तालुमूल में नहीं लग सकती। तालुमूल में जिह्वा को पहुँचाने के लिये छेदन-चालन-दोहन और घर्षण इन चारों क्रियाओं से जिह्वा बढ़कर लम्बी होती है और तालुमूल में पहुँचाई जाती है।

छेदन = जीभ के नीचे की शिरा को काटना। चालान = जिह्वा को हाथ से खींचकर इधर उधर चलाना। घर्षण = जिह्वा के कटे हुए स्थान को, पुनः जुड़ न जाये इसलिये, सैंधव, हरीतकी खदिर आदि के चूर्ण से जिह्वा के नीचे की शिरा का भाग घिसना तथा दोहन = गौ दोहन की तरह जिह्वा को बढ़ाने के लिये दोहन करना। यह क्रिया हठयोग में खेचरी मुद्रा सिद्धि के लिये नित्यप्रति की जाती है। इसका विस्तार से वर्णन हठ-योग प्रदीपिका में है। परन्तु महायोग साधन में बिना छेदन-चालन-घर्षण और दोहन के स्वयं खेचरी मुद्रा साधको को हो जाती है। छेदनादि क्रियाओं से जीभ लम्बी होकर बाहर से नासाग्र के ऊपर पहुँचने से खेचरी मुद्रा होती है।

एकादशो भवेज्जिह्वा तालजाधार ईश्वरि।
जिह्वाग्रमथनेनस्मिन् पानीयं मधुरं भवेत् ॥१६॥

तत्पीतेषु कविर्गीति ज्योतिश्छन्दो विदांवरः।
दन्ताधारो द्वादशेति सर्व रोग क्षयं करः ॥१७॥

धारयेत् दन्तयोर्मध्ये जिह्वाग्रञ्चबलादपि।
धृत्वार्द्ध घटिकामात्रं सर्व रोगास्तु नाशयेत् ॥१८॥

जब जिह्वा के बढ़ने से खेचरी मुद्रा हो जाये जिस स्थान पर जिह्वा लगाने से अमृतपान होता है उसी स्थान का नाम एकादश तलजाधार-तालु है। इस एकादशाधार खेचरी की सिद्धि द्वारा जिह्वा से अमृतरस का पान करते रहने से योगी को कविता करने की, गाने की और शास्त्र रचना की शक्ति एवं उत्तम छन्द तथा ज्योतिष का ज्ञान हो जाता है। द्वादश दन्ता-

धार कहलाता है जो कि सब रोगों का नाश करने वाला है। उसकी क्रिया जिह्वा के अग्रभाग को राजदन्त में बलपूर्वक लगा के मन प्राण को रोकने से होती है। यहां पर मन प्राण को घटिका मात्र भी धारण किया जाये तो निश्चय ही सब प्रकार के रोगों का नाश हो जाता है।

नासाधार ततो ज्ञेयो नासालक्ष्यस्त्रोदशः।
मनः स्थिर करोयस्तु वायुस्थिर करो महान्॥
नासापुटे स्थिरादृष्टिराधारोऽयं चतुर्दशः॥१९॥
कृतेऽस्मिन् स्वीयतेजः स्यान्प्रत्यक्षं षट् त्रिमासतः।
पार्थिवं त्रुटतिक्षिप्रं प्रत्यक्षं स्वोय तेजसा॥२०॥

इसके बाद नासिका का अग्रभाग त्रयोदश ग्राधार जानना। इसकी क्रिया त्राटक करके दृष्टि की स्थिरता करना है। यह त्रयोदश नासाधर मन-प्राण को स्थिर करने वाला है। नासाग्र पर दृष्टि स्थिर हो जाने पर, नासापुट चतुर्दशाधार है। जब नासिका के अग्रभाग पर त्राटक करने का अभ्यास दृढ़ हो जाये तो फिर नासापुट (नाक का ऊपरी भाग) पर दृष्टि स्थिर करके मन प्राण को रोकने का ग्रभ्यास करना चाहिये। इस प्रकार दृढ़ता के साथ तीन या छः मास अभ्यास करते रहने से अपना निज सामर्थ्य प्रत्यक्ष होता है ग्रौर उससे पार्थिव बन्धन शीघ्र टूट जाता है तो शरीर, मन, प्राण की जड़ता का नाश होता है एवं ग्रपना ग्रात्म स्वरूप प्रत्यक्ष होता है।

पञ्चदश भ्रुवोर्मध्ये स्थिरदृष्टिस्तथा ध्रुवम् ।
अस्मिन् दृष्टिः स्थिरा कोटि किरणानि स्फुरन्तिहि ॥२१॥
नेत्राधारः षोडशोऽयमंगुल्यग्रेण चालयेत् ।
सर्वज्ञः प्रभवेत्तेन इति आधार षोडशः ॥
प्रत्यक्षं तद्भवेत्सर्वं तदभ्यासान्नसंशयः ॥२२॥

भ्रुवों का मध्य भाग पंचदश आधार कहलाता है। इसकी क्रिया शांभवी मुद्रा है । जब त्राटक के परिपक्व अभ्यास से मन एकाग्र हो जाये और नेत्र के तारे स्थिर होने लग जायें तब पञ्चदशाधार के स्थान दोनों भ्रुवों को लक्ष करके आंखों के तारे उलटा कर या ऊपर की ओर करके शांभवी मुद्रा द्वारा वहां मन प्राण की स्थिरता करने से निश्चय अन्तरात्मा के प्रकाश की कोटि कोटि किरणें स्फुरने लगती है और दिव्य महादिव्य परम सुखदायक आत्म ज्योतियों के दर्शन होते हैं। इसके बाद षोडश नेत्राधार है जिसकी क्रिया शांभवी मुद्रा के साथ षण्मुखी मुद्रा है। दोनों हाथों की अंगुलियों से नाक-कान-मुख और नेत्र को दबाकर बन्द करके कुम्भक प्राणायाम से मन प्राण को भ्रूमध्य आज्ञाचक्र में रोकने से षण्मुखी या योनि मुद्रा होती है। इसके दृढ़ अभ्यास के कारण प्रकाशित हुए आत्म प्रकाश से पृथ्वी गर्भ में छिपी हुई वस्तु सब प्रत्यक्ष दीखने लगती हैं। अन्तर्ज्योति के प्रकाश से दिव्य ब्रह्मज्ञान होता है । इस प्रकार षोडशाधार के अभ्यास करने वाले योगी को सभी कुछ प्रत्यक्ष हो जाता है और वह सर्वज्ञ हो जाता है । उसमें कोई सन्देह नहीं है।

त्रिलक्ष

प्राणतोषणि तंत्र द्वितीय काण्ड

आधारे हृत्प्रदेशे च भ्रुवोर्मध्ये विशेषतः ।
स्वयंभू बाण इतर स्त्रिलक्ष परिकीर्त्तितम् ॥१॥
लिंगत्रयमहेशानि प्रधान त्वेन चिन्तयेत् ।
स्वयंभूलिंग मूलाधारे बाणलिंग मनाहते ॥
इतर लिंगमाज्ञा चक्रे सर्व काम फलप्रदम् ॥२॥

अब श्री महेश्वर त्रिलक्ष्य कहते हैं कि जिसके लक्ष्य से योग का ऐश्वर्य परमशान्ति, ज्ञान, मुक्ति, स्थिति और सिद्धि होती है। आधार स्थान, हृद प्रदेश और विशेष करके भ्रूमध्य में स्वयंभू-बाण और इतर लिंग क्रमशः हैं। यही त्रिलक्ष कहलाता है इसलिये इन तीन स्थान पर प्रधानतः इन तीन लिंगों का ही चिन्तन ध्यान करना चाहिये। क्योंकि स्वयंभूलिंग मूलाधार में और बाणलिंग अनाहत चक्र में है तथा इतर लिंग आज्ञा चक्र में है इसका लक्ष्य करके ध्यान करने से सब कामनाओं की सिद्धि होती है।

साधन काल में साधकों को अन्तर में मन से जिस जिस स्थान से जहां जहां आना-जाना पड़ता है उस-उस स्थान पर ठहरना आवश्यक है। जब तक शरीर-मन-प्राण संगठित नहीं होते और इच्छानुसार मन-प्राण का लय होकर समाधि नहीं होती है, तब तक योगशास्त्र कथनानुसार देश स्थान विशेष में मन-प्राण का रोकना आवश्यक है क्योंकि शरीर-मन-प्राण के कार्य के विषय अति सूक्ष्म है। इसकी गतिविधि इच्छाधीन

करने के लिये ही सारे प्रयत्न हैं। जब तक शरीर स्थित भिन्न-भिन्न तत्वों को विभिन्न रूप से जाना न जाये तब तक श्री महेश्वर कथित यावतीय तत्त्वों का लक्ष्य बुद्धि में लेकर निराव-लम्बन अन्तराकाश में मन से ही आसन जमाना है। इसलिये प्रयत्न करके शरीर-मन-प्राण की अवस्थानुसार एक स्थान से दूसरे स्थान में लक्ष्य बांधना है। इसलिये जितनी धारणा के लक्ष्य पहिले कहे हैं और फिर कहे जाते हैं उन सब में ये त्रिलक्ष्य ही प्रधान हैं।

यह लक्ष्य स्थूल सूक्ष्म और पर तथा आदि मध्य और अन्त एवं बाह्य-अन्तर तथा अधः ऊर्ध्व के भेद से कई प्रकार के हैं। इन सबका कथन करना भी सहज नहीं है एवं समझना तो महाकठिन है। और इनका सभी के लिए होना भी दुर्लभ है। तथापि अपनी बुद्धि और ज्ञान से परम्परागत कहते सुनते तथा करते आये हुए आचार्यों के उपदेशानुसार यह बृहत् योग शास्त्र का कठिन से कठिन विषय जटिल एवं निगूढ़ ज्ञान, गुरु कृपा से प्राप्य, सहज से सहज तत्त्व संक्षेप से कहा जाता है। जिससे साधक समझ सकते हैं कि अध्यात्म जगत् की अलौकिक-अद्भुत आश्चर्यजनक महान रचना कितनी विचित्र और आनन्दप्रद परम सुख शान्तिदायक है।

इसलिए इस तथ्य को योगशास्त्र में नाना प्रकार से कहा गया है और अनेक उपमायें देकर बुद्धिगम्य कराने की चेष्टा की है कि जिसको स्थिर चित्त प्रौढ़ बुद्धि वाले प्रबल पुरुषार्थी साधक ही समझ सकते हैं। जो अस्थिर मन अपक्व बुद्धि वाले साधक इस विषय की धारण ही नहीं कर सकते उनके लिये

यह कथन है कि वे इसमें कोई शंका या चिन्ता न करें। जो बातें श्री महेश्वर कहते हैं वह सभी सत्य प्रत्यक्ष और प्राप्त करने योग्य है एवं साधना से प्राप्त होती है। अपने नित्यप्रति के दृढ़ अभ्यास से और गुरु कृपा से यह सभी विषय सहज साध्य और बोधगम्य शीघ्र होते हैं इसमें कोई संदेह नहीं है।

लक्ष्य योग आदि मध्य अन्तर्लक्ष्य

योगस्वरोदय

सुख साध्यं लक्ष्ययोग मिदानीं शृणु पार्वति।
पञ्चधालक्ष्य योगश्च ऊर्ध्व लक्ष्यादि भेदतः ॥१॥
ऊर्ध्व लक्ष्योऽधोलक्ष्यो वाह्य लक्ष्य तथैव च।
मध्यलक्ष्यस्तथा ज्ञेयोऽन्तरलक्ष्य तथैव च ॥
लक्षणं शृणु तेषांहि फलं ज्ञात्वा महेश्वरि ॥२॥

अब श्री महेश्वर परम शान्तिदायक एवं सुखसाध्य लक्ष्य योग के लक्षण, उसका साधन, उनका फल एवं उनके प्रकार का नाम सहित वर्णन करते हैं कि यह लक्ष्य योग, ऊर्ध्वलक्ष्य, अधोलक्ष्य, वाह्यलक्ष्य, मध्यलक्ष्य एवं अन्तर्लक्ष्य करके पांच प्रकार का है कि जिसकी सुखसाध्य क्रिया सहज साधना से मन सहज ही वशीभूत हो जाता है और अभीष्ट की सिद्धि सत्वर होती है।

आकाशे दृष्टि मास्थाय मन ऊर्ध्वन्तु कारयेद्।
उर्ध्व लक्ष्यो भवेदेष परमेशस्य चैकता ॥३॥
नासिकोपरि देवेशि द्वादशाङ्गुल मानतः।
दृष्टि स्थिरन्तु कर्त्तव्यमधोलक्ष्यमिदं भज ॥४॥

आकाश में दृष्टि लगाके मन को ऊपर करने से ऊर्ध्व लक्ष्य होता है कि जिससे परमेश्वर में चित्त की एकता होती है। दूसरा नासिका के ऊपर द्वादशांगुल प्रमाण प्रदेश में दृष्टि स्थिर करने से अधोलक्ष्य होता है।

अथवा नासिकाग्रेतु स्थिरादृष्टिरियं शृणु।
यस्यभवेत्थिरादृष्टि श्चिरायुः स्थिरदृष्टिमान् ॥५॥
वाह्य लक्ष्यं स्वयं ज्ञेय यालितस्व निवसिताम्।
कामिनान्तु बर्हिदृष्टिश्चिन्तादिषु सुसिद्धिदा ॥
एष वाह्य मध्य लक्ष्य इष्ट चिन्ता निराकुलम् ॥६॥

तीसरा नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर करनी चाहिये जिसकी वहां पर दृष्टि स्थिर हो जाती है वह दीर्घायुषि होता है। इसका ही नाम बाह्य लक्ष्य योग है। इस योग का गूढ़ रहस्य-साधक साधना करते रहने से स्वयं तत्वत: यथार्थ जान लेता है। इसलिये नाना प्रकार की कामनाओ से चिन्ताकुल चित्त वाले साधकों को यह बर्हिदृष्टि योग शीघ्र सिद्धिप्रद होता है। यह बाह्यमध्य लक्ष्य योग साधन करने वाले साधकों की सभी मनोकामना पूर्ण करके इष्ट चिन्ता से मुक्त करता है।

अन्तर्लक्ष्यं शृणु देवि दिग्विदिगादि वर्जितम्।
बाह्याभ्यान्तर आकाश बाधा मात्रं परं मतम् ॥७॥
चलज्जाग्रत्सुषुप्तेयु भोजनेषु च सर्वदा।
सर्वावस्थाषु देवेशि चित्त शून्य नियोजयेत् ॥
कर्ता कारयिता शून्यं मूर्तिमान् शून्य ईश्वरः ॥८॥

श्री महेश्वर अन्तर लक्ष्य को कहते हैं कि दिशा-विदिशा, इधर-उधर सब और से सर्व प्रकार के विषय व्यापार के संकल्प त्यागकर जहां तहां न देखकर बाहर भीतर परिपूर्ण शून्य आकाश मात्र में मन को लगाकर निर्विषय करना सब से परम श्रेष्ठ अन्तरलक्ष्य योग है, इसलिए चलते, फिरते, उठते, बैठते, खाते, पीते, जागते, सोते सर्वदा सभी अवस्था में मन को शून्य में लगाना चाहिये। क्योंकि कर्ता और कराने वाला भी शून्य ही है। यहां तक कि साक्षात् मूर्तिमान ईश्वर भी शून्य ही है।

हर्ष शोक घटस्थोऽयं जन्म मृत्यु लभेत्स्वयम् ।
घटस्थाचिन्त्ययोऽमूर्तिर्हत चिन्ता स्वरूप धृक् ॥९॥

विषयं विषवद्दुष्टं त्यक्ता ज्ञात्वातु मारूतम् ।
संज्ञाशून्य मनोभूत्वा पुण्य पापैर्नलिप्यते ॥१०॥

स्वभावतः देह में जो आत्मा है अचिन्त्यमूर्ति रहित निराकार शून्य रूप वाला है। वह शरीरस्थ आत्मा मन के विषय चिन्तवन युक्त होने से हर्ष शोक के कारण मानकर स्वयं जन्म-मरण के दुःख का भागी होता है। इसलिये जो पुरुष विषयों को विषवत् दुष्ट समझ के त्यागता है अपने स्वरूप को चिन्ता शून्य जानकर विषय वस्तु रहित संज्ञाशून्य मन करके रहता है वह पाप पुण्य से लिप्त नहीं होता।

बाह्यमाभयन्तर खंहि अन्तर्लक्ष्यमितिस्मृतम् ।
एतद्ध्यानात्सदा किञ्चित दुखं न स्यात् शिवोभवेत् ॥११
शून्यस्तु सच्चिदानन्दं निःशब्द ब्रह्म शब्दितम् ।
सशब्दं ज्ञेयमाकाशमितिभेदद्वयस्त्विह ॥१२

इस प्रकार बाह्य और अभ्यान्तर शून्य का ही ध्यान लक्ष्य करते रहना अन्तर लक्ष्य कहलाता है इसी प्रकार शून्य आकाश का ही सदा ध्यान करते रहने से कभी किसी प्रकार का किंचित् मात्र भी दुःख नहीं होता और साधक योगी साक्षात् शिवरूप हो जाता है। शून्य ही सच्चिदानन्द निशब्द ब्रह्म कहलाता है और शून्य आकाश को ही सशब्द ब्रह्म कहते हैं। इस प्रकार ब्रह्म के दो भेद हैं जो शून्य रूप कहलाते हैं।

इदानीं मध्य लक्ष्यन्तु कथयामिसिद्धि कारकम् ।
श्वेतं रक्तं तथा पीतं धूमाकारन्तु नीलभम् ॥१३॥
अग्नि ज्वाला समानाभं विद्युत्पुञ्ज समप्रभम् ।
आदित्य मण्डलाकारमथवाचन्द्रमण्डलम् ॥१४॥
ज्वलदंगार तुल्यं वा भावयेद्रुपमात्मनः ।
एतज्ज्योतिर्मयंदेहं मनोमध्येतु लक्ष्ययेत् ॥१५॥

अब श्री महेश्वर परमसिद्धि कारक मध्य लक्ष्य को कहते हैं। मेरुदण्ड मध्य स्थित सुषुम्ना विवर में शून्य मनोमय आकाश में श्वेत-रक्त पीत एवं धूम्राकार नील प्रभा विशिष्ट बिन्दु और अग्नि ज्वाला के समान ज्वाज्वल्यमान् तथा विद्युत पुञ्ज के सदृश प्रकाशवान् एवं प्रकाशित सूर्यमण्डलाकार अथवा पूर्ण चन्द्रमण्डल के सदृश्य किंवा जलते हुए अंगार के तुल्य निज आत्मरूप की भावना करके आत्मा के दिव्य देह का मन में लक्ष्य करके ध्यान करना चाहिये।

एतेषाञ्च कृते लक्ष्ये नाना दुःखं प्रणश्यति ।
मनसस्तु मलंयाति महानन्द भवेत्ततः ॥१६॥

इस प्रकार अग्नि-विद्युत-सूर्य चन्द्रादि तथा नाद-बिन्दु कला ज्योति रूप से दिव्य ज्योतिर्मय आत्मरूप का मन से लक्ष्य करके सदा ध्यान करते रहने से साधकों के नाना प्रकार के दुःखों का नाश हो जाता है और मन के सब मल पाप संस्कारादि चले जाते हैं और सर्वदा महा आनन्द ही आनन्द होता रहता है।

पञ्च व्योम

कथ्यते तु देवयधुनाकाशं पञ्चभिर्लक्षणैः।
आकाशन्तु महाकाशं पराकाशं परात्परम्॥
तत्त्वाकाशं सूर्याकाशमाकाश पञ्च लक्षणम्॥१७॥

श्री महेश्वर अब सुषुम्ना विवर स्थितपञ्च व्योम (अन्तराकाश) का नाम और लक्षण सहित वर्णन करते हैं। प्रथम आकाश है, उसके ऊपर दूसरा महाकाश है एव उससे भी परे तीसरा पराकाश है और चौथा तत्त्वाकाश है और उसके भीतर पांचवां सूर्याकाश है। इस प्रकार इस शरीर में एक से एक पर तथा सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतम पांच प्रकार के पञ्च व्योम हैं।

सबाह्याभ्यान्तरे नित्यं निरकारस्तु निर्मलम्।
कर्त्तव्यं लक्ष्यमाकाशं साधयेत्साधनं बिना॥१८॥
घनान्तराल सदृशं पराकाशं तथैव च।
कल्पान्ताग्नि समं ज्योतिर्महाकाशं स्मरेत्तथा॥१९॥

प्रथम आकाश है वह बाहर और भीतर नित्य निराकार रूप निर्मल है। उसमें मन को संकल्प विकल्प शून्य करके निरावलम्बन भाव होकर लक्ष्य करना चाहिये जिससे कि बिना

प्रयत्न के मन का लय हो जाये–ऐसा अभ्यास करना चाहिए। दूसरा पराकाश है वह अतीव मेघाच्छन्न गगन सदृश्य घोर अन्धकारमय है। उसमें भी, पूर्वापर का विचार न करके, मन को लगाकर तन्मय हो जाना चाहिए। तीसरा महा आकाश है जो अग्नि रूप ज्योति से प्रकाशित है जैसे कल्पान्त में सारे ब्रह्माण्ड में अग्नि व्याप्त हो जाती है—तब सर्वत्र अग्निरूप दीखता है। तैसे ही अग्नि के प्रकाश रूप ज्योति का स्मरण कर उसमें मन लगा के तदाकर हो जाना चाहिए।

कोटि कोटि प्रदीपाभं तत्त्वाकाशं स्मरेत्तथा।
सूर्याकाशं तथाकोटि सूर्य विश्व समं स्मरेत् ॥२०॥
सबाह्याभ्यान्तरे चैवमाकाशं लक्षयेत्तुयः।
शिवविद्विहरेद्विश्वे पाप पुण्य विर्वजितः ॥२१॥

चौथा तत्त्वाकाश है जो कोटि कोटि असंख्य प्रज्वलित प्रदीप के प्रकाशवत् ज्योतियों से प्रकाशमान् है उसमें मनोलय करके तद्रूप हो जाना चाहिए। पश्चात् पाँचवां सूर्याकाश है विश्व के कोटि सूर्य एकत्र होने से जितना प्रकाश होता है उतना उसका महान् प्रकाश है। उसमें मन प्राण का लय करके एकता लाभ करनी चाहिये। इस प्रकार जो साधक योगी बाहर विश्व में और भीतर अन्तराकाश में ज्योतिरूप आधार का और शून्य रूप निराधार का अर्थात् अवलम्बन रूप ज्योति का और निरा-वलम्बन रूप शून्य का ध्यान करता है वह पाप-पुण्य से रहित होकर मुक्त शिववत् विश्व में यथेच्छ विचरता है।

मण्डल ब्राह्मणोपनिषद् चतुर्थ ब्राह्मणम्

अथह याज्ञवल्क्यो मण्डल पुरुषं पप्रच्छ।

व्योम पञ्चक लक्षणं विस्तारेणानुब्रूहीति ॥
सहोवाचाकाशं पराकाशं महाकाशं ।
सूर्याकाशं परामाकाशमिति पञ्चभवन्ति ॥

योगी याज्ञवल्क्य ने मण्डल पुरुष सूर्य भगवान से पूछा कि व्योम पञ्चक के लक्षण कृपया विस्तार पूर्वक कहिये ! तब मण्डल पुरुष भगवान भास्कर बोले कि आकाश-पराकाश-महाकाश-सूर्याकाश और परमाकाश इस प्रकार ये पांच आकाश होते हैं।

बाह्याभ्यान्तर मन्धकार मय माकाशम् ।
कालानल सदृशं पराकाशम् ॥
ऽपरिमितद्युतिनिभं तत्त्वं परमाकाशम् ।
सबाह्याभ्यान्तरे सूर्यनिभं सूर्याकाशम् ॥
अनिर्वचनीय ज्योतिः सर्व व्यापकं ।
निरतिशयानंद लक्षणं परमाकाशं ॥
एवं तत्तल्लक्ष्य दर्शनात्त द्रुपोभवति ॥

बाहर और भीतर घोर अन्धकारमय आकाश है और बाहर तथा भीतर कालानल अग्नि सदृश्य पराकाश है। बाहर एवं भीतर अपरिमित द्युति महान् विद्युत प्रकाश से प्रकाशित तत्त्व-रूप पराकाश है बाहर भीतर सर्वत्र सूर्य प्रकाश से परिपूर्ण सूर्य आकाश है और अनिर्वचनीय ज्योति रूप, सर्वत्र व्यापक निरतिशय आनन्द पूर्ण लक्षण वाला परमाकाश है। इस प्रकार अपने में पञ्च व्योम है। उसको उस रूप से लक्ष्य करके देखने से साधक तद्रूप हो जाता है। ऐसा यह कथन यजुर्वेद का है।

पंचदश प्रकाश

सिद्धि उत्पन्न होने के पांच प्रकार

योगदर्शन कैवल्य पाद

जन्मौषध मंत्र तपः समाधिजा सिद्धयः ।।१।।

यद्यपि सिद्धियां अनेक प्रकार की हैं और कई प्रकार से उत्पन्न होती है तथापि योगशास्त्र में उनकी उत्पत्ति के मुख्य पांच प्रकार कहे हैं जैसे जन्म से, औषधि से, मन्त्र से, तप से और योग समाधि द्वारा, इस प्रकार सिद्धियां उत्पन्न होने के ये मुख्य पांच प्रकार कहे हैं।

यह प्रत्यक्ष देखा गया है और प्रायः कभी कभी कहीं देखा भी जाता है कि किसी किसी योगभ्रष्ट व्यक्ति को पूर्वजन्म के पुण्यमय सुसंस्कार से इस जन्म में भी बिना गुरु और साधन के ही अलौकिक सामर्थ्य एवं आश्चर्यजनक जन्मान्तर की स्मृति और ज्ञान की स्फुर्णा स्वयं होती है कि जिसके प्रभाव से वह भूत भविष्यत् के ज्ञान को अनायास ही कहता है और अलौकिक सामर्थ्य दर्शाता है। इसको जन्मजा सिद्धि कहते हैं जो कि प्रायः बाल्यावस्था में ही देखी गई है।

कितनेक ऐसे भी व्यक्ति देखे जाते हैं जो पारदादि औषधि से असाध्य रोगों को भी सत्वर अच्छा कर देते हैं क्योंकि कई एक दिव्य बनौषधि जड़ी बूटी हैं कि जिनसे हरेक प्रकार के रोग मिटाये जा सकते हैं जिनको इस विषय का ज्ञान सहज ही प्राप्त हो गया है जो इस प्रकार किसी भी औषधि द्वारा रोग

निवारण करने में समर्थ होते हैं ऐसी औषधि विषयक सिद्धि को औषधजा सिद्धि कहते हैं।

कितनेक लोग ऐसे भी देखे जाते हैं जो मंत्र-यंत्र दे के अथवा मंत्र जाप, पाठ-पूजन-हवन आदि अनुष्ठान करके अपने उपास्य देवी देवता के आश्रय से तथा अपनी प्रबल सात्विक भावना श्रद्धा भक्ति युक्त एक निष्ठा से लोगों को आश्चर्यजनक अलौकिक घटनायें दिखाते हैं और असंभव कार्य को भी समय विशेष में प्रत्यक्ष संभव करने की क्षमता रखते हैं, कितनेक ऐसे भी व्यक्ति देखे जाते हैं जो अपनी प्रबल इच्छा शक्ति से भयंकर रोगों को मिटा सकते हैं एवं चमत्कार दिखाते हैं, इसको मंत्र-जा सिद्धि कहते हैं।

ऐसे ही बहुत से लोग साधु, सन्यासी, ब्रह्मचारी, त्यागी, तपस्वी, वैरागी बनकर उपवास व्रत-जप-तप-पुरश्चरण द्वारा तपस्या करके शक्ति संचय करते है और अपने तपोबल से लोगों के रोग-शोक-दुःख दैन्य मिटाने की चेष्टा करते हैं एवं प्रसन्न हो जायें तो धन, पुत्र, विषय, सम्पत्ति प्राप्ति का वरदान देते हैं और यदि किसी पर कोई कारण से असन्तुष्ट हो जायें तो उनके अनिष्ट होने का शाप भी देते हैं कि जिससे समय विशेष में दूसरों का इष्ट तथा अनिष्ट होता है ऐसा भी देखा गया है इसको तप सिद्धि कहते हैं।

यह सिद्धियां जो समय पाकर अकस्मात् आती हैं और वैसे ही तपस्या क्षीण होने पर अथवा किसी निमित्त पुण्य क्षय होने पर चली भी जाती हैं, जन्म औषधि मंत्र और तप की सिद्धि से बढ़कर समाधि की सिद्धि है जो कभी नष्ट नहीं होती,

मंत्र औषध तपादि की सिद्धि वाले अपना और दूसरों का जन्म-मरण रूप भव व्याधि मिटाकर परम शान्ति नहीं पा सकते और न दे सकते हैं परन्तु समाधि की सिद्धि सर्वोपरि है, समाधि सिद्धि वाला ही जिसका चाहे परम कल्याण कर सकता है और सदा के लिये जन्म-मरण रूप दुःख से छूट जाता है एवं बहुतों को छुड़ा भी देता है।

दो प्रकार की सिद्धि

योगशिखोपनिषद् अध्याय १

द्विविधाः सिद्धियो लोके कल्पितास्तथा।
रसौषधि क्रिया जाल मंत्रभ्यासादि साधनात्।
सिध्यन्ति सिद्धयो यास्तु कल्पितास्ताः प्रकीर्तिता ॥१५२॥
अनित्या अल्प वीर्यास्ताः सिद्धयः साधनोद्भवाः।
साधनेन बिनाप्येवं जायन्ते स्वतः एवहि ॥१५३॥
स्वात्म योगेकनिष्ठेषु स्वातंत्र्यादीश्वर प्रियाः।
प्रभुताः सिद्धयो यास्ताः कल्पना रहिताः स्मृताः ॥१५४॥

श्री महेश्वर ब्रह्मा जी के प्रति कहते हैं कि इस लोक में यह सिद्धियां कल्पित और अकल्पित नाम भेद से सामान्य और विशेष दो प्रकार की हैं।

कोई क्रिया विशेष से पारद का बन्धन या जन्म-मरण होने से पारद महा वीर्यवान सर्व रोग नाशकारक शारीरिक सिद्धि देने वाला अथवा गुटिका के रूप में आकाश गमन की सिद्धि देने वाला जड़ी-बूटी के संयोग से दिवयोषध रूप सिद्धि-

प्रद होता है इस प्रकार यह पारद रस औषध तथा वैदिक-तांत्रिक नाना प्रकार के कर्म, मंत्र-यंत्र-पाठ-पूजन-जप-तपादि क्रियाकर्म के साधन की सहायता से जो सिद्धियां होती हैं वह कल्पित कहलाती हैं। क्योंकि इस तरह मंत्र औषध रसादि के साधन से उत्पन्न हुई यह कल्पित सिद्धियां अल्पवीर्य सामान्य गुण इस लौकिक शक्ति वाली और अनित्य चिरकाल एक सी न रहने वाली होने से इसको कल्पित कहा है जो सामान्य है और कल्पना से एव कल्पित काम्य कर्मों से होती है।

परन्तु दूसरी विशेष अकल्पित सिद्धियां हैं जो मंत्र तपस्या रसादि साधना के बिना निष्काम कर्म से अपने आपही उत्पन्न होती हैं, जब साधक योगी सांसारिक सब कामनाओं से रहित होकर, माया का बन्धन काटने में समर्थ होता है तब स्वतंत्रता से अपने आत्मा के योग से जीवात्मा परमात्मा की एकता रूप समाधिनिष्ठ होता है, तो ईश्वर के अनुग्रह से ईश्वर को प्रिय ऐसी महान् ऐश्वर्य रूपा अणिमादि महा सिद्धियां साधक योगी को स्वयं वरने आती हैं वह कल्पना रहित कहलाती हैं जो बिना कल्पना के संकल्प विकल्प रहित समाधिस्थ होने से होती है।

सिद्धा नित्या महावीर्या इच्छा रूपः स्पयोगजाः।
चिर कालात्प्र जायन्ते वासना रहिते षुच ।।१५५।।

तास्तु गोप्या महा योगात्परमात्मपदेऽव्यये।
विना कार्य सदा गुप्तं योग सिद्धस्य लक्षणम् ।।१५६।।

ये अकल्पित सिद्धियां जप-तप-मंत्रादि के साधन से प्राप्त नहीं की जा सकती परन्तु निष्काम बुद्धि से ईश्वर प्रणिधान

योगसाधन द्वारा समाधि में अपने आत्मबल के योग से साधक में स्वयं आविर्भूत होती हैं ऐसी नित्य चिरकाल रहने वाली इच्छा रूपी संकल्पमात्र से कार्य करने वाली महान ऐश्वर्य ईश्वरत्व देने वाली ये महासिद्धियां हैं जो वासना रहित होकर चिरकाल के योगाभ्यास करने वाले योगियों को योगबल से प्राप्त होती हैं।

यह अणिमा, महिमा, लघिमा आदि महासिद्धियां योगाभ्यास के बिना और साधन से नहीं मिलती, केवल महायोग द्वारा साधकों को समाधि से स्वयं प्रकट होती हैं, इसलिए महायोग से प्रकाशित हुई अणिमादि सिद्धियां बिना प्रयोजन कार्य में नहीं लानी चाहिए क्योंकि यह महासिद्धियां ईश्वर का ऐश्वर्य रूप शक्ति है, जिससे कार्य-ब्रह्म ईश्वर, ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर सृष्टि का नियंत्रण करते हैं। यह महासिद्धियां मनुष्य के व्यवहार की वस्तु नहीं है, इनके उपयोग में लाने से जो प्राप्य परम पद है वह नहीं मिल सकता, अव्यय परमात्मा के परम पद में पहुँचने के लिए ही इसकी रक्षा करनी चाहिए। प्रलोभन में आकर अध्यात्म पथ योगसाधन छोड़ना नहीं चाहिये, जहां तक हो सके इन सिद्धियों की सामर्थ्य को बिना प्रयोजन प्रकाश नहीं करना और सदा गुप्त रखना ही महायोग सिद्ध का लक्षण है इनको प्राप्त करने वाला योगी जीवनमुक्त हो जाता है और सारे ब्रह्माण्ड का जय करता हुआ स्वयं ईश्वर रूप हो जाता है।

अपने अधिकार का दुरुपयोग नहीं करने वाला योगी ब्रह्माण्ड में चाहें जो कर सकता है वह अपने सामर्थ्य ईश्वरत्व के

अधिकार का दुरुपयोग नहीं करता जैसे भारत सम्राट के प्रतिनिधि वायसराय स्वयं राजा न होते हुए भी राजा की कृपा के कारण उनकी शासन सत्ता सबको ही माननी पड़ती है और वह अपनी शक्ति से राज्य में जैसा चाहें कर सकते हैं परन्तु वह भी राज्य शासन सत्ता एवं राजा की इच्छा के विरुद्ध बिना प्रयोजन कोई काम नहीं करते तैसे ही योगी स्वयं स्वाभाविक ईश्वर न होते हुए भी ईश्वर के अनुग्रह से ईश्वर तुल्य अणिमादि महा सिद्धियों की क्षमता शासन सत्ता प्राप्त होकर विश्व राज्य के राजा ईश्वर के राज्य ब्रह्माण्ड में कुछ करना चाहे कर सकता है परन्तु वह योगी ईश्वर के कानून प्रकृति के नियम विरुद्ध कोई कार्य नहीं करता।

योग मार्ग में सिद्धियां स्वयं आती हैं

यथा काशं समुद्दिश्य गच्छद्भि पथिकैः पथि।
नानातीर्थानिदृश्यन्ते नानामार्गस्तु सिद्धयः ॥१५७॥

स्वयमेव प्रजायन्ते लाभालाभ विर्वाजिते।
योग मार्गे तथैवेदं सिद्धि जालं प्रवर्तते ॥१५८॥

श्री महेश्वर कहते हैं कि जैसे आकाश पथ में विमान द्वारा चलने वाले पथिक को पृथ्वी के सब मार्ग, तीर्थ, पर्वतादि नाना प्रकार के सिद्ध स्थान स्पष्ट दीखते हैं तैसे ही योगसाधना करने वाले साधक जब मेरी प्राप्ति के उद्देश्य से मुझे मिलने के लिए अन्तरस्थ सुषुम्ना विवर में आकाश, महाकाश, सूर्याकाश और पराकाश तथा परमाकाश पंच व्योमका लक्ष्य करके चलते हैं, तो

उन्हें माग में प्रलोभनसूचक सिद्धिप्रद और दिव्यभाव उत्पन्न करने वाले नाना प्रकार के तीर्थ, नदी, सरोवर, पर्वत, समुद्र तथा ऋषिमुनि, सिद्ध, चारण, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, पन्नग, विद्याधर एवं अप्सरा आदि प्रसिद्ध और स्वाभाव सिद्ध देवताओं के दर्शन होते हैं।

ये देवतागण साधक योगी का सम्मान करते हैं और कहते हैं कि साधक तुम धन्य हो ! मनुष्य जन्म पाकर तुम हमसे भी ऊपर महातीर्थ परम मोक्ष धाम को जा रहे हो, तुम योग साधना करने वाले मनुष्य, जो परम शान्तिमय अखण्डित सुख स्वरूप आनन्दमय मोक्षप्रद पा सकते हो, वह हम कर्म देवता नहीं पा सकते इसलिये हम सब तुम्हारा सत्कार करते हैं तुम चाहो तो यहां रह सकते हो यहां के ये दिव्य भोग भोग सकते हो, परन्तु बुद्धिमान साधक अपनी साधना के बल से आगे ही चलता है तो पराकाश में सूर्य, चन्द्र, अग्नि और विद्युत से भी बढ़कर ज्योति महान ज्योति और अनन्त ज्योतिर्मय आत्मा का प्रकाश देखता है। उस समय पथ में अणिमादि महासिद्धियां अतीव उत्सुकता से साधक को वरने आती हैं इस तरह नाना मार्ग की जप, तप, ज्ञान, ध्यान, भक्ति योग आदि कर्म के नाना प्रकार की सिद्धियां अध्यात्म पथ में होती हैं, वे सब साधकों को मिलती हैं क्योंकि ये सिद्धियां इस मार्ग में हैं अवश्य आती हैं जो वस्तु जिस पथ में है उसका आना स्वाभाविक है, योग मार्ग में इन सिद्धियों का आना स्वयं होता है उसमें कोई हानि लाभ नहीं है उनमें आसक्त होना न होना साधक की इच्छा पर है।

सिद्धियों से सिद्धों का परिचय

परीक्षकैः स्वर्णकारैर्हेम संप्रोच्यते यथा।
सिद्धिभिर्लक्षयेत्सिद्धं जीवन्मुक्तः तथैव च ॥१५९॥
अलौकिकगुणतस्य कदाचिद्दृश्यते ध्रुवम्।
सिद्धिभिः परिहीनं तु नरंबद्धन्तु लक्षयेत् ॥१६०॥

यह महा सिद्धियों से ही योग सिद्धों की परीक्षा व पहचान होती है जैसे सुनार स्वर्ण को कसकर सच्चे-झूठे, असली-नकली की पहचान कर लेता है वैसे ही इन सिद्धियों के चमत्कार से ही सिद्ध योगी जीवनमुक्त पुरुष का परिचय होता है। योगी लोग सहसा अपने सामर्थ्य का प्रकाश होने नहीं देते, फिर भी कभी न कभी उनके अलौकिक गुण प्रकाशित हो ही जाते हैं जैसे कुलीन लक्ष्मीपति श्रीमान् व्यक्ति किसी भी अवस्था में अज्ञात रहे तथापि उनके श्रीमान् पन के सद्‌गुण परीक्षा करने वाले परिक्षक बुद्धिमान जान हीं लेते हैं तैसे ही यह सिद्ध पुरुष योगी-जन कितना भी अपने को क्यों न छिपावें तथापि समझने वाले अधिकारी उन्हें जान ही लेते हैं, सिद्धियां ही सिद्धों की सम्पत्ति और पहिचान है जो व्यक्ति सिद्धियों से रहित है वह पुरुष चाहे अपने को कितना ही त्यागी, तपस्वी, ज्ञानी ध्यानी, योगी, महात्मा क्यों न समझता हो तथापि उस मनुष्य को बद्ध जीव ही समझना चाहिये, क्योंकि सिद्धियां शक्ति सामर्थ्य ही जीवन मुक्त पुरुष के ज्ञान प्राप्ति की सूचक और सहायक तथा निदर्शन है जिनके पास शक्ति सामर्थ्य युक्त ज्ञान नहीं है वह दूसरों को

क्या दे सकते हैं ? दरिद्र से धन की याचना और सिद्धिहीन अज्ञानी बद्ध जीव से परमार्थ की कामना करना व्यर्थ है।

सिद्ध पुरुष जीवन मुक्त होता है

अजरामर पिण्डो यो जीवन्मुक्तः स एवहिः।
पशु कुक्कट कीटाद्या मृतिं सं याप्नु वन्ति वै ॥१६१॥
तेषांकि पिण्ड यातेन मुक्तिर्भवति पद्मज।
नवहिः प्राण आयाति पिण्डस्य यत नं कुतः ॥१६२॥
पिण्ड यातेन यामुक्तिः सामुक्तिर्न तु हन्यते।
देहे ब्रह्मत्वमायाते जलानां सैन्धवं यथा ॥१६३॥
अनन्यतां यदायाति तदा मुक्तः स उच्यते।
विमतानि शरीराणि इन्द्रियाणि तथैव च ॥१६४॥

इसलिये इन महा सिद्धियों का होना ही योग सिद्धि और जीवनमुक्ति की आशा की जाती है, इससे ही ज्ञान, ध्यान, जप, योग परायण जीवनमुक्त सिद्ध पुरुष का परिचय होता है; किन्तु बहुत से लोग यह समझते हैं कि सिद्धियां कोई आवश्यक चीज नहीं है सिद्धि हो चाहे न हो, जप, तप, पाठ, पूजन, सेवा, भक्ति करके धर्म परायण रहने से और ब्रह्म ज्ञान के विचार में लगे रहने से मरने के बाद निश्चय मुक्ति हो जायेगी परन्तु जो लोग वास्तविक मार्ग पर नहीं चलते और जिनको अपनी साधना का कोई फल नहीं हुआ है और अपने को ब्रह्मज्ञानी, जीवनमुक्त एवं मरने के बाद मुक्ति होगी ऐसा समझते हैं उनके लिये श्री महेश्वर ब्रह्मा जी के प्रति कहते हैं कि ऐसे मनुष्य जो

कि पशु, पक्षी, कीट पतंगों की तरह मरते हैं उनकी मुक्ति नहीं हो सकती है, शरीर के पतन से जो मुक्ति होती है वह मुक्ति तो नहीं परन्तु मृत्यु ही होती है ऐसे मरने वाले मुक्ति नहीं पा सकते वे जन्म लेते हैं और मरते हैं, मुक्ति तो वही पाते हैं जिन की मृत्यु ही नही होती, मृत्यु जिनके इच्छाधीन है वही अजर अमर और जीवनमुक्त है।

जिन्होंने योग साधना से अपने शरीर मन प्राण को वश में कर लिया है जिनका प्राण ही बाहर नहीं आता है उनके देह का पतन ही कैसे हो सकता है, जो अपने योग बल से पंचत्त्व प्राप्त होने में, तत्त्व में तत्त्व लीन करने में तथा जीवन इच्छा-नुसार धारण करने में समर्थ है उसका मरना ही कहा है। देह को ब्रह्मत्व प्राप्त होने से अर्थात् ज्ञान हो जाने से जैसे लवण पानी में घुलकर जल रूप हो जाता है अग्नि में ईंधन अग्नि रूप हो जाता है तैसे ही दिव्य ब्रह्मज्ञान से देह भी ब्रह्म रूप अनन्यता को प्राप्त होता है, तब योगी जीवनमुक्त होता है, ऐसे जीवन मुक्त पुरुष का शरीर संकल्प मात्र से इच्छानुरूप बर्तता है, उसको सिद्धियों के प्रभाव से स्थूल और सूक्ष्म पंचभूत जय होने से वह जब चाहे शरीर को तत्त्व के तत्त्व में लय कर पंचत्व प्राप्त हो सकता है, और इच्छानुसार शरीर रख भी सकता है।

सिद्धियों से ईश्वरत्व की संप्राप्ति

महाभारत पर्व १२

आत्मनां च सहस्राणि बहुनिभरतर्षभ।
योगः कुर्याद् बलंप्राप्य तैश्चसर्वैंमहीचरेत् ॥२५॥

योगीश्वर शरिराणि करोतिविकरोति च।
प्राप्नुयाद्विषयान्कैश्चित् कैचिदुग्रतपश्चरेत् ॥
संहरेच्चपुनस्तांनि सूर्योरश्मिगणानिव ॥२६॥

योगी की योग साधना परिपक्व और परिपूर्ण होने से योगी को योग का परम और ज्ञान का चरम ऐश्वर्य, ईश्वर का ईश्वरत्त्व अणिमादि महासिद्धियों की संप्राप्ति होती है, सिद्धियां प्राप्त होने से योगी प्रकृति पर प्रभुत्व स्थापन करता है और विजय प्राप्त करता है इसीलिए क्रीड़ार्थ वह अपने योग बल से हजारों शरीरों की रचना करता है और उससे पृथ्वी पर अथवा ब्रह्माण्ड में इच्छानुसार सर्वत्र विचरता है, इस प्रकार शक्ति सामर्थ्य सम्पन्न प्रकृति का प्रभु योगीश्वर अपने शरीर से भिन्न और शरीरों की रचना करता भी है और नहीं भी करता है क्योंकि उनको अपना कोई हेतु या कर्त्तृत्व नहीं होने से अखरता है तथापि अपने सत्य संकल्प से प्रकट किये हुए शरीरों से कहीं स्वर्गादि में दिव्य विषय भोग करता है और कहीं कैलास, सुमेरु, हिमवान, मन्दराचल, मलयाचल आदि पर्वतों पर अथवा तीर्थ स्थानों में अनेक शरीरो से उग्रतपस्या भी करता है और पुनः उन्हीं शरीरों को अपने में लय कर लेता है, जैसे सन्ध्या होने पर सूर्य अपनी रश्मियों को अपने में लीन करता है।

आत्मपुराण, अध्याय ६

अप्रमतः पुमान् योगी जगदुत्पत्तिनाशने।
समर्थोभवति श्रीमान् ईश्वरोऽत्र यथैवहि ॥

शुद्धचेताः पुमानेष आत्मान मबलोकयेत् ।
ईशवत्सकलं विश्वं कर्त्तुं हन्तुं प्रभुर्भवेत् ॥

अपनी महान तपस्या, योग साधना के बल से साधक पहिले योगी और फिर ईश्वर होता है। तब प्रकृति पर प्रभुत्व करता है। ऐसा ईश्वर पद को प्राप्त हुआ योगी जगत् की उत्पत्ति और नाश करने में समर्थ होता है, जो ईश्वर करता है वही कार्य करने में वह योगी भी समर्थ होता है, ईश्वर में जो सब दिव्य गुण हैं वे सभी समाधि में उनके साक्षात्कार से योगी को प्राप्त हो जाते हैं इसलिये वह भी यहां ईश्वर के ही सदृश है, जिन महापुरुषों के मन-प्राण तपस्या के बल से उत्कर्ष साधन कर गये हैं उनको समाधि द्वारा आत्मा के साक्षात्कार से ईश्वर के सब दिव्य गुण, ज्ञान, वैराग्य, त्रिकाल दर्शिता, अणिमादिक महा ऐश्वर्य एवं शासन सत्ता स्वयं आ जाती हैं। इनसे योगी प्रकृत्ति पर अपना आधिपत्य स्थापन एवं सृष्टि में वैषम्य घटाने का सामर्थ्य लाभ करता है। इसलिये ईश्वरवत् विश्व के कार्य कर्त्ता अनुग्रह और निग्रह करने वाला वह योगी स्वयं प्रभु हो जाता है।

दत्तात्रय संहिता तथा योगतत्त्वोपनिषत्

सिद्धानां कपिलादिनां मतंवक्ष्येततः परम् ।
वायुं निरुध्यमेधावी जीवन्मुक्तोभवेद् ध्रुवम् ॥१०६॥
समाधिः समतावस्था जीवात्म परमात्मनोः ।
यदिस्याद् देह मुत्स्रष्टु मिच्छाचेदुत्सृजेत्स्वयम् ॥१०७॥

परब्रह्मणि लीयन्ते त्यक्त्वाकर्म शुभाशुभम् ।
अथनोचेत्समुत्सृष्टं स्वशरीरं यदि प्रियम् ।।१०८।।
सर्वलोकेषु विचरेदणिमादि गुणान्वितः ।

समाधि के विषय में श्री महेश्वर से परंपरागत कपिलादि सिद्धों के मत, मार्ग को साक्षात् शिवरूप गुरुदत्तात्रय अवधूत कहते हैं कि समाधि की सिद्धि योग ज्ञान का फल ईश्वर का महान् ऐश्वर्य बल ईश्वरपद है जो साधकों को समाधि होने से मिलता है। समाधि योगाभ्यास करके प्राण के निरोध से होती है। प्राणायाम द्वारा मन-प्राण का जय करने वाले साधन सिद्ध, कृपा सिद्ध अथवा स्वयं स्वभाव सिद्ध योगी जन ही इस योग ऐश्वर्य को प्राप्त करके निश्चय मेरे सदृश जीवनमुक्त होकर रहते हैं। समाधि में जीवात्मा परमात्मा की एकता साधित होती है। जीव ब्रह्म की एकता होने से सम अवस्था आती है जिससे जीव अपनी अल्पज्ञता और अज्ञान रूप जीवत्व को छोड़कर परम कल्याण कर शिव रूप, सर्वज्ञ और ज्ञानमय ईश्वर हो जाता है।

इस समाधि अवस्था को प्राप्त हुआ योगी यदि देह त्याग की इच्छा करे तो स्वयं परब्रह्म में लीन हो जाता है। उसके शुभाशुभ कर्म सब छूट जाते हैं एवं उसके स्थूल देह के तत्त्व पचभूत में मिल जाते हैं। शरीर का कोई भी अंश यहां पृथ्वी पर नहीं रहता। योगी का जीवन और मरण अपनी इच्छा पर है। यदि शरीर को पंच तत्त्व में मिलाकर, विदेह मुक्ति ब्रह्म में लय न होकर योगी को अपने शरीर में ही रहना प्रिय है तो

जीवन-मुक्त अणिमादि ऐश्वर्य के बल ब्रह्माण्ड के सब लोकों में विचरण करता है।

कदाचित्स्वेच्छयादेवो भूत्वा स्वर्गेऽपिसञ्चरेत् ॥१०९॥
मनुष्योवापियक्षोवा स्वेच्छयापि क्षणाद्भवेत् ।
सिंहोव्याघ्रोगजोवापि स्यादिच्छ तोऽन्य जन्मताम् ।११०।
यथेष्ट मेववर्त्तते योगी विद्वान्महेश्वरः ।
कवि मार्गोपयुक्तन्ते सांकृतेऽष्टाङ्ग योगतः ॥१११॥

वह योगी अपनी इच्छा से क्षण में ही सकल्प मात्र से जैसा चाहे वैसा शरीर को बना लेता है। कभी देवता होकर स्वर्ग में जाता है, तो कभी यक्ष होकर अन्तरिक्ष में संचरण करता है अथवा मनुष्य रूप से पृथ्वी पर जहां कहीं स्वेच्छानुसार विचरता है। यदि योगी चाहे तो मनुष्य, देवता के शरीर से भिन्न पशु, पक्षी, कीट, पतंगादि दूसरी योनी के शरीर सिंह, व्याघ्र, हस्ती आदि देह को धारण कर सकता है। इस प्रकार सब कुछ करने में समर्थ महाज्ञानी योगी ईश्वर के सदृश वर्तता है और शिव रूप होकर सदा निर्लिप्त रहता है। यह ज्ञानियों के उपयुक्त अष्टांग योग मार्ग तथा समाधि सिद्धि का फल अवधूत गुरु दत्तात्रय ने अपने प्रिय शिष्य सांकृत से कहा।

सिद्धियों की प्राप्ति का उपाय

एकादश स्कन्ध, अध्याय १५

जितेन्द्रियस्य युक्तस्य जितश्वासस्य योगिनः ।
मयि धारयतश्चेत उपतिष्ठन्ति सिद्धयः ॥१॥

भगवान श्रीकृष्ण ने परम भक्त उद्धव से कहा कि हे उद्धव! जो सिद्धियां श्रीमहेश्वर ने कही और मैं कहूँगा, ये सब मन प्राण का जय करने वाले, धारण, ध्यान, समाधि एवं तीनों को एकत्र करके संयम करने वाले मत्परायण मेरे परम भक्त संयमी योगियों को ही प्राप्त होती है।

कयाधारणया कास्वित्कथंवा सिद्धिरच्युत।
कतिवासिद्धयोब्रू हि योगिनां सिद्धिदोक्षवान् ॥२॥

उद्धव जो बोले कि हे अच्युत! योगियों को सिद्धि देने वाले आप ही हैं। अतएव कृपया कहिये कि सिद्धियां कितने प्रकार की हैं, कैसे प्राप्त की जाती हैं एवं किस धारण से कौन सी सिद्धि होती है। यह सब विज्ञान विषय विस्तार से कहिये।

सिद्धयोऽष्टादश प्रोक्ता धारणा योग पारगैः।
तासामष्टौ मत्प्रधाना दशैव गुणहेतवः ॥३॥
अणिमालघिमा चैव महिमाप्राप्ति रेव च।
प्राकाम्यञ्चतथेशित्वं वशित्वञ्चतापपरम् ॥२८॥
यत्र कामा वसायित्वं गुणाने तांस्तथैश्वरान्।
प्राप्नोत्यष्टौनरव्याघ्र परं निर्वाण सूचकान् ॥२९॥

भगवान श्री कृष्ण बोले कि हे परम प्रिय उद्धव, सुनो! योगशास्त्र में श्री महेश्वर ने नाना प्रकार की सिद्धियां कहीं हैं परन्तु योग के ज्ञाता योग पारंगत योगियों ने धारणा, ध्यान, समाधि एवं संयम से प्राप्त उनमें से अठारह मुख्य मानी हैं। उनमें भी अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशिता, वशिता एवं काम वसायित्व-ये मेरी अष्ठ महासिद्धियां ही

प्रधान हैं जिनको योगी लोग ही प्राप्त करते हैं और जो परम शान्तिदायक, निर्वाण मुक्ति की सूचक तथा मुझ ईश्वर के गुण महाऐश्वर्य. शक्तिसामर्थ्य, ईश्वरत्व रूप हैं और मेरी ही कहलाती हैं। वही मेरे अनुग्रह से मेरे परम भक्त योगियों को भी प्राप्त होती हैं। इनके अतिरिक्त दश और गौण सिद्धियां हैं जो सत्त्व गुण के उत्कर्ष से धारणा द्वारा प्राप्त होती हैं।

सूक्ष्मात्सूक्ष्मतमोऽणीयान् शीघ्र त्वं लघिमागुणः।
महिमाऽशेष पूज्य त्वात्प्राप्तिर्नाप्राप्त मस्ययत् ॥३०॥
प्राकाम्यस्य च व्यापि त्वा दीशित्व ञ्जेश्वरोयतः।
वशिता त्वाद्वशिमानाम योगिनः सप्तमोगुणः ॥३१॥
यत्रेच्छास्थानमप्युक्तं यत्र कामावसायिता।
ऐश्वर्य कारणैरेभि र्योगिनः प्रोक्त मष्टधा ॥३२॥

अणिमा सिद्धि से योगी सूक्ष्म से भी सूक्ष्म म हो सकता है। लघिमा से वायु की तरह हलका, शीघ्रगामी, सत्वर कार्य करने वाला और महिमा सिद्धि के प्रभाव से महान एवं सब का पूजनीय होता है। प्राप्ति के बल से महादुर्लभ अप्राप्य समग्र विषय वस्तु प्राप्त करता है। प्राकाम्य सिद्धि से सर्वव्यापित्व. गुण विभुत्व आता है। ईशिता से ईश्वर तुल्य क्षमता आती है और वशिता से सर्व भूत प्राणियों को वश में करने तथा इच्छानुसार वर्ताने की शक्ति होती है। यह वशिता सिद्धि ही योग का सप्तम ऐश्वर्य रूप गुण है। जिस शक्ति के बल से ब्रह्माण्ड में कहां कहीं भी इच्छानुसार जैसा चाहें रहा जाये उनका नाम कामवसायित्व अष्टमी महा सिद्धि है योगियों का अष्टविध

महासिद्धि रूप योग ऐश्वर्य ही ईश्वरत्व और मोक्ष का तथा योग बल ही योग सिद्धि का कारण है।

अणिमा महिमा मूर्तिर्लघिमा प्राप्तिरिन्द्रियैः ।
प्राकाश्य श्रुत दृष्टेषु शक्ति प्रेरणामीशिता ॥४॥

गुणेष्व सङ्गो वशिता यत्कामस्तद् वस्यति ।
एतामेसिद्धयः सोम्य अष्टावौत्पत्तिका मताः ॥५॥

इन अष्ट महासिद्धियों में अणिमा, महिमा और लघिमा ये तीन शारीरक सिद्धियाँ हैं प्राप्ति नामक चौथी इन्द्रियों की सिद्धि है। सुने और देखे हुए विषयों को इच्छानुसार जानना तथा अनुभव कर लेना प्रकाश्य नाम को पांचवीं सिद्धि है। अपनी शक्ति को दूसरे में प्रेरित करने की छठी सिद्धि को ईशिता कहते हैं। गुणों से असंग रहना अर्थात् नाना प्रकार के भोग भोगते हुए भी उसमें आसक्त न होना वशिता नाम की सातवीं सिद्धि है और सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कराने वाली आठवीं प्राकाम्य सिद्धि है। हे सौम्य उद्धव ! इस प्रकार ये अष्ट महा सिद्धियां मुझ ईश्वर रूप को स्वभाव से ही प्राप्त हैं।

अनुर्मिमत्वं देहेऽस्मिन्दूर श्रवण दर्शनम् ।
मनोजवः कामरूपं परकाय प्रवेशनम् ॥६॥
स्वच्छन्द मृत्युर्देवानां सह क्रीडानु दर्शनम् ।
यथा संकल्प संसिद्धि राज्ञाऽप्रतिहतगतिः ॥७॥

अन ऊर्मित्व (क्षुधा, तृषा, मोह, शोक, जन्म और मरण की निवृत्ति अर्थात् शरीर की प्रकृति पर विजय प्राप्त करना),

दूर श्रवण तथा दूर दर्शन, मनोजव (मन के सदृश शीघ्र गति हो जाना), कामरूप (इच्छानुसार रूप धारण कर लेना), पर-काय प्रवेश (अन्य शरीर में प्रवेश करने की शक्ति होना), स्वच्छन्द मृत्यु (जब इच्छा शरीर त्याग सकना देव देवांगना के साथ मिलना और क्रीडा करना), संकल्प संसिद्धि (संकल्प करने मात्र से जैसी इच्छा हो वैसा हो जाना, अप्रतिहत आज्ञा (जिसका ब्रह्माण्ड में कोई उल्लघन ही न कर सके ऐसी अटल आज्ञा की सिद्धि होना) और अनवरोध गति (सर्वत्र गति लाभ करना) ये दश महा सिद्धियाँ सत्त्वगुण के महान उत्कर्ष से धारणा, ध्यान, समाधि और संयम द्वारा होती हैं।

त्रिकालज्ञत्वमद्वन्द्वं परचित्ताद्यभिज्ञता ।

अग्न्यार्काम्बुविषादिनां प्रतिष्टम्भोऽपराजयः ॥८॥

एताश्चोद्देशतः प्रोक्ता योग धारण सिद्धयः ।

यया धारणया या स्याद्यथा वा स्यान्निबोध मे ॥९॥

इन अष्टादश महासिद्धियों के अतिरिक्त त्रिकालज्ञाता (भूत, भविष्यत और वर्तमान का ज्ञान होना), निर्द्वन्द्वता (शीत, उष्ण, सुख, दुःख, राग, द्वेष आदि से अभिभूत न होना), परचित्त अभिज्ञता (दूसरे के मन की बात जान लेना) अग्नि, सूर्य, जल, विष आदि की शक्ति को बांध लेना, रोक लेना, सहन कर लेना अथवा नष्ट कर देना, उसके वश न होना और किसी से भी पराजित न होना—ये भी योग धारणा से प्राप्त होने वाली पांच और सिद्धियां हैं इनमें से जो सिद्धि जिस धारणा से होती है वह अब कहता हूँ, सुनो—

भूत सूक्ष्मात्मनिमयि तन्मात्रं धारयेन्मनः ।
अणिमानमवाप्नोति तन्मात्रौपासको मम ।।१०।।
महत्त्वात्मन्मयि परे यथा संस्थं मनोदधत् ।
महिमानमवाप्नोति भूताना च पृथक् पृथक् ।।११।।

हे उद्धव ! जो योगी सूक्ष्मभूत शब्द स्पर्शादि स्वरूप मेरे रूप तन्मात्रा में मन को लगाकर धारणा करता है उसको अणिमा सिद्धि की प्राप्ति होनी है और मुझ महत्तत्व स्वरूप परमात्मा में मनो निवेश करके क्षिति, आप, तेज, मरुत, व्योम, स्थूल, भूत तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सूक्ष्म, भूत समूह में पृथक्-पृथक् धारणा ध्यान, समाधि और संयम करने से योगी को मेरी महानता सवभूत के ज्ञान स्वरूप महिमा नाम की परमा सिद्धि को प्राप्ति होती है ।

परमाणुमयेचित्तं भूतानांमयिरञ्जयन् ।
काल सूक्ष्मार्थतां योगी लघिमानमवाप्नुयात् ।।१२।।
धारयन्मय्यहं तत्त्वे मनो वैकारिकेऽखिलम् ।
सर्वेन्द्रियाणामात्मत्वं प्राप्ति प्राप्नोतिमन्मनाः ।।१३।।

महाभूतों के परमाणु रूप उपाधि वाले मेरे स्वरूप में धारणा करने से योगी को लघिमा सिद्धि की प्राप्ति होती है कि जिससे वह कालवत् अति सूक्ष्म हो सकता है। सात्विक अहंकार रूप मुझ परमात्मा में मन की दृढ़ धारणा करने वाला मत्परायण योगी इन्द्रियों का प्रभु होकर रहता है। उसकी इन्द्रियां दिव्य भाव को प्राप्त होती हैं और वह मेरी प्राप्ति नामक महा दिव्य सिद्धि पाता है।

महत्यात्मनिथः सूत्रे धारयेन्मयिमानसम् ।
प्राकाश्यं पार मेष्ठयं मे विन्दतेऽव्यक्त जन्मनः ॥१४॥

विष्णौत्र्यधीश्वरे चित्तं धारयेत्काल विग्रहे ।
स ईशित्व मवाप्नोति क्षेत्र क्षेत्रज्ञ चोदनात् ॥१५॥

जो योगी मुझ महत्तत्वाभिमानी सूत्रात्मा रूप ब्रह्म म मन को सलग्न कर स्थिर होता है वह अव्यक्त जन्मा भगवान नारायण की सर्वोत्कृष्ट प्राकाम्य नाम की महासिद्धि प्राप्त करता है और जो योगी त्रिगुणमयी माया के ईश्वर, काल स्वरूप विष्णु भगवान में संयम करके चित्त की धारणा करता है वह ईश्वर का ईश्वरत्व सिद्ध कराने वाली महासिद्धि ईशिता को प्राप्त करता है कि जिससे वह समग्र जीव समूह तथा सब प्राणियों के शरीरों पर प्रभुत्व करता है।

नारायणे तुरियाख्ये भगवच्छन्द शब्दिते ।
मनो मय्यादधद्योगी मद्धर्मा वशिता मियात् ॥१६॥
निर्गुणे ब्रह्मणिमयि धारयन्विशदं मनः ।
परमानन्द माप्नोति यत्र कामोऽवसीयते ॥१७॥

जो योगी भगवद् शब्द से कहे गये मुझ तुरीयाख्य ब्रह्मपद नारायण में मन लगा देता है और जो मुझे, ईश्वर के धर्म, स्वभाव बिना हेतु अनुग्रह और निग्रह तथा अकर्तापना का अनुशरण करता है वह योगी वशिता रूपी परमा सिद्धि को प्राप्त करता है, इस प्रकार मेरे निर्गुण सच्चिदानन्द ब्रह्म रूप में अपने निर्मल पवित्र मन को संयम करके धारणा, ध्यान,

समाधि में लगा देने से योगी परमानन्द रूपिणी प्राकाम्य नामक परमा सिद्धि को प्राप्त करता है कि जिसके मिलने पर सम्पूर्ण कामनायें सफल हो जाती हैं और निःशेष भी हो जाती हैं।

श्वेत द्वीप पतौ चित्तं शुद्धे धर्म मये मयि।
धारयञ्श्वेततां याति षडूर्मिरहितोनरः ॥१८॥

हे उद्धव ! मेरे धर्ममय शुद्ध स्वरूप श्वेत द्वीपाधिपति शुक्रात्मक शुभ्र ज्योति मूर्धास्थित चन्द्रामृत से परिपूर्ण सच्चिदानन्द स्वरूप अमृतमय की धारणा करने से योगी जन्म, मरण, क्षुधा, तृषा, शोक और मोह रूप शरीर के धर्म षड् ऊर्मियों से विमुक्त होकर परम पवित्र हो जाता है।

मय्याकाशात्मनिप्राणे मनसा घोषमुद्वहन्।
तत्रोपलब्धा भूतानां हंसोवाचः शृणोत्यसौ ॥१९॥
चक्षु स्त्वष्टरि संयोज्य त्वष्टार मपि च क्षुषि।
मां तत्र मनसाध्यायन्विश्वं पश्यति सूक्ष्मदृक् ॥२०॥

जो योगी सुषुम्ना विवर स्थित सूक्ष्म अन्तर आकाश में मेरे प्राण रूप का लक्ष्य करके मन स्थिर कर अनाहत ध्वनि नाद का श्रवण करता है उसको दूर श्रवण की सिद्धि होती है और वह अन्तराकाश धारण से प्राणीमात्र की भाषा सुन सकता है एवं समझ भी लेता है। नेत्रों का सूर्य रूप से और सूर्य रूप का नेत्र गोलक से सम्बन्ध है, उस सम्बन्ध के संयोगरूप अवकाश ब्रह्म नाड़ी सुषुम्ना द्वार में मेरे सूर्य रूप में संयम कर देखने से सूक्ष्मदर्शि सिद्ध योगी को दूरदर्शन की क्षमता आती है जिससे

वह विश्व के प्रत्येक सूक्ष्म पदार्थ को अपनी दिव्य दृष्टि से देखता है ।

मनोमयी सुसंयोज्य देहं तदनु वायुना ।
मद्धारणाऽनुभावेन तत्रात्मायत्र वै मनः ॥२१॥
यदामन उपादाय यत्र द्रूपं बुभूषति ।
तत्तद्भवेन्मनो रूपं मद्योग बलमाश्रयः ॥२२॥
परकाय विशन्सिद्ध आत्मानं तत्र भावयेत् ।
पिण्डं हित्वा विशेत्प्राणो वायुभूतः षडंघ्रिवत् ॥२३॥

देह को स्थिर कर, प्राण वायु को सुषुम्ना में स्थित हृदय कमल में निरोध करके मेरे में मन की सुदृढ़ धारणा करने से योगी को मनोजय की सिद्धि होती है कि जिसके बल से जहां कहीं योगी का मन जाता है वहीं शरीर भी पहुँच जाता है मेरे नाना प्रकार के रूप सर्वाकार में मन लगाके संयम करने वाला योगी अपने योग बल से जैसा चाहे वैसा ही रूप धारण कर लेता है। योगी परकाय प्रवेश करना चाहे तो सुषुम्ना मार्ग से मन, प्राण को भ्रूमध्य आज्ञा चक्र में लाकर संयम शक्ति द्वारा दूसरे के शरीर में अपने आत्मा की प्रबल भावना करके अपने देह से प्राणवायु, सूक्ष्म शरीर सह निकल कर भ्रमर की तरह उड़ के अन्य शरीर में प्रवेश करता है ।

पाष्ण्याऽऽपीडयगुदं प्राणं हृदुरः कण्ठ मूर्धसु ।
आरोप्य ब्रह्मरन्ध्रेन ब्रह्मनित्वोत्सृजेत्तनुम् ॥२४॥
विहरिष्यन्सुरा क्रीडे मत्स्थं सत्वं विभावयेत् ।
विमाने नोपतिष्ठन्ति सत्व वृतीः सुरस्त्रियः ॥२५॥

यथा संकल्प येत् बुद्ध्या यदावामत्परः पुमान् ।
मयिसत्ये मनोयुञ्जं स्तथातत्समु पाश्नुते ।।२६।।

यदि योगी को शरीर त्यागने की इच्छा हो तो महाबन्ध लगा के मूलबन्ध द्वारा पश्चिम मार्ग सुषुम्ना में मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, हृदय चक्र, होकर विशुद्ध और आज्ञाचक्र से ऊपर मन-प्राण को ब्रह्मरन्ध्र में लाकर स्थूल पंच महाभूत को नष्ट करके ब्रह्म में लय हो जाये अथवा ब्रह्मरन्ध्र सहस्रार फोड़ के शरीर से बाहर परब्रह्म में विलीन हो जाये। यदि योगी को देवताओं के बिहार स्थान में क्रीड़ा करने की इच्छा हो तो मेरे में स्थित शुद्ध सत्त्व की भावना करने से ही सत्वस्वरूपिणी सुर सुन्दरी देवांगनायें योगी के सम्मानार्थ विमान सहित उपस्थित होती हैं। जो महात्मा रे ही परायण हैं, जो मेरे सत्य स्वरूप में ही मन को स्थिर कर सदा ध्यान करना जानता है वह पुरुष अपनी स्थिर बुद्धि से जिस समय जैसा संकल्प करता है उसे तत्काल वही प्राप्त हो जाता है।

योवैमद्भावमापन्न ईशितुर्वशितुः पुमान् ।
कुतश्चिन्नविहन्येत तस्य चाज्ञा यथामम ।।२७।।
मद्भक्त्या शुद्ध सत्वस्य योगिनो धारणाविदः ।
तस्य त्रैकालिको बुद्धिर्जन्म मृत्यूप बृहिन्ता ।।२८।।
अग्न्यादिभिर्न हन्येत मुनेर्योग मयं वपुः ।
मद्योग श्रान्त चित्तस्य यादसामुदकं यथा ।।२६।।

जिस योगी ने अपनी तपस्या के बल से मेरे महान् ऐश्वर्य ईश्वरत्व को प्राप्त कर लिया है और जो मुझे सर्वोपरि समझता

है, उसकी आज्ञा भी मेरी आज्ञा के समान ब्रह्माण्ड में कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। जिस योगी ने अपनी साधना के बल से शुद्ध सत्व का आश्रय कर धारणा, ध्यान, समाधि एवं संयम की शक्ति प्राप्त करली है, ऐसे मेरे परम भक्त योगी की निर्मल बुद्धि स्वभावतः त्रिकालदर्शिनी हो जाती है, कि जिससे वह जन्म-मृत्यु आदि अदृष्ट विषय एवं भूत, भविष्यत, वर्तमान को भली प्रकार जान जाता है। मेरे योग साधन से सिद्धि प्राप्त होने के कारण तथा मेरे ही अनुग्रह से जिसके शरीर, इन्द्रियां, मन, प्राण दिव्य भाव को प्राप्त हो गये हैं ऐसे योगी के दिव्य शरीर को अग्नि आदि कोई भी भौतिक पदार्थ नाश नहीं कर सकते जैसे जल जलजन्तु का नाश नहीं कर सकता।

उपासकस्य मामेवं योग धारणयामुनेः।

सिद्धयः पूर्वकथिता उपतिठ्यन्त्यशेषतः ।।३१।।

जितेन्द्रियस्य दान्तस्य जितश्वासात्मनो मुनेः।

मद्धारणां धारयतः कासासिद्धिः सुदुर्लभा ।।३२।।

योग साधना से मेरी उपासना करने वाले मुनि को धारणा, ध्यान, समाधि और संयम रूप योग धारणा द्वारा पूर्वोक्त समस्त सिद्धियां पूर्णतया प्राप्त हो जाती है इनमें कोई सन्देह नहीं है क्योंकि जो योगी जितेन्द्रिय है, जिसने मन, प्राण एवं शरीर का जय किया है, जो सदा मेरी प्राप्त्यर्थ धारणा, ध्यान परायण रहता है ऐसे संयमी योगी को ब्रह्माण्ड में कौन सी सिद्धि दुर्लभ है जो प्राप्त न हो।

अन्तरायान् वदन्त्येता युञ्जतो योगमुत्तमम् ।
मयासम्पद्यमानस्य काल क्षपणहेतवः ॥३३॥

जन्मौषधितपो मंत्रैर्यावतीरिह सिद्धयः ।
योगेनाप्नोतिताः सर्वा नान्यैर्योगगतिं व्रजेत् ॥३४॥

जिस योगी का मन सर्वोत्तम योग साधना से मेरे में संलग्न हो गया है, उस योगी के लिये केवल सिद्धियों की प्राप्ति का प्रयत्न एवं सिद्धियां व्यर्थ काल क्षेप का कारण होने से अन्तराय विघ्न रूप कही गई हैं। जन्म औषधि, तप और मंत्रादि साधन से जो सब पूर्व कथित कल्पित सिद्धियां मिलती हैं, वे समस्त योगी को समाधि द्वारा स्वयं प्राप्त हो जाती है। परन्तु योग साधना का उद्देश्य सिद्धियां ही प्राप्त करना मात्र नहीं है। वह तो बिना चाहे भी मिलेंगी योग का परम और चरम उद्देश्य तो दिव्य ब्रह्मज्ञान एवं मुक्ति प्राप्त करना है ये सिद्धियां ही ब्रह्मज्ञान की सूचक, प्रकाशक, सहायक एवं निदर्शन रूप हैं। परन्तु इनको ही लेके रहने से बाधक भी होती हैं, इसलिये इनको विघ्न रूप कहा है।

षोडश प्रकाश

अष्टांग योग

जाबाल दर्शनोपनिषत् प्रथम खण्ड

यमश्च नियमश्चैव तथैवासन मेव च ।
प्राणायामस्तथा ब्रह्मन्प्रत्याहारस्ततः परम् ।।
धारणा च तथा ध्यानं समाधिश्चाष्टमं मुने ।।५।।

जिस योग की महिमा स्वयं श्री महेश्वर कहते हैं, जिसका सब शास्त्र नाना प्रकार से वर्णन करते हैं, जिसके अनुष्ठान से रोग, शोक, दुःख, दैत्य का नाश होकर परमानन्द की प्राप्ति होती है, जिससे जन्म और मरण सदा के लिए छूट जाते हैं, ऐसे त्रिताप नाशक, परम पावन योग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठ अंग हैं ।

यम के दश प्रकार

याज्ञवलक्य संहिता अध्याय १

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम् ।
क्षमाधृतिर्मिताहारः शौचं चैव यमादश ।।४६।।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, आर्जव, क्षमा, धृति, मिताहार और शौच ये दश यम कहलाते हैं ।

अहिंसा

कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा ।
अक्लेश जननं प्रोक्तात्व हिंसा परमर्षिभि ॥५०॥

किसी भी प्राणी को मन, वाणी और शरीर से दुःख न पहुँचाना अथवा किसी भी अवस्था में किसी भी प्राणी का वध न करना यह सब धर्मों का मूल रूप महर्षियों और योगियों ने अहिंसा कही है। समस्त जीवित प्राणी मनुष्यों की तरह अपने शरीर को महाप्रिय समझते हैं और ईश्वर के अधिष्ठान से अपने कर्म-फल सुख, दुःख का भोग करते हैं। उनको अपने कर्मभोग से वञ्चित कर देना एवं उनमें से ईश्वर के आसन को उठा देना महा पाप है।

सत्य

मुण्डकोपनिषत्

सत्येन सर्वं प्राप्नोति सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
यथार्थ कथनाचार सत्यं प्रोक्तं द्विजातिभिः ॥

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा ।
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ॥
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो ।
यं पश्यन्ति यतयः क्षीण दोषा ॥

जो कुछ विश्व में दृश्य-अदृश्य है, वह सब सत्य स्वरूप ईश्वर में प्रतिष्ठित है। इसलिये सत्य से ही सब कुछ प्राप्त होता है। सत्य स्वरूप परमात्मा को प्राप्त करने के लिये सत्य

का ही आचरण करने वाले द्विजाति लोग हितकर एवं प्रिय सत्य को ही बोलें क्योंकि शरीर के भीतर में जिस सत्य स्वरूप ज्योतिर्मय शुद्ध आत्मा को निष्पाप यति लोग देखते हैं, वह नित्य आत्मा ब्रह्मचर्य से तपस्या करके एवं यथार्थ ज्ञान द्वारा सत्य से ही प्राप्त होता है। मन, वाणी और कर्म से किसी भी अवस्था में मिथ्या आचरण न करने का नाम सत्य है सत्य से बढ़ कर कोई तप नहीं है। इसलिये सत्य का ही आचरण करना चाहिये।

अस्तेय

जाबाल दर्शनोपनिषत्

परद्रव्यापहरणं चौर्यादथ वलेनवा।
स्तेयं तस्या नाचरण मस्तेयं धर्म साधनम् ॥९॥
अन्य दीये तृणे रत्ने काञ्चने मौक्तिकेऽपिच।
मनसा विनिवृत्तिर्या तदस्तेयं विदुर्बुधाः ॥१०॥

दूसरों का द्रव्य, चीज, सामान, धन-धान्यादि कोई भी वस्तु चोरी करके या मार पीट करके बल से हरण कर लेने का नाम स्तेय (चोरी करना) है। ऐसा अधर्म का आचरण न करना धर्म का साधन अस्तेय कहलाता है। इसलिये जहां कहीं धर्मतः अपना अधिकार न हो, ऐसी पराई वस्तु तृण से लेकर सोना, चांदी, हीरा, मोती, जवाहरात आदि चाहे कितने ही मूल्यवान रत्न क्यों न हों तथापि अन्याय से मन, वाणी एवं शरीर से ग्रहण की इच्छा न करना, चोरी का त्याग, ज्ञानियों ने धर्म का लक्षण अस्तेय कहा है।

ब्रह्मचर्य

याज्ञवल्क्य संहिता अध्याय १

कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासुसर्वदा ।
सर्वत्र मैथुनत्यागो ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते ।।५४।।

स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्य भाषणम् ।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिस्पत्तिरेव च ।।५५।।

एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ।
सर्वाङ्गेभ्य विनिर्मुक्तो यतिर्भवति ने तरः ।।५५।।

यह ब्रह्मचर्य व्रत रखने वाले ब्रह्मचारी के भेद से, नैष्ठिक और उपकुर्वाण नाम से दो प्रकार का है। पुराकाल में ऋषि-मुनियों की यह प्रथा थी कि जो ब्रह्मचारी विद्या पढ़कर गृहस्थी होते थे वे उपकुर्वाण कहलाते थे और जो गृहस्थ न होकर यावज्जीवन ब्रह्मचर्य व्रत रखते थे वे नैष्ठिक कहलाते थे। नैष्ठिक ब्रह्मचर्य मरण पर्यन्त पालन किया जाता है इसलिये यति, संन्यासी या जीवन पर्यन्त ब्रह्मचर्य रखने वालों के लिये कर्म, वाणी और मन द्वारा आठ प्रकार के मैथुन के त्याग का नाम ब्रह्मचर्य है। काम के वश में होकर स्त्री का ध्यान, स्मरण, कीर्तन करना, काम की दृष्टि से स्त्री को देखना एवं उससे हास्य विनोद करना, उससे एकान्त में मिलने की अभिलाषा करना और उसको निश्चय भोग ही लेना—यह मैथुन के आठ प्रकार कहे हैं। इन सब से जो विनिर्मुक्त होता है वही यति ब्रह्मचारी कहलाता है और नहीं। अतएव यति, संन्यासी, ब्रह्मचारियों को उक्त किसी भी अवस्था में स्त्री संसर्ग में न आने के व्रत का

नाम ब्रह्मचर्य है। पपन्तु "ऋतोभार्यातदास्वस्य ब्रह्मचर्य तदुच्यते" सन्तान कामार्थ ऋतु काल में स्त्री-सहवास करना गृहस्थियों का ब्रह्मचर्य कहा है।

वर्तमान काल में इस ब्रह्मचर्य व्रत की बड़ी दुरावस्था है। देश, काल की परिस्थिति का विचार किया जाये तो नैष्ठिक ब्रह्मचर्य रहना महा कष्टकर एवं दुःखदायी है क्योंकि इसको निभाना सहज नहीं है। इसलिये पुराकाल में भी नैष्ठिक ब्रह्मचारी बहुत नहीं होते थे और जो थे वे त्रिकालदर्शी आत्माराम योगी थे। परन्तु पूर्वकाल का अनुकरण करने वाले वर्तमान युग में बहुत देखने में आते हैं कि जिनकी दशा अतीव शोचनीय है। इसलिये नैष्ठिक ब्रह्मचर्य पालन न करके सन्तति मात्र के लिये ऋतु-रक्षार्थ स्त्री-गमन करने वाला गृहस्थी भी ब्रह्मचारी ही है। उसको भी ब्रह्मचर्य का वही फल होता है जो अखण्ड ब्रह्मचारी को होगा। अतएव गृहस्थ के लिये यह व्रत ब्रह्मचर्य ही है जिसे ऋषि, मुनि आचरण करते थे।

दया, आर्जव

जाबाल, दर्शनोपनिषद्

स्वात्म वत्सर्वभूतेषु कायेन मनसा गिरा।
अनुज्ञाया दया सैव प्रोक्ता वेदान्त वेदिभिः ॥१५॥
पुत्रे मित्रे कलत्रे च रिपौस्वात्मनि संततम्।
एक रूपं मुने यत्तदार्जवं प्रोच्यते मया ॥१६॥

दीन दुखियों के प्रति समवेदना प्रकाश, सर्व प्राणी मात्र अपने समान जानकर, मन-वाणी और कर्म द्वारा अनुग्रह वा

प्रेम करने को वेदान्त-वेत्ताओं ने दया कहा है।

पुत्र, मित्र, बन्धु-बान्धव तो क्या शत्रु आदि के साथ भी कुटिलता का त्याग करके सरलता का व्यवहार करना, मन, वाणी और कर्म से प्रवृत्ति और निवृत्ति में समभाव, एक-सा वर्तना आर्जव कहा है।

क्षमा, धृति

कायेन मनसावाचा शत्रुभिः परिपीडिते।
बुद्धि क्षोभनिवृत्तिर्या क्षमा सामुनि पुङ्गव ॥१७॥
वेदादेवबिनर्मोक्षः संसारस्य न चान्यथा।
इति विज्ञान निष्पत्तिधृतिः प्रोक्ता हि वैदिकैः ॥१८॥
अर्थ हानौ च बन्धुनां वियोगे चापि सम्पदि।
भूयः प्राप्तौ च सर्वत्र चित्तय स्थापनं धृतिः ॥१९॥

शक्तिमान होते हुए भी अपना अहित करने वाले को प्रतिफल (दण्ड) न देकर उदारता से माफी दे देना तथा सत्कार, तिरस्कार, मान-अपमान, प्रिय-अप्रिय को सह लेना क्षमा है अथवा मन, वाणी, शरीर से शत्रुओं द्वारा कष्ट पहुँचाने पर भी बुद्धि में क्षोभ न होने का नाम क्षमा है।

संसार में ज्ञान के बिना शान्ति नहीं मिलतीं और न मोक्ष होता है, ऐसा वेद का कथन है। उसको मान के जिस लक्ष्य को मन में धारण किया है हजारों आपत्ति आने पर भी उसे न छोड़ने का नाम धृति है। अर्थ-हानि तथा अपने कुटुम्बीजनों के वियोग से अथवा पुनः सम्पदा प्राप्त होने से सब समय चित्त का समभाव रखना धृति है।

मिताहार

घेरण्ड संहिता, पञ्चम उपदेश

मिताहार बिना यस्तु योगारम्भन्तु कारयेत् ।
नाना रोगो भवेत्तस्य किञ्चिद्योगो न सिद्धयति ।।१६।।

आहार को नियमित रखे बिना यदि योग साधन का आरम्भ किया जाये तो नाना प्रकार के रोग होंगे और योग की किञ्चत्-मात्र भी सिद्धि नहीं होगी । इससे समझ लेना चाहिये कि योग साधन में आहार का नियमित रहना अतीव आवश्यक है । ब्रह्मचर्य और आहार के संयम के बिना चाहे कितना भी ज्ञान, ध्यान, योग, जप, तप क्यो न किया जाये, परमार्थ की सिद्धि नहीं होती । इसलिये योगशास्त्र क्या, कल्याण के पथ-प्रदर्शक सभी शास्त्र पुनः पुनः मैथुन और आहार को नियमित रखने को कहते हैं ।

जो लोग यह समझते हैं कि कम खाने से शरीर सूख जायेगा, पुष्टि नहीं होगी जिससे और काम नहीं बनेगा, उन लोगों की यह धारणा इतनी भ्रमात्मक है कि इसके ही कारण लोग पूरी आयु न भोग कर अल्पायु में ही काल के ग्रास बन जाते हैं क्योंकि जितने मनुष्य अधिक खाकर मरते हैं उतने कम खाकर नहीं मरते संसार में अज्ञानियों ने अपने सुख की सीमा मैथुन और आहार में ही समझ रखी है, परन्तु धैर्य से विचार करके देखा जाये तो पता चलेगा कि इसका परिणाम महा-भयंकर है ।

मनुष्यों के लिये जगत् में भोगने योग्य सभी पदार्थ भोग्य है । यदि नियमित रूप से यह भोग भोगे जायें तो शरीर, मन,

प्राण और इन्द्रियों की शक्ति बढ़ती है कि जिससे तुष्टि और पुष्टि होकर अर्थ और परमार्थ की सिद्धि होती है क्योंकि भोगने के लिये ही इस शरीर की प्राप्ति हुई है। मनुष्य मात्र का ध्येय धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ही है, परन्तु जड़ देह सम्पाद्य भौतिक पदार्थों को लोग भोगना नहीं जानते। संयम और नियम से नहीं रहते।

उनके शरीर, मन, प्राण, इन्द्रियां भोगते-भोगते अनिच्छिक हो गये हैं जिससे उन्हें भोग का इच्छानुसार वास्तविक सुख भी नहीं मिलता। जैसे अजीर्ण वाले व्यक्ति को अच्छा भोजन और ध्वज भंग वाले को स्त्री उसके नाश का ही कारण हो जाते हैं वैसे ही तुम भोगों को नहीं भोग सकते, भोग ही तुम्हें भोग रहे हैं। इसलिये परमार्थ तो क्या, तुम संसार के सुख से भी वञ्चित हो जाते हो। अतएव यदि तुम अपना अभ्युदय चाहो तो तुम्हें आहार और मैथुन (मिताहार और ब्रह्मचर्य) की नींव पक्की करनी चाहिये।

तुम लोग समझते हो कि थोड़ा खाने से जल्दी मर जायेंगे, सो बात नहीं है। बहुत सा खाकर जितनी तुम स्थूल शरीर की पुष्टि करते हो उतना ही तुम्हारा सूक्ष्म शरीर निर्बल हो जाता है। पहलवान लोग धारणा, ध्यान नही कर सकते। योग साधन न करके अस्वाभाविक उपाय से स्थूल शरीर को बढ़ा लेने से सूक्ष्म शरीर दुर्बल हो जाता है। बुद्धि भी स्थूल हो जाती है। इसलिये मस्तिष्क सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषय को ग्रहण नहीं कर सकता। मन एकाग्र करने में बहुत खाने वालों को नींद आ जाती है और तमोगुण से मन मूढ़ता का आश्रय करता है,

स्वल्प भोजन करने वाले मिताहारी व्यक्ति का यदि स्थूल शरीर दुर्बल भी हो तथापि सूक्ष्म शरीर बलवान होता है, इसलिये वह मन को जब चाहे इच्छानुसार एकाग्र कर सकता है।

सूक्ष्म भोजन के कारण उनके स्थूल शरीर की सब नाड़ियों के मल का संशोधन हो जाता है इसलिए रजोगुण और तमोगुण दब जाते हैं या नष्ट हो जाते हैं। सत्वगुण बढ़ जाता है। शरीर में स्फूर्ति और मन में बड़ा उत्साह रहता है। शरीर में मेद और मज्जा आवश्यकता से अधिक न रहने के कारण वात, पित्त, कफ समभाव से रहते हैं, फलतः श्वास-प्रश्वास से लेकर पाकाशय, आमाशय और मूत्राशय की शारीरिक क्रिया नियमित रहने के कारण वे दीर्घायु होते हैं। उनके आयु, बल, बुद्धि, तेज, बढ़ते हैं। मिताहार करने वालों को वैद्य, डाक्टर की भी आवश्यकता नहीं होती। वे जो कुछ भोजन करते हैं, उससे जठराग्नि प्रज्वलित रहने के कारण, अमृत के समान उनके मन, प्राण और शरीर की पुष्टि होती है।

घेरण्ड संहिता तथा याज्ञवल्क्य संहिता

सुस्निग्ध मधुराहार श्चतुर्थांश विवर्जितः।
भुज्यते शिव संप्रीत्यै मिताहारः स उच्यते ॥२२॥

अन्नेन पूरयेदर्धं तोयेनतु तृतीयकम्।
उदरस्य तुरीयांशं संरक्षेत्वायु चारणे ॥२३॥
अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्ष्याः षोडशारण्यवासिनाम्।
द्वात्रिंशद्धि गृहस्थस्य यथेष्टं ब्रह्मचारिणम् ॥६५॥
तेषामयं मिताहार स्त्वन्येवामल्प भोजनम् ॥६६॥

आहार शुद्ध मधुर और स्निग्ध दूध-घृतादि से बना हुआ सुरस पदार्थ, प्रीति सह, आधा पेट खाली रखकर खाना चाहिए। पूरा पेट न भर के, आधा पेट खाने के बाद, तीसरा भाग जल से पूर्ण करना चाहिए और चौथा भाग वायु संचरण के लिए खाली रखना चाहिए। इसको मिताहार कहते हैं। सदा ईश्वर आराधन परायण मुनि सन्यासी केवल मात्र अष्टग्रास अन्न भक्षण करें और अरण्य में रहने वाले वानप्रस्थी या तपस्वी सोलह ग्रास खावें। गृहस्थ को बत्तीस ग्रास भोजन खाना चाहिए तथा विद्या अध्ययन करने वाले बालक, ब्रह्मचारी इच्छानुसार भोजन करें। यह मिताहार निर्दिष्ठ है। जो इस व्रत की रक्षा न कर सकें वे जितना खाते हैं उससे कम खायें।

शौच

शौचन्तुद्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा।
मृज्जलाभ्यां स्मृतंबाह्यं मनः शुद्धिस्तथान्तरम् ।।६७।।

शौच बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का है। मृत्तिका और जल से शरीर की शुद्धि रखना बाह्य शौच कहलाता है। राग द्वेष रहित होकर धार्मिक कर्म करते रहने से तथा अध्यात्म ज्ञान द्वारा चित्त शुद्ध करने से आन्तरिक शौच होता है।

नियम के दश प्रकार

याज्ञवल्क्य संहिता, द्वितीय अध्याय

तपः सन्तोषमास्तिक्यं दानमीश्वर पूजनम्।
सिद्धान्त श्रवणञ्चैव ह्रीर्मतिश्च जपोहुतम् ।।

नियमादश संप्रोक्ता योगशास्त्र विशारदैः ॥१॥

योग शास्त्र के ज्ञाता ऋषि-मुनियों ने तप, सन्तोष आस्तिक्य, दान, ईश्वर-पूजन, सिद्धान्त वाक्य श्रवण, ह्री, मति, जप और हवन—ये दश नियम कहे हैं।

तप

विधितोक्तेन मार्गेण कृच्छ्र चान्द्रायणादिभिः ।
शरीर शोषणं प्राहुस्तपसांतप उत्तमम् ॥२॥

यद्दुष्करं दुराराध्यं दुर्जयं दुरतिक्रमम् ।
तत्सर्वं तपसा साध्यं तपोहि दुरतिक्रमम् ॥३॥

शास्त्र में कायिक, वाचिक, मानसिक नाना प्रकार के तप कहे हैं। जैसा गीता में कहा है, अपनी योग्यता एवं अवस्थानुसार कृच्छ्र, चान्द्रायण, प्राजापत्य तथा पराक आदि में से जो अपने अनुकूल हो वही कर्तव्य है। कामना रहित होकर ईश्वरार्पण बुद्धि से यह व्रत किये जायें तो इन से मन, प्राण और शरीर की सत्वर शुद्धि होती है और तपस्या का उत्कर्ष साधित होता है। इसलिए तपस्वी ऋषि-मुनियों ने उपवास, जप, तप, व्रत आदि द्वारा शरीर के शोषण का नाम तप कहा है। तप से ही मनुष्य देवता होते हैं। सृष्टि के आरम्भ में देवता भी तप द्वारा ईश्वरत्व लाभ करने में समर्थ हुए हैं। स्वयं ब्रह्मा, विष्णु महेश्वर भी तप करके ही ईश्वर हुए हैं।

जो दुराराध्य है, दुर्जय है, जिसको कोई अतिक्रम नहीं कर सकता, वह सब तपस्या से ही साध्य है। तप से सब कुछ

वश में हो जाता है। तप को कोई अतिक्रम नहीं कर सकता। जगत् में परम श्रेष्ठ पदार्थ मोक्ष प्राप्ति के लिए तप ही मुख्य उपाय है। बिना तप किये किसी जीव का भी निस्तार नहीं हो सकता और तप रहित, ज्ञान, ध्यान, भक्ति, योग भी किसी को कभी भी फलीभूत नहीं होते। यह तप ही सारे ब्रह्माण्ड को जय कराता है। तप से कोई कार्य असाध्य या असंभव नहीं है। योग शास्त्र में प्राणायाम से बढ़कर कोई तप नहीं है, इसलिए यह योग साधन ही महान् तपस्या है।

सन्तोष, आस्तिक्य

यदृच्छा लाभतो नित्यं प्रीतिर्याजायते नृणाम्।
तत्सन्तोषं विदुः प्राज्ञाः परिज्ञानैक तत्पराः ॥४॥

ब्रह्मादि लोक पर्यन्ताद्विरक्त्या यल्लभेत्प्रियम्।
सर्वत्र विगत स्नेहः सन्तोषं परमं विदुः ॥५॥
धर्माधर्मेषु विश्वासो यस्तदास्तिक्यमुच्यते।

अपने प्रारब्धानुसार दैवेच्छा से नित्य जो कुछ प्राप्त हो जाये उसमें ही प्रीतिपूर्वक सन्तुष्ट रहने को ज्ञानीजनों ने सन्तोष कहा है। जिनको ब्रह्मलोक पर्यन्त के सुखों की स्पृहा नहीं है, जिनका मन सब विषयों से विरक्त है और जो विगत स्नेह, आसक्ति रहित, परम सन्तोषी हैं, वही परम सुखी हैं। हरेक अवस्था में सर्वदा प्रसन्न शान्त रहने का नाम सन्तोष है। वेद, उपनिषद्, स्मृति, दर्शन आदि शास्त्र में कहे हुए धर्माधर्म रूप फल के निर्णय में दृढ़ विश्वास करना आस्तिक्य कहा है। सर्व शक्तिमान् ईश्वर में आस्था रखना भी आस्तिक्य है।

दान

न्यायार्जितं धनञ्चाल्पमन्यद्वायत्प्रदीयते ।
अर्थिभ्य श्रद्धयायुक्तं दानमेतदुदाहृतम् ।।७।।

न्याय से उपार्जन किया हुआ अल्प या अधिक धन जो कुछ श्रद्धायुक्त होकर पात्र को दिया जाये उसका नाम दान है। यह पवित्र व्रत मनुष्य मात्र का धर्म है। अपने से हीन अवस्था वालों को अन्न, वस्त्र, धन, जन से सहायता करने का नाम दान है। देश, काल और पात्र के भेद से, शुद्ध मन से, कामना रहित दिया हुआ यह दान महा शुभ फल वाला होता है। जो श्रीमान् लोग शारीरिक, मानसिक तप नहीं कर सकते हैं उनके लिए छोटे मोटे पापों से मुक्त होने का एक मात्र उपाय केवल दान ही है। माया मुग्ध जीवों के पाप दान के साथ जाते हैं। दुरावस्थावश जो गृहीता दान लेते हैं वे दान क्या मानों दाता के पाप ही ग्रहण करते हैं। देने वाले गृहीता को पाप देकर उपकृत करते हैं और भाग्यहीन गृहीता भी दान लेकर उपकृत होते हैं।

शास्त्र में दान की बड़ी महिमा कही है। कर्त्तव्य-बोध से प्रत्याशा रहित किया दान दाता का उत्कर्ष साधन करता है। साधारणतया दान शब्द दूसरों का उपकार करने में ही समझा जाता है। परन्तु जब तक अपनी हानि स्वीकार न की जाये तब तक परोपकार नहीं हो सकता। परोपकारी व्यक्ति हानि लाभ के फल की वाञ्छा नहीं करते इसलिए उनके इस दान-व्रत का नाम सेवा है। सेवा में प्रत्याशा किंवा 'हम दूसरों को उपकृत करते हैं'

यह भाव नहीं रहता वरं यही भावना रहती है कि हम किसी की सेवा करके उपकृत होवें। जैसे दान शब्द में दूसरों को उपकृत किया जाता है वैसे ही सेवा में अपने को दूसरों की सेवा के लाभ से उपकृत होना माना जाता है। गौ, बालक, वृद्ध, साधु, ब्राह्मण, माता-पिता, गुरु इत्यादि के लिए जो कुछ कर्त्तव्य किया जाये वह सेवा पद वाच्य हैं, क्योंकि इनसे कोई प्रत्याशा नहीं की जा सकती। इनकी सेवा करना ही धर्म है। तथापि इनके आशीर्वाद से ही मंगल होता है।

ईश्वर, पूजन, सिद्धान्त श्रवण

स्तुति स्मर्णपूजादिभिर्वाङ्ग मनः कार्यकर्मभिः।
सुनिश्चला शिवे भक्तिरेतदीशस्य पूजनम् ॥८॥
यः प्रसन्न स्वभावेन विष्णुं वा रुद्रमेव च।
यथाशक्त्याच्चर्नं भक्त्या एतदीश्वर पूजनम् ॥९॥
वेदान्त शतरुद्रीय प्रणवादि जपं बुधाः।
सत्व सिद्धि करं पुन्सां स्वाध्यायं परिचक्षते ॥१०॥

मन वाणी एवं कर्म से ईश्वर की स्तुति, पूजा और स्मरण में लगे रहना एवं श्री शिव जी में अचल भक्ति करने का नाम ईश्वर पूजन है। प्रसन्न चित्त से, भक्ति यथाशक्ति शास्त्र-कथित श्री विष्णु, महेश्वर, शक्ति आदि अपने उपास्य इष्टदेव का श्रद्धापूर्वक पूजन करना अथवा माता-पिता, गुरु आदि का प्रसन्नतापूर्वक पूजन करना भी ईश्वर पूजन है। वेदान्त, शत-रुद्री आदि ग्रन्थों का पठन तथा गायत्री, प्रणव आदि मन्त्र का जप करने

से मनुष्यों को सत्त्व गुण की सिद्धि होती है जिससे ज्ञान का उत्कर्ष होता है इसलिए इसको स्वाध्याय कहा है। प्रामाणिक ग्रन्थ वेद, उपनिषद्, दर्शन, वेदान्त, धर्मशास्त्र आदि का पढ़ना-सुनना सिद्धान्त-श्रवण है।

ह्री, मति

वेद लौकिक मार्गेषु कुत्सितं कर्म यद्भवेत्।
तस्मिन्भवति या लज्जा ह्रीस्तु सैवेति कीर्त्तिता ॥११॥
विहितेषु च सर्वेषु श्रद्धाया सा मतिर्भवेत्।

वेद और लौकिक व्यवहार में जो कार्य कुत्सित समझे जाते हैं उनमें जो लज्जा की जाती है उसको ह्री कहते हैं। जो बातें व्यवहार में नहीं आती, जैसे नंगा रहना, बिना प्रयोजन हास्य करना, वृद्धों के प्रति असम्मान या उनकी अवज्ञा करना, दूसरों का उपहास करना इत्यादि आचरण में नहीं लाना ह्री (लज्जा) कही है। कोई भी कार्य किया जाये उसको सोच समझ के करना, विहित कर्म का ग्रहण, निषिद्ध का त्याग और विधि-विहित सब कर्मों में जो श्रद्धा है वह बुद्धिमत्ता मति कहलाती है।

जप

गुरुणा चोपदिष्टोऽपि वेद वाह्य विवर्जितः।
विधिनोक्तेनमार्गेण मंत्राभ्यासो जपः स्मृतः ॥१२॥
अधीत्य वेदं सूत्रंवा पुराणं सेतिहासकम्।
एतेष्वभ्यसनंतस्य अभ्यासेन जपः स्मृतम् ॥१३॥

शास्त्र विहित विधिपूर्वक गुरु से ग्रहण किया हुआ मंत्र जपने का नाम जप है। यह जप सब उपासनाओं में आवश्यक

हैं, अतएव मंत्र-जप नियम से होना चाहिये। यह जप वाचिक, उपांशु और मानस—तीन प्रकार का है। कल्प सूत्र, वेद, वेदान्त, दर्शन, धर्मशास्त्र, पुरणादि सत् शास्त्रों का पठन-पाठन करके पुनः-पुनः ध्यान किया जाये, ऐसे स्वाध्याय को वाचिक जप कहा है। अपनी जिह्वा एवं होठ हिलते रहें तथापि दूसरे शब्द न सुन सकें, उसको उपांशु कहते हैं जो वाचिक जप से हजार गुना अच्छा है। जिसमें जीभ और होठ जरा भी न हिलें और मंत्र के पद, अक्षर संगतियुक्त मन ही मन में पूरे शब्द का उच्चारण होता रहे, उसको मानस जप जानना। मानस जप उपांशु से हजार गुना फलदायक होता है।

हवन

भगवद्गीता तथा स्मृति

सर्वाणीन्द्रिय कर्माणि प्राण कर्माणि चापरे।
आत्म संयम योगाग्नौ जुह्वति ज्ञान दीपिते ॥१॥
देवयज्ञं पितृयज्ञं भूतयज्ञं तथैव च।
मानुषं ब्रह्म यज्ञञ्च पञ्च यज्ञान्प्रचक्षसे ॥१॥
अध्यापन ब्रह्मयज्ञ पितृयज्ञश्च तर्पणम्।
दैव होमबलिर्भूत नृयज्ञऽतिथि भोजनम् ॥२॥

योग साधन में बाहर के उपकरण की आवश्यकता नहीं होती। योगी लोग योग साधन रूप यज्ञ की ब्रह्माग्नि में वासनाओं की तिलाञ्जली देते हैं और शाकल्य रूप इन्द्रियों के विषय-व्यापार का हवन करते हैं कि जिससे ज्ञान रूप अग्नि प्रज्वलित होती है। उसमें प्राणरूप घृताहुति देके स्वयं भी

प्राणायाम द्वारा योगाग्नि में प्रवेश करके स्वाहा हो जाते हैं। जो लोग योगशास्त्र कथित आध्यात्मिक ज्ञान यज्ञ नहीं कर सकते उन्हें धर्म शास्त्र कथित भौतिक पञ्च यज्ञ नित्य करने चाहियें। जो गृहस्थी देवता, पितृ आदि के निमित्त से पञ्च यज्ञ न करके अन्न ग्रहण करते हैं वे पाप भक्षण करते हैं—ऐसा धर्मशास्त्र का कथन है। इसलिये धर्मशास्त्र कथनानुसार अपने आश्रमोचित पञ्च यज्ञ करके तब भोजन करना चाहिये।

योग दर्शन में यम और नियम की बड़ी महिमा कहीं गई है और इनके प्रत्येक अंग के साधन का फल दर्शाया है। उनके पालने से शरीर, मन और प्राण को बड़ी अलौकिक, अद्‌भुत शक्ति प्राप्त होती है और योग के आगे के छः अंगों—आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि का साधन सहज हो जाता है इसलिए सार्वभौम महाव्रत कहा है जब तक दृढ़ता से यम-नियम का पालन न किया जायेगा तब तक योग की सिद्धि समाधि नहीं हो सकती।

आसन

घेरण्ड संहिता द्वितीय उपदेश

आसनानि च तावन्ति यावन्त्यो जीव जातयः।
एतेषामतुलान्भेदान्विजानाति महेश्वरः ॥१॥
चतुरशीतिलक्षाणि शिवेन कथितापुरा।
तेषां मध्ये विशिष्टानि षोडशानां शतं कृतम् ॥२॥

योग का तीसरा अंग आसन है। आसन इतने हैं कि जितनी जाति के जीव जन्तु हैं। क्योंकि जीव जन्तु असंख्य हैं इसलिये

आसन भी असंख्य हैं। अतएव नानाविध प्राणियों के नाना प्रकार के आसन होते हैं जिनकी संख्या की तुम कल्पना भी नहीं कर सकते। उन सबका यथातथ्य भेद तो श्री महेश्वर ही जानते हैं, परन्तु प्रत्येक जीव अपने निर्दिष्ट आसन में बैठकर, लेटकर अथवा सो कर आराम करते हैं इसलिए हर एक योनियों के प्राणियों की बैठक का नाम आसन है।

प्राणी आसन में बैठकर अपने शरीर, मन प्राण को विश्राम देते हैं। जब शरीर धारी जीव अपने उदर निमित्त परिश्रम करके थक जाते हैं तब क्लान्ति को दूर करने के लिए सुख पाने की इच्छा से आसन लगा के बैठते हैं, लेटते हैं एवं सोते हैं। ऐसा करने से सुख पाते हैं इसलिए जिसमें सुख प्राप्त हो वही आसन है पहले श्री शिव जी ने चौरासी लाख आसन कहे हैं। शास्त्र में चौरासी लाख योनियां कही हैं, उनके चौरासी लाख आसनों में से सोलह सौ विशेषत्व रखते हैं अर्थात् मनुष्यों के रोग विशेष के लिए लाभदायक हैं इसलिए कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होने से किसी-किसी साधक को आवश्यकतानुसार वे सब आसन स्वत: हो जाते हैं। इन सब आसनों की शिक्षा देना मनुष्य बुद्धि के ज्ञान से परे की बात है।

चतुरशीत्यासनानि सन्ति नानाविधानि च।
तेषामध्येमर्त्यलोके द्वात्रिंशदासनं शुभम् ॥३॥

तेभ्यश्चतुष्कमादाय मयोक्तानिब्रवीम्यहम्।
सिद्धासनं तथा पद्मासनञ्चोग्रञ्च स्वस्तिकम् ॥

श्री महेश्वर ने कृपा करके सर्व साधारण के हित के लिए

चौरासी लाख में से सोलह सौ और सोलह सौ में से भी अधिक लाभदायक चौरासी आसन कहे हैं। जो उतने भी न कर सके उनके लिए बहुत ही हितकर, व्याधि को नष्ट करने वाले, शरीर, मन और प्राण को प्रसन्न करने वाले, शुभ कर्म के साधक, ज्ञान के सहायक और सुखदायक ऐसे बत्तीस आसन कहते हैं— सिद्धासन, पद्मासन, भद्रासन, वज्रासन, स्वस्तिकासन, सिंहासन, गोमुखासन, वीरासन, धनुरासन, मृतासन, गुप्तासन, मत्स्यासन, मत्स्येन्द्रासन, गोरक्षासन, पश्चिमोत्तानासन, उत्कटासन, संकटासन, मयूरासन, कुक्कटासन, कूर्मासन, उत्तानकूर्मासन, उत्तान मन्डूकासन, वृक्षासन, मन्डूकासन, गरुडासन, वृषासन, शलभासन, मकरासन, उष्ट्रासन भुजङ्गासन, योगासन इत्यादि। जो न कर सके उनके लिए सिद्धासन, पद्मासन, स्वस्तिकासन और उग्रासन ये चार अवश्य करने कहे हैं।

हठयोग प्रदीपिका, चतुर्थ उपदेश

विविधैरासनैः कुभैर्विचित्रैः करणैरपि।
प्रबुद्धायांमहाशक्तौ प्राणः शून्ये प्रलीयते ॥१०॥

कुण्डलिनी शक्ति को जगा कर प्राण को पश्चिम मार्ग सुषुम्ना में प्रवेश कराने के लिए इन आसनों के साथ २ क्रमवार महामुद्रा, महाबन्ध, उड्डियान, जालन्धर और मूलबन्ध तथा नाना प्रकार के प्राणायाम एवं नेति, धोति, बस्ति, नोली तथा त्राटक आदि कर्म किये जाते हैं। कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर ब्रह्मरन्ध्र में लाने के लिये खेचरीमुद्रा, शांभवीमुद्रा, शक्तिचालन, परिधान और ताड़न तथा परिचालन आदि हठयोग की कई

एक क्रियायें की जाती हैं जिससे कुण्डलिनी शक्ति शीघ्र जागकर मन, प्राण और शरीर को संगठित करके समाधि में जीव-ब्रह्म की एकता साबित करे। नाना प्रकार के आसन, बन्ध, मुद्रा और प्राणायामादि अनेक प्रकार की विचित्र क्रियायें करने से जब कुण्डलिनी शक्ति जागती है तो प्राण ब्रह्मरन्ध्र शून्याकाश में लय होता है, तब साधक को समाधि हो जाती है। जिससे साधक के कोटि-कोटि जन्म के शुभाशुभ कर्म के संस्कार पाप पुण्य कर्म फल नष्ट हो जाते हैं और वह आवागमन रूप बन्धन से सदा के लियें छूट जाता है व जीवनमुक्त हो जाता है।

यह तो कहा योग साधन का आध्यात्मिक फल, परन्तु इससे भौतिक, शारीरिक लाभ भी यथेष्ट होता है, इन आसनों में कई एक आसन ऐसे हैं जो आमाशय, पाकाशय और मूत्राशय के दोषों को नष्ट करते है क्योंकि इन तीनों की खराबी ही से सब रोग उत्पन्न होते हैं, अतएव जिस जिस-दोष को मिटाने के लिये जो-जो आसन, बन्ध, मुद्रा, प्राणायाम, नाड़ी शुद्धि आदि की क्रियायें हैं। उनको योग्य गुरु से सीख के करने से संग्रहणी, गुल्म, भगन्दर, मेह, प्रमेह, यक्ष्मा, श्वास, कास, शूल, वात व्याधि आदि कठिन से कठिन रोग भी नष्ट होते हैं। बहुत से आसन बन्ध, मुद्रा, प्राणायामादि ऐसे हैं जो स्नायविक दौर्बल्य जनित मस्तिष्क के रोग तथा धातु वैष्म्य से होने वाले बहुत से रोगों का नाश करते हैं।

आसन, बन्ध, मुद्रा, प्राणायामादि क्रमवार युक्तिपूर्वक किये जायें तो शीघ्र योग की सिद्धि होती है अतएव इनकी शिक्षा जिन्होंने प्राण का जय किया हो, जो योग-साधन के क्रम को

भली प्रकार जानते हों, ऐसे गुरु से लेनी चाहिए। तभी जैसा-जैसा कहा शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक फल अवश्य होता है। परन्तु योग से अनभिज्ञ, जो आसन, प्राणायाम के क्रम को नहीं जानते, ऐसे गुरु से इनको शिक्षा लेने पर महा अनर्थ होता है जैसे वैद्यकके विज्ञान से अनभिज्ञ अयोग्य वैद्य से चिकित्सा कराने वाले रोगी रोग मिटने की आशा तो कर ही नहीं सकते, प्रत्युत और रोग हो जाने एवं रोग के बिगड़ जाने का भय रहता है, वैसे ही जो लोग ग्रन्थ देखकर अथवा योग के विज्ञान से अनभिज्ञ गुरु से आसन, प्राणायाम, नेति, धौति, बस्ति इत्यादि क्रियायें सीखकर बिना क्रम के करते हैं उनके रोग मिटना तो दूर रहा उलटे कई एक रोग हो जाते हैं कि जिनका प्रतिकार फिर औषध से भी नहीं हो सकता।

प्रायः देखा गया है कि बहुत से लोग योग की फलश्रुति महिमा को सुनकर योग साधन के ग्रन्थ देखकर या ऐसे ही चलते-फिरते योगियों का वेश बनाये हुए अनभिज्ञ साधु-महात्माओं से योग-साधना का उपदेश लेकर आसन, प्राणायाम, नेति, धौति, बस्ति आदि क्रियायें करने लग जाते हैं जिससे कुछ रोज बाद शारीरिक सब वायु प्रकुपित हो जाते हैं और इस कारण वात, पित्त, कफ—तीनों धातुओं में वैषम्य हो जाता है। फलस्वरूप मन्दाग्नि, अजीर्ण, कोष्टबद्ध, कोष्टकाठिन्य होने लगता है जिससे आमाशय, रक्तामाशय, अर्श, संग्रहणी आदि रोग में से कोई रोग हो जाता है अथवा मूत्रकृच्छ्र, बहुमूत्र, मधुमेह और प्रमेह भी हो सकता है। हिक्का, श्वास, कास, शिर, कर्ण में वेदना और हृदकम्पादि रोग होते हुए भी देखे गये हैं।

प्राणायाम

कूर्मपुराण, अध्याय ११

प्राणः स्वदेहजो वायुरायामस्तन्निरोधनम् ।
रेचकः पूरकश्चैव प्राणायामोऽथकुम्भकः ॥
प्रोच्यते सर्वशास्त्रेषु योगिभिर्यतमानसैः ॥३६॥
रेचको बाह्य निश्वासात्पूरकस्तनिरोधतः ।
साम्येन संस्थितिर्यासा कुम्भकपरिगीयते ॥३७॥

योगशास्त्र का चौथा अंग प्राणायाम है। योगशास्त्र में योग सिद्धि का एक मात्र उपाय प्राणायाम ही कहा है। योग का यावतीव ऐश्वर्य प्राणायाम से ही प्राप्त होता है। इसलिए जितने भी प्रकार के योग हैं वे सभी प्राणायाम से ही चलते हैं एवं प्राण का निरोध (समाधि) होने से समाप्त हो जाते हैं। मन रोकने के साधन के जितने भी ग्रन्थ हैं, वे सब प्राणायाम को ही मन को वश में करने का मुख्य उपाय वर्णन करते हैं। ऐसा कोई भी ग्रन्थ नहीं है कि जिसमें प्राणायाम का वर्णन न आया हो। सध्या, पूजा, मंत्र, यंत्र, जप, तप इत्यादि धर्म-कर्म सब में ही किया जाता है। बिना प्राणायाम किये मन नहीं रुकता, इसलिए सब साधनों में प्राणायाम की आवश्यकता है।

अपने शरीर स्थित वायु का नाम प्राण है और आयाम उसका निरोध करना—प्राणायाम कहलाता है। प्राणायाम रेचक, पूरक और कुम्भक के नाम से सब शास्त्र तथा योगीजनों ने कहा है। श्वास को बाहर निकालने का नाम रेचक है, श्वास को भीतर खीचने का नाम पूरक है एवं श्वास को बाहर छोड़कर

अन्दर खींच के रोक लेने का नाम कुम्भक है। योग शास्त्र में नाना प्रकार के प्राणायाम कहे हैं। इनका विस्तार से वर्णन शिवसंहिता, घेरण्ड संहिता, याज्ञवल्क्य संहिता, हठयोग प्रदीपिका एव योग के कई एक उपनिषदों में भी है। आसन, प्राणायाम, बन्ध-मुद्रा, नाड़ी शुद्धि की क्रियायें, नेति, धौति, बस्ति, नौली, त्राटक आदि सभी क्रियाओं का वर्णन उक्त ग्रन्थों में विस्तार से दिया है। उनमें से देखा जा सकता है।

वायवीय संहिता, अध्याय ३९

प्राणायामेन सिद्धन्ति दिव्याः शान्त्यादयः क्रमात् ।
शान्तिः प्रशान्तिर्दीप्तिश्च प्रसादश्च ततः परम् ॥११॥
सहजागन्तु कानांच पापानां शान्तिरूच्यते ।
तमसोऽन्तर्वहिर्नाशः प्रशान्तिः परिगीयते ॥१२॥
सूर्येन्दु ग्रहताराणां तुल्यस्तु विषयोभवेत् ।
ऋषिनाञ्च प्रसिद्धानां ज्ञानविज्ञान सम्पदाम् ॥१३॥
अतीतानागतानाञ्च दर्शनं साम्प्रतस्य च ।
बुद्धस्य समतां यान्ति दीप्तिः स्यात्तप उच्यते ॥१४॥
स्वस्थता यातु सा बुद्धेः प्रसाद् परिकीर्त्तितः ॥१५॥

प्राणायाम से शान्ति, प्रशान्ति, दीप्ति तथा प्रसाद—ये कितनेक दिव्य गुण क्रम से लाभ होते हैं। शान्ति-वर्तमान एवं आगन्तुक पाप की निवृत्ति, प्रशान्ति-अन्तर और बाह्यतम का नाश, दीप्ति-सूर्य, चन्द्र, ग्रह और तारा के सदृश ज्योतियों के दर्शन ऋषियों के दर्शन तथा अतीत अनागत और वर्तमान, प्रसिद्ध

ज्ञानी एव तत्त्वदर्शी के दर्शन एवं प्रबुद्ध व्यक्ति, ज्ञानी की समकक्षता का लाभ, प्रसाद—आत्मा तुष्टि, आत्मा में बुद्धि का अवस्थान और परम शान्ति इत्यादि दिव्य गुण प्राणायाम से साधक में स्वयं प्रकाशित होते हैं।

प्रत्याहार

जावाल दर्शनोपनिषत्, सप्तम खण्ड

अथातः संप्रवक्ष्यामि प्रत्याहारं महामुने।
इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु स्वभावतः ॥१॥
बलादाहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते।
यत्पश्यति तुतत्सर्वं ब्रह्मपश्न्समाहितः ॥
प्रत्याहारोभवेदेष ब्रह्मविद्भिः पुरोदितः ॥२॥

अब योग का पांचवां अंग प्रत्याहार कहते हैं। स्वभावतः इन्द्रियां अपने-अपने विषय ग्रहण करने में प्रवृत्त रहती हैं। साथ ही मन भी विषयों को ग्रहण करता रहता है। उसको बलपूर्वक विषयों से रोक लेना प्रत्याहार कहलाता है। बाह्य जगत् में जो कुछ दीखता है उस सब को ब्रह्मरूप समझ कर इन्द्रियों को शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि अपने विषयों से रोक लेने को ही ज्ञानियों ने प्रत्याहार कहा है।

धारणा

याज्ञवल्क्य संहिता, अष्टम अध्याय

अथेदानी प्रवक्ष्यामि धारणां पञ्चतत्त्वतः।
समाहित मनास्त्वञ्च शृणु गार्गि तपोधने ॥१॥

यमादि गुणयुक्तस्य मनसः स्थितिरात्मनि ।
धारणेत्युच्यते सद्भिः शास्त्र तात्पर्य वेदिभिः ॥२॥

अब योग का छठा अंग धारणा कहते हैं। योगी याज्ञवल्क्य ने गार्गि से कहा कि हे तपोधने ! अब पंच विध धारणा कहता हूँ, समाहित चित्त होकर सुनो। यम, नियम, आसन, प्राणायामादि साधन से युक्त जिस साधक ने आत्मा में अपने मन की स्थिति दृढ़ कर ली है, शास्त्रों का तात्पर्य जानने वाले महात्माओं ने उस स्थिति को ही धारणा कहा है। यह धारणा योगशास्त्र में नाना प्रकार से कही गई है उनमें पंच महाभूतों के तत्त्व की धारणा ही प्रधान है और भी जितने प्रकार की धारणायें हैं उन सबका फल सहित विस्तार से वर्णन पंचदश प्रकाश में कर दिया है इसलिये इस विषय में यहां अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है।

ध्यान

ज्ञानसंकलिनी तंत्र

ध्येये सक्तं मनोयस्य ध्येय मेवानुपश्यति ।
नान्यं पदार्थं जानाति ध्यान मेत्प्रकीत्तितम् ॥१॥
न ध्यान ध्यान मित्याहुर्ध्यानं निर्विषयं मनः ।
तस्य ध्यान प्रसादेन सौख्यं मोक्षं न संशयः ॥२॥
ध्यानेन लभते मोक्षं मोक्षे न लभते सुखम् ।
सुखेनानन्द वृद्धिस्यादानन्दो ब्रह्मणः विग्रह ॥३॥

योग का सातवां अंग ध्यान है। इस ध्यान का वर्णन योग शास्त्र में नाना प्रकार से किया गया है जैसे साकार-निराकार ''यथाभिमतध्यानाद्वा'' साधक अपनी इच्छानुसार जैसा चाहें ध्यान करे। ''तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम्'' जिस ध्येय में एकतानता, तन्मयता प्राप्त हो वह ध्यान कहा है। ध्येय में लगा हुआ मन उस ध्येय मात्र में अविछिन्न भाव से भावित होकर लगा रहे एवं तन्मय हो जाये और अन्य किसी पदार्थ विषय को उस समय न जाने उसको ध्यान कहते हैं। बाकी जो ध्यान कहे जाते हैं वे ध्यान नहीं हैं। ध्यान तो मन को निर्विषय करने का नाम है। इस ध्यान के प्रसाद से परम सुख होता है और मोक्ष भी होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। ध्यान से ही मोक्ष मिलता है, मोक्ष से ही परम सुख होता है, सुख से ही आनन्द की वृद्धि होती है और आनन्द ही ब्रह्म का रूप है।

समाधि

हठयोग प्रदीपिका चतुर्थ उपदेश

राजयोगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी।
अमरत्वं लयस्तत्त्वं शून्याशून्यं परं पदम् ॥३॥
अमनस्कं तथाद्वैतं निरालम्बं निरञ्जनम्।
जीवनमुक्तिश्च सहजा तुर्याचेत्येक वाचका ॥४॥

अब समाधि के पर्याय वाचक शब्दों का वर्णन करते हैं। राजयोग, समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लय तत्त्व शून्या-

शून्य, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालम्ब, निरञ्जन, जीवन-मुक्ति, सहजावस्था और तुर्यावस्था—ये सब शब्द समाधि के ही पर्यायवाचक हैं।

सलिले सैन्धवं यद्वत्साम्यं भजति योगतः ।
तथात्म मनसौरैक्यं समाधिरभिधीयते ॥५॥

यदासंक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते ।
तदा समर सत्वं च समाधिरभिधीयते ॥६॥

तत्समं च द्वयोरैक्यं जीवात्मपरमात्मनोः ।
प्रनष्ट सर्व संकल्पः समाधिः सोऽभिधीयते ॥७॥

अब योग के आठवें अंग समाधि का वर्णन किया जाता है। योगशास्त्र में समाधि का वर्णन नाना प्रकार से किया गया है जैसे सविकल्प समाधि, निर्विकल्प समाधि, सबीज समाधि, निर्बीज समाधि, सम्प्रज्ञात योग, असम्प्रज्ञात योग इत्यादि। यह समाधि ही योगशास्त्र का चूड़ान्त ज्ञान है। योगी को समाधि हो जाने से ही सब साधन समाप्त हो जाते हैं। जैसे सैन्धव लवण जल में मिलाने से जल रूप हो जाता है, वैसे ही आत्म-तत्त्व में मन संलग्न होने से आत्मरूप हो जाता है, उसको समाधि कहते हैं। जब प्राण-प्रवाह श्वास-प्रश्वास की क्रिया बन्द हो जाती है तो मन निरुद्ध हो जाता है और प्राण सुषुम्ना विवर-स्थित ब्रह्मरन्ध्र में लय हो जाता है तब समाधि होती है। जब जीवात्मा और परमात्मा की एकता साधित होती है और सर्व प्रकार के संकल्प का विनाश हो जाता है तब उनको समाधि कहते हैं।

खाद्यते न च कालेन बाध्यते न च कर्मणा ।
साध्यते न स केनापि योगीयुक्तःसमाधिना ॥१०८॥

अवध्यसर्व शस्त्राणामशक्यः सर्वदेहिनाम् ।
अग्राह्यो मंत्र यंत्राणां योगीयुक्तः समाधिना ॥११३॥

समाधि-स्थित योगी को काल खा नहीं सकता, न उसको कोई कर्म बांध सकते हैं और न उसको कोई वश में कर सकता है। समाधि में स्थित हुआ योगी शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि विषय को नहीं जानता। वह तो केवल अपने आत्मा को ही जानता है। उस अवस्था में उसका चित्त न जाग्रत है और न सुप्त है। न उसे स्मृति है न विस्मृति है और न उसकी वृत्तियों का उदयास्त है। वह निश्चय मुक्त है समाधि में स्थित हुआ योगी शीत, उष्ण, सुख-दुख, मान-अपमान कुछ भी नहीं जानता। जो योगी जाग्रत अवस्था में भी सुप्तवत् रहता है और जिसके श्वास-प्रश्वास की क्रिया तक नहीं होती, निश्चय वह मुक्त है। समाधि में स्थित हुए योगी का किसी भी प्रकार के शस्त्र से वध नहीं किया जा सकता और कोई भी देहधारी उसको अपने अधीन नहीं कर सकते और न वह मंत्र-यत्र द्वारा वश में किया जा सकता है। वह तो अपने स्वरूप में अवस्थित है। समाधि के प्रभाव से उनका देह भी दिव्य हो जाता है इसलिये वह अवध्य है।

राजयोगस्य महात्म्यं को वा जानति तत्त्वतः ।
ज्ञानंमुक्तिःस्थितिःसिद्धिगुरु वाक्ये न लभ्यते ॥८॥

दुर्लभोविषयत्यागो दुर्लभं तत्व दर्शनम् ।

दुर्लभासहजा वस्था सद्गुरोः करुणांबिना ॥६॥

अब राजयोग समाधि के महात्म्य को कहते हैं कि इसको तो तत्वतः कोई विरला पुरुष ही जानता है कि जिसको गुरु कृपा से ज्ञान, मुक्ति, स्थिति और सिद्धि होती है। जब गुरु की कृपा होती है तो प्रथम सिद्धि होती है, फिर स्थिति होती है, स्थिति होने से ज्ञान होता है एवं ज्ञान होने से ही निश्चय मुक्ति भी होती है। सद्गुरु की कृपा के बिना विषयों का त्याग दुर्लभ है और तत्त्वदर्शन भी दुर्लभ है। गुरु की कृपा बिना समाधि अवस्था लाभ करना भी दुर्लभ है। इन सबका ज्ञान गुरु कृपा से ही सुलभ है।

योग चूडामण्युपनिषद्

आसनेन रुजंहन्ति प्राणायामेन पातकम् ॥

विकारं मानसं योगो प्रत्याहारेणमुञ्चति ॥१०९॥

धारणाभिर्मनोधैर्यं यातिचैतन्यमद्भुत्तम् ।

समाधौमोक्षमाप्नोति त्यक्त्वाकर्म शुभाशुभम् ॥११०॥

अष्टांग-योग को विधिपूर्वक कह कर अब उनके साधन का फल कहते हैं कि आसनों से रोगों का और प्राणायाम से पापों का नाश होता है। प्रत्याहार से योगी मानसिक विकारों को त्यागता है और धारणा से मन धैर्य-सम्पन्न होता है। ध्यान से अन्तर में अद्भुत चैतन्य का प्रकाश होता है और समाधि से

शुभाशुभ कर्म का त्याग हो कर योगी को मोक्ष की प्राप्ति होती है।

प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहारः प्रकीर्तितः ।
प्रत्याहारद्विषट् केन जायते धारणा शुभा ॥१११॥

धारणाद्वादश प्रोक्तं ध्यानं योगविशारदैः ।
ध्यान द्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते ॥११२॥

यत्समाधौ परंज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम् ॥
तस्मिन्दृष्टे क्रिया कर्म यातायातोनविद्यते ॥११३॥

योगशास्त्र में योग के प्रत्येक अंग साधन का फल कहा है। बारह घन्टे का आसन हो तो एक घन्टा कुम्भक प्राणायाम का फल होता है और बारह घन्टे का कुम्भक प्राणायाम हो तो एक घन्टे के प्रत्याहार का फल होता है। इसी प्रकार जो साधक बारह घन्टे का प्रत्याहार कर सके उसको एक घन्टे की धारणा का फल होगा और जो बारह घन्टे धारणा कर सके उसको एक घन्टे के समय के ध्यान का फल होगा, ऐसा योगविशारदों ने कहा है। बारह घन्टा ध्यान कर सकने से एक घन्टे की समाधि का फल होता है और उस समाधि में परम ज्योति स्वरूप परमेश्वर का साक्षात्कार होता हैं जिसके फल स्वरूप सभी प्रकार के क्रियाकर्म निवृत्त हो जाते हैं तथा जन्म-मरण सदा के लिये छूट जाते हैं।

शरीर में नाड़ियां और प्राणवायु का संस्थान

योगचूडामण्युपनिषद्

ऊर्ध्वमेढ्रादधोनाभेः कन्दोऽस्ति खगाण्डवत् ।
तत्रनाड्यः समुत्पन्ना सहस्राणि द्विसप्ततिः ॥१४॥
तेषुनाडीसहस्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृता ॥१५॥
प्रधानाः प्राणवाहिन्यो भूयस्तासुदशस्मृताः ।
इडाचपिङ्गलाचैव सुषुम्ना च तृतीयगा ॥१६॥
गान्धारी हस्ति जिह्वा च पुषा चैव यशस्विनी ।
अलम्बु सा कुहूश्चैव शंखिनी दशमीस्मृता ॥१७॥

शरीर में मेढ़ स्थान से ऊपर और नाभि से नीचे के स्थान में पक्षी के अण्डे के आकार का एक कन्द है जिसमें से बहत्तर हजार नाड़ियां उत्पन्न हुई हैं। उनमें बहत्तर को ही मुख्य माना हैं और उन बहत्तर में भी प्रधानतः प्राणवाहिनी दश नाड़ियां—इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पुषा, यशस्विनी, अलम्बुषा, कूहू और शंखिनी यह मुख्य कही गई हैं।

इडाबामेस्थिता भागे दक्षिणे पिङ्गलास्थिता ।
सुषुम्ना मध्येदेशेतु गान्धारी वाम चक्षुषि ॥१८॥
दक्षिणे हस्ति जिह्वा च पूषाकर्णे च दक्षिणे ।
यशस्विनी वाम कर्णे चानने चाप्य लम्बुसा ॥१९॥
कुहूश्च लिङ्ग देशेतु मूल स्थाने तु शंखिनी ।
एवं द्वारं समाश्रित्य तिष्ठन्ते नाड्यः क्रमात् ॥२०॥

इडा पिङ्गला सौषुम्नाः प्राणमार्गे च संस्थिताः ।
सततं प्राणवाहिन्यः सोम सूर्याग्नि देवताः ॥२१॥

शरीर के वामभाग के नासारन्ध्र में इड़ा नाडी है, दक्षिण भाग के नासापुट में पिंगला नाड़ी है, और दोनों के मध्य में स्थित सुषुम्ना नाड़ी है पुषा नाड़ी दक्षिण कर्ण में, यशस्विनी वाम कर्ण में, मुख में अलम्बुसा नाड़ा, कुहूलिंग देश में एवं गुदा स्थान में शंखिनी नाड़ी है। इस प्रकार क्रम से शरीर के नव-द्वारों का आश्रय कर दश नाड़ियां अवस्थित हैं। इन दश में भी इडा, पिंगला तथा सुषुम्ना ये तीन प्राण मार्ग में स्थित हैं और सर्वदा प्राण का वहन करती हैं। इन दश नाड़ियों में यह तीन ही प्रधान हैं और इन तीन में भी एक सुषुम्ना को ही सर्वोपरि कहा है। इसके द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है इडा का चन्द्र, पिंगला का सूर्य एवं सुषुम्ना का अग्नि देवता है।

प्राण के दश नाम और स्थान

प्राणापान समानाख्या व्यानोदानौच वायवः ।
नागः कूर्मोऽथ कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः ॥२२॥
हृदि प्राणः स्थितो नित्य मपानोगुदमण्डले ।
समानो नाभिदेशेतु उदानः कण्ठ मध्यगः ॥२३॥
व्यान सर्व शरीरेतु प्रधानाः पञ्च वायवः ।
उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने तथा ॥२४॥
कृकरः क्षुत्करो ज्ञेयोदेवदत्तो विजृम्भणे ॥
न जहाति मृतं वापि सर्व व्यापी धनञ्जय ॥२५॥

प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय—यह दश प्राणवायु हैं। प्राण हृदय में स्थित है और अपान गुदा में है। समान नाभि देश में रहता है, उदान कण्ठ के मध्य में है एवं व्यान सारे शरीर में व्याप्त है। इस प्रकार शरीर में दश प्राण वायु हैं इनमें प्रथम पांच को प्रधान माना है और शेष पांच का गौण कहा है। प्राण की क्रिया श्वास प्रश्वास है और अपान की क्रिया मल-मूत्र को निस्सरण करना है। समान वायु जठराग्नि का दीपन करता है और उदान भोजन को कण्ठ से नीचे उतारता है, व्यान वायु सारे शरीर का रस से पोषण करता है, नाग वायु से उद्गार आता है और कूर्म वायु से नेत्र का उन्मीलन होता है। कृकर से क्षुधा होती है और देवदत्त से जृम्भाई आती है। शरीर मृत हो जाने पर भी धनंजय उसको नहीं त्यागता। इस प्रकार ये दश वायु शरीर में स्थित रह कर अपने-अपने कार्य सर्वदा किया करते हैं।

पञ्चभूत के गुण-कर्म

ज्ञानसंकलिनी तंत्र

उमा पृच्छति हे देव पिण्ड ब्रह्माण्ड लक्षणम् ।
पञ्चभूतः कथं देव गुणाः के पञ्च विंशति ॥१॥
अस्थिमांसं नखञ्चैव त्वग्लोमानि च पञ्चमम् ।
पृथ्वी पंच गुणाः प्रोक्ताः ब्रह्म ज्ञानेन भाषते ॥२॥
शुक्र शोणित मज्जा च मलमूत्रञ्च पंचमम् ।
अपां पंच गुणाः प्रोक्ता ब्रह्म ज्ञानेन भाषते ॥३॥

भगवती उमा देवी ने श्री महेश्वर से पूछा कि हे देव! पिण्डब्रह्माण्ड का लक्षण कहिये। हे देव! पंचभूत क्या हैं और उनके पच्चीस गुण कैसे हैं, कृपया कहिये। तब श्री महादेव ने कहा सुनो! क्षिति, अप, तेज, मरुत् और व्योम इनका नाम पंचभूत है इनमें अस्थि मांस, त्वक्, नख और लोम—यह पांच पृथ्वी के गुण हैं। शुक्र, शोणित, मज्जा, मल और मूत्र—यह पांच गुण जल के हैं जो ब्रह्मज्ञान से जाने जाते हैं।

निद्रा क्षुधा तृष्णा चैव क्लान्तिरालस्य पंचमम्।
तेजः पञ्च गुणाः प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भाषते ॥४॥
धारणं चालनं क्षेपं सङ्कोचं प्रसरन्तथा।
वायोः पञ्च गुणाः प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भाषते ॥५॥
कामं क्रोधं तथा मोहं लज्जा लोभञ्च पंचमम्।
नभः पंच गुणाः प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भाषते ॥६॥

निद्रा, क्षुधा, तृष्णा, क्लान्ति और आलस्य—ये पांच गुण तेज के हैं। धारण, चालन, क्षेपण, संकोच और प्रसारण—ये पांच गुण वायु के हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह और लज्जा—ये पंच गुण आकाश के हैं जो ब्रह्मज्ञान से जाने जाते हैं।

आत्मतत्त्व, विद्यातत्त्व, शिवतत्त्व

शुक्र शोणितयोर्योगे पंचभूतात्मकस्तनोः।
पातालात्स्वर्ग पर्यन्तं आत्म तत्त्वं तदुच्यते ॥१॥
मूलाधारे तु या शक्तिगुरु वक्त्रेण लभ्यते।
सा शक्तिर्मोक्षदानित्या विद्यातत्त्वं तदुच्यते ॥२॥

अमृतार्णवमध्यस्थं सहस्रदल पङ्कजम् ।
तन्मध्ये निवसेद्यस्तु शिवतत्त्वं तदुच्यते ॥३॥

यह पञ्च भौतिक देह माता-पिता के रज वीर्य से बनता है और आत्मा की सत्ता से सञ्चालित होकर कार्य करता है। इसलिए नीचे पाताल से लेकर ऊपर स्वर्ग पर्यन्त लोक में जितने शरीर हैं उन सब में एक ही आत्मा है—ऐसा जानने को आत्म तत्त्व कहते हैं। मूलाधार में जो कुण्डलिनी शक्ति है, उसका ज्ञान गुरु की कृपा से मिलता है। क्योंकि वही शक्ति नित्य मोक्ष देने वाली है। उसको जान लेने का नाम विद्यातत्त्व है। सहस्रार में स्थित अमृत सागर के मध्य में सहस्रदल कमल है, उस कमल के मध्य में जो निवास करता है, उसको शिवतत्त्व कहते हैं।

अपराविद्या—षड् अङ्ग सहित चारों वेदों के ज्ञान का नाम अपराविद्या है। **पराविद्या**—ऊर्ध्व आम्नाय के महावाक्य जो ब्रह्म के तटस्थ लक्षण का प्रतिपादन करते हैं उसको पराविद्या कहते हैं। **महाविद्या**—योग साधन समाधि का नाम महाविद्या है। **परमाविद्या**—योग साधन का उद्देश्य या लक्ष्य एवं प्राप्त ब्रह्म वस्तु तत्त्व को प्राप्त करना परमाविद्या है। वेदान्त कथित आत्म तत्त्व, विद्यातत्त्व, ब्रह्मतत्त्व और पूर्ण तत्त्व के जानने का नाम ज्ञान है। तंत्र कथित जीवतत्त्व, विद्यातत्त्व, शिवतत्त्व एवं गुरुतत्त्व जानने का नाम परम एवं चरम ज्ञान है। **जीवतत्त्व**—एकमात्र परमात्मा शिव ही जीव रूप हुआ है इसका ठीक-ठीक बोध अनुभव करना जीवतत्त्व कहलाता है। इसको समझने के लिए समाधिज प्रज्ञा होनी चाहिए।

प्रकृतितत्त्व—ब्रह्म की अनिर्वचनीय माया इच्छाशक्ति से यह यावतीय सृष्टिप्रपञ्च का प्रकाश हुआ है। इस सृष्टि के सहित उस शक्ति को समाधिजा प्रज्ञा से वास्तविक रूप में जानने का नाम प्रकृति तत्त्व है। **ब्रह्मतत्त्व**—सगुण और निर्गुण (साकार-निराकार) का उभयात्मक ज्ञान जो समाधि प्रज्ञा से होता है वह ब्रह्म तत्त्व है। **पूर्णतत्त्व**—जीव, प्रकृति और ब्रह्म इन तीनों का जो यथार्थ ज्ञान परमा समाधि में होता है, वह पूर्ण तत्त्व है। **शक्ति**—इच्छा शक्ति, ज्ञान शक्ति, क्रिया शक्ति, चित्त शक्ति और आनन्द शक्ति। इच्छा शक्ति मन की, क्रिया-शक्ति प्राण की, ज्ञान शक्ति बुद्धि की, चित्त-शक्ति पराबुद्धि (महत् तत्त्व) की और आनन्द शक्ति प्रकृति की है। इस प्रकार चेतन के आश्रय से प्रकृति देवी महामाया क्रीड़ा कर रही है। इन सब विषयों के ज्ञान का अनुभव समाधि द्वारा होता है। बिना समाधि के इनका ज्ञान किसी को भी नहीं हो सकता—ऐसा योगशास्त्र का कथन है।

योग चतुष्टय

योग तत्त्वोपनिषद्, शिवसंहिता, योगशिखोपनिषद्

योगो हि बहुधा ब्रह्मन् भिद्यते व्यवहारतः।
मंत्र योगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगतः ॥३१९॥

मंत्र योगो हठश्चैव लययोगस्तृतीयतः।
चतुर्थो राजयोगः स्यात्सद्विधा भाववर्जितः ॥१७॥

मंत्रो लयोहठो राजयोगोऽन्तर्भूमिकाः क्रमात् ।
एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते ॥१२६॥

अब श्री महेश्वर व्यवहार के भेद से चार प्रकार के योग को कहते हैं। पहिला मंत्रयोग, दूसरा हठयोग, तीसरा लययोग और चौथा राजयोग कहलाता है जो सर्व प्रकार के द्वैत ज्ञान से रहित है। ये मत्र, लय, हठयोग तथा राजयोग क्रमशः अन्तर्भूमिकायें हैं। कहा जाता है इसमें चारों एकत्र किये जाते हैं। इसलिए इसकी महायोग संज्ञा है। महायोग कुण्डलिनी शक्ति के जागरण से स्वतः होता है और उसमें चारों योग आवश्यकतानुसार होते हैं। योग सभी प्रकार के एक मात्र महायोग के अन्तर्गत होने पर सभी अधिकारी के भेद से चार प्रकार के कहे हैं।

शिव संहिता तथा वराहोपनिषद्

चतुर्धा साधकोज्ञेयो मृदुमध्याधि मात्रकः ।
अधिमात्र तमः श्रेष्ठोभवाब्धौ लंघनक्षमः ॥१८॥

मृदु मध्यम मंत्रेषु क्रमान्मंत्र लयं हठम् ।
लयमंत्र हठयोग योगो ह्यष्टाङ्ग संयुतः ॥१०॥

इनके अधिकारी साधक भी मृदु, मध्यम, अधिमात्र और अधिमात्रमय भेद से चार प्रकार के हैं। उनमें अधिमात्रतम साधक ही श्रेष्ठ है जो भवसागर से पार होने की क्षमता रखता है इसलिए मृदु, मध्यम, अधिमात्र अधिमात्रतम साधक के भेद से उनकी योग्यतानुसार क्रमशः मंत्रयोग, लययोग, हठयोग और

राजयोग करने को कहे हैं जो यम-नियमादि सहित अष्टांग योग कहलाता है।

साधक चतुष्टय

शिव संहिता, पञ्चम पटल

मन्दोत्साही सुसम्मूढो व्याधिस्थोगुरु दूषकः ।
लोभी पाप मतिश्चैव बह्वाशी वनिताश्रय ॥१६॥
चपलः कातरो रोगी पराधीनोऽतिनिष्ठुरः ।
मन्दाचारीमन्द वीर्यो ज्ञातव्योमृदुसाधकः ॥२०॥
द्वादशाब्दे भवेत्सिद्धि रेतस्य यत्नतः परम् ।
मंत्र योगाधिकारी स ज्ञातव्यो गुरुणाध्रुवम् ॥२१॥

अब श्रीमहेश्वर मृदु साधक के लक्षण कहते हैं कि जो साधक मन्द उत्साही, सुसम्मूढ़, प्रतिभा रहित, व्याधि ग्रस्त, गुरु-निन्दक, लोभी, पाप बुद्धि, बहुभोजी, स्त्री के आश्रित, चपल, कातर, रोगी, पराधीन, अतिनिष्ठुर, आचारहीन और हीनवीर्य हो—ऐसे को मृदु साधक समझना ऐसा साधक यदि यत्न सह योग साधन करता रहे तो उसको बारह वर्ष में योग सिद्धि होगी। गुरु को चाहिए कि ऐसे मृदु अधिकारी को मंत्रयोग का उपदेश देवें।

समबुद्धिः क्षमायुक्तः पुण्याकांक्षी प्रियं वदः ।
मध्यस्थः सर्वकार्येषु सामान्य स्यात् न संशय ॥२२॥
एतज्ज्ञात्वैव गुरुभिर्दीयते युक्तितोलयः ॥२३॥

अब लययोग के अधिकारी मध्यम साधक के लक्षण कहते

हैं कि जो साधक समबुद्धि अर्थात् जिसकी बुद्धि न तीव्र है और न मन्द है ऐसा क्षमाशील पुण्यार्थी—पुण्य कर्म करने की इच्छा वाला, प्रियभाषी और मध्यस्थ, सब कार्य में निर्लिप्त रहने वाला हो—ऐसे मध्यम साधक को गुरु लययोग का साधन प्रदान करें। उसको नव वर्ष में योग सिद्धि होगी।

स्थिरबुद्धिर्लयेयुक्तः स्वाधीनो वीर्यवानपि।
महाशयो दयायुक्तः क्षमावान्सत्यवानपि ॥२४॥
शूरोलयस्य श्रद्धावान् गुरुपादाब्जपूजकः।
योगाभ्यासरतश्चैव ज्ञातव्यश्चाधिमात्रकः ॥२५॥
एतस्यसिद्धिः षड्वर्षैर्भवेदभ्यास योगतः।
एतस्मैदीयते धीरैर्हठः योगश्चसाङ्गकः ॥२६॥

अब अधिमात्र साधक के लक्षण कहते हैं कि जिस साधक ने लययोग की क्रियायें आयत्व करली हैं जो स्थिर बुद्धि है, स्वाधीन है, वीर्यवान् है, जो महदाशय है, दयार्द्र है, क्षमाशील एवं सत्यनिष्ठ सुखी है, जो लययोग में श्रद्धालु है एवं गुरुपाद पद्म का पूजक है, जो निरन्तर योगाभ्यास में लगा रहता है, उसको अधिमात्र अधिकारी जानना। ऐसे अधिकारी को योगाभ्यास करते रहने से छः वर्ष में योग सिद्धि होगी गुरु को चाहिए कि उसको सांगोपांग हठयोग का उपदेश देवें।

महावीर्यान्वितोत्साहो मनोज्ञः शौर्यवानपि।
शास्त्रज्ञोऽभ्यास शीलश्चनिर्मोहश्चनिराकुलः ॥२७॥
नवयौवन सम्पन्नो मिताहारीजितेन्द्रियः।
निर्भयश्च शुचिर्दक्षो दाता सर्व जनाश्रयः ॥२८॥

अधिकारी स्थिरोधीमान् यथेच्छावस्थितः क्षमी ।
सुशीलोधर्मचारी च गुप्त चेष्टः प्रियंवदः ॥२९॥
शान्तोविश्वास सम्पन्नो देवता गुरु पूजकः ।
जनसङ्ग विरक्तश्च महाव्याधि विवर्जितः ॥३०॥
अधिमात्रोव्रतज्ञश्च सर्वयोगस्य साधकः ।
त्रिभिः संवत्सरेः सिद्धि रेतस्य स्यान्न संशयः ॥३१॥
सर्वयोगाधिकारी स नात्र कार्य विचारणा ॥३२॥

अब अधिमात्रतम साधक के लक्षण कहते हैं कि जो साधक महावीर्यवान, उत्साही, मनोज्ञ, शौर्यवान, शास्त्रज्ञ, अभ्यास, परायण, मोह शून्य, निराकुल, नव यौवन सम्पन्न, मिताहारी, जितेन्द्रिय, निर्भीक, पवित्र कार्य दक्ष, दाता, सब जनका आश्रय, सब विषयों का अधिकारी, स्थिरमति, धीमान्, स्वेच्छावशे अवस्थित, क्षमाशील, सुशील, धर्मचारी, गुप्त चेष्ट, एकान्त में योग साधन करने वाला प्रियभाषी, शान्त, विश्वास सम्पन्न, देव गुरु पूजक, जन संसर्ग वर्जित, महा व्याधिहीन और व्रतज्ञ हो—इस प्रकार के साधक को अधिमात्र तम कहते हैं। वह सभी प्रकार के योग साधन में समर्थ होता है। ऐसे साधक को तीन वर्ष में योग सिद्धि का लाभ होता है। इसमें कोई स नहीं है, ऐसा साधक सभी प्रकार के योग का अधिकारी है इ विचारने की कोई बात ही नहीं—उसके लिए राजयोग सर्वोत्तम है।

मन्त्र योग

प्राण तोषणी तंत्र

बिना जपेन देवेशि जपो भवति मंत्रिणः ।
अजपेयं ततः प्रोक्ता भवपाश निकृन्तनी ॥१॥
श्रीगुरो कृपया देवि ज्ञायते जप्यते तदा ।
उच्छ्वासनिश्वासतया तदाबन्ध क्षयोभवेत् ॥२॥
उच्छ्वासे चैव निश्वासे हंस इत्यक्षरद्वयम् ।
तस्मात्प्राणस्तु हंसात्मा आत्मा कारेण संस्थितिः ॥३॥

श्री महेश्वर अब मंत्र योग को कहते हैं कि हे देवेशि ! बिना जप किये ही साधक को जो मंत्र-जप होता है उसको अजपा गायत्री कहते हैं जो भव बन्धन का नाश करने वाली है। उसको गुरु द्वारा जान कर विधिपूर्वक जपने से श्वास प्रश्वास का निरोध होकर समाधि होती है तो जीव के बन्धन का नाश होता है। यह प्राण श्वास प्रश्वास में "हंस" ऐसे दो अक्षरों को सर्वदा जपा करता है इसलिए यह प्राण ही हसात्मा है और आत्म रूप से शरीर में स्थित है।

योगशिखोपनिषत् प्रथम अध्याय

हकारेण बहिर्याति साकारेण विशेत्पुनः ।
हंसेति परमं मंत्र जीवोजपति सर्वदा ॥३०॥
षट् शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येक विंशति ।
अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी ॥३१॥

गुरु वाक्यात्सुषुम्नायां विपरि तो भवेज्जपः ।
सोऽहं सोह मित्ति प्रोक्तो मंत्रयोगः स उच्यते ।।३२।।
प्रतिति मंत्र योगस्य जायते पश्चिमेपथिः ।

यह प्राण श्वास-प्रश्वास रूप से 'हं' कार शब्द से बाहर आता है और पुनः 'स' कार से अन्दर जाता है इस प्रकार हंसः हंसः इस परम मंत्र को जीव सर्वदा जपा करता है। इसका नाम अजपाजप है जिसे दिन रात में जीव इक्कीस हजार छः सौ बार जपता है। यह अजपा नाम की गायत्री है जो योगियों को मोक्षदायिनी है। इसको गुरु वाक्य से सुषुम्ना में विपरीत जपा जाता है तब इसका जप "सोहं-सोहं" होता है इसको मंत्र योग कहते हैं। मंत्र योग से प्राणवायु पश्चिम मार्ग सुषुम्ना में चलने लगता है। उस समय सोहं में से 'स' निकाल देने से 'ओ' रह जाता है और 'हम्' में से 'ह' छोड़ देने से 'म्' रह जाता है अर्थात् ओम् हो जाता है। यह ॐ प्रणव ही सब मंत्रों का मूल है। इससे ही सब कुछ प्राप्त होता है।

घेरण्ड संहिता, पञ्चम उपदेश

देहाद्बहिर्गतो वायुः स्वभावो द्वादशाङ्गुलिः ।
गायने षोडशाङ्गुल्यो भोजने विंशतिस्तथा ।।८५।।
चतुर्विंशाङ्गुलीः पान्थे निद्रायांत्रिंशदङ्गुलिः ।
मैथुनेषट् त्रिंशदुक्तं व्यायामेच ततोऽधिकम् ।।८६।।
स्वभावेऽस्य गतेन्युने परमायुः प्रवर्द्धते ।
आयुः क्षयोऽधिके प्रोक्तो मारुते चान्तराद्गते ।।८७।।

शरीर में स्थित प्राण वायु की क्रिया श्वास-प्रश्वास के बाहर देश में जाने आने की गति का परिमाण स्वाभाविक बारह अंगुल है। वह गाने में सोलह अंगुल, भोजन समय में बीस और पथ चलने में चौबीस, निद्रा में तीस, मैथुन में छत्तीस अंगुल और व्यायाम में इससे भी अधिक लम्बी गति होती है। परन्तु स्वाभाविक बारह अंगुल से अधिक गति हो तो आयु का क्षय होता है और न्यून होने से परमायु की वृद्धि होती है। अजपा जप से इसकी गति कम की जाती है। जितनी श्वास प्रश्वास की गति कम होगी उतनी ही जल्दी योग की सिद्धि होगी और आयु भी बढ़ेगी।

लय योग

हठयोग प्रदीपिका, चतुर्थ उपदेश

श्रीआदि नाथेन सपाद कोटि लय प्रकाराः कथिता जयन्ति।
नादानुसन्धानकमेक मेव मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम् ॥६६
अशक्य तत्त्व बोधानां मूढानामपि संमतम्।
प्रोक्तं गोरक्षनाथेन नादोपासन मुच्यते ॥६५॥

श्री महेश्वर ने चित्त का लय करने के लिये सवा करोड़ प्रकार के उपाय कहे हैं परन्तु उन सब में मन के लय करने का एकमात्र साधन नादानुसन्धान ही मुख्यतम है। लययोग में समाधि के लिये नाद ही श्रेष्ठ साधन कहा है। गोरक्षनाथ कहते हैं कि जो लोग अज्ञानी हैं मूढ़ हैं, तत्त्व को जान नहीं सकते उनके लिये यह नादानुसन्धान उपासना सर्वोत्तम है, नाद से मन सहज में ही वशीभूत हो जाता है इसलिये सभी साधकों

को इसका अभ्यास करना चाहिये ।

मुक्तासने स्थित योगी मुद्रां संधाय शांभवीम् ।
क्षृणुयाद्दक्षिणेकर्णे नादमन्तः स्थमेकधीः ।।६७।।

कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां यं शृणोतिध्वनिमुनिः ।
तत्र चित्तं स्थिरीकुर्याद्यावत्स्थिरपदं व्रजेत् ।।८२।।

श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधोमहान् ।
ततोऽभ्यासेवर्धमाने श्रूयते सूक्ष्मसूक्ष्मकः ।।८४।।

योगशास्त्र में लय योग साधन की क्रिया शांभवी मुद्रा और नादानुसन्धान ही है इसलिये मुक्तासन में बैठके शांभवी मुद्रा आखों के तारों को उलटा कर ऊपर उठा के अन्तर में दृष्टि करके दक्षिण कर्ण में नाद का लक्ष्यकर अन्तर में जो ध्वनि होती है उसमें मन लगावें इसके लिए दोनों हाथ की तर्जनी अंगुलियों से दोनो कान के रन्ध्र को बन्द करके स्वस्थ चित्त होकर नाद की ध्वनि सुने और उस ध्वनि में ही मन को स्थिर करे, पहिले पहिले अभ्यास काल में नाद नाना प्रकार के और बड़े जोर के सुने जाते हैं परन्तु जैसा जैसा अभ्यास बढ़ता जायेगा नाद भी सूक्ष्म होते जायेंगे, नाद श्रवण की विधि यही है कभी घन कभी सूक्ष्म निकट और दूर ध्वनि का लक्ष्य करके उसमें ही मन का लय करें जिस प्रकार के नाद में जैसा भी मन लगे तन्मयता प्राप्त करनी चाहिये ।

योगशास्त्र में नाद श्रवण की महिमा बहुत ही कही है जैसे भ्रमर पुष्प मधुमकरन्द का पान करता हुआ पुष्पों के गन्ध की

अपेक्षा नहीं करता तैसे ही नाद में आसक्त हुआ चित्त भी विषयों की कांक्षा नहीं करता, विषय रूपी उद्यान में विचरने वाले हस्ति रूपि मन को नाद ही नियंत्रण करने में अंकुश रूप है, नाद में बन्धा हुआ मन अपनी चपलता को छोड़ देता है जैसे पँख कट जाने से पक्षी निरूपाय होता है, इसलिये सब चिन्ता त्याग के सावधान चित्त होकर नाद का ही अनुसन्धान करना चाहिये, यह अनाहत ध्वनि जो बिना आहत-ताड़ना के स्वयं होती है उस ज्ञेय के अन्तरगत ज्ञेय रूप प्रकाशमान् चैतन्य है और उस ज्ञय के अन्तरगत मन है और उस ज्ञेय में ही मन का विलय होता है उसको ही विष्णु का परमपद कहते हैं, जब तक नाद होते रहते हैं तब तक ही अन्तर आकाश से शब्द के संकल्प होते हैं परन्तु नाद में मन का लय हो जाने से निःशब्द निर्विकल्प समाधि होती है, निःशब्द वह परब्रह्म ही परमात्मा शब्द को कहा जाता है, जो कुछ नाद रूप से सुना जाता है वह शक्ति ही है और जिसमें तत्त्वों का लय होता है वह निराकार परमेश्वर है, हठयोग के आसन, बन्ध, मुद्रा, प्राणायामादि और लययोग के नाद एवं शांभवी मुद्रा आदि उपाय हैं वे सम्पूर्ण वृत्ति निरोध रूप राजयोग के ही समाधि की सिद्धि के लिये ही कहें हैं इसलिये राजयोग को प्राप्त हुआ पुरुष ही काल को जीत लेता है।

हठयोग

प्राणतोषणी तंत्र तथा योगशिखोपनिषद्

इदानीं हठ योगस्तु कथ्यते हठ सिद्धिदः।
कृत्वासनं पवनाशं शरीरे रोग हारकम् ॥१॥

पूरकं कुम्भकश्चैव रेचकं वायु ना भजेत् ।
इत्थं क्रमोत्क्रमं ज्ञात्वा पवनं साधयेत्सदा ॥
धौत्यादि कर्मषट् कञ्च संस्कुर्यात् हठ साधकः ॥२॥
हकारेण तु सूर्यः स्यात्सकारेणेन्दु रुच्यते ।
सूर्य चन्द्र मसोरैक्यं हठ इत्यभिधीयते ॥
हठेनग्रस्यतेजाड्यं सर्व दोष समुद्भवम् ॥१॥

अब साधक को सिद्धि देने वाले हठयोग को कहते हैं कि शरीर के रोग को नाश करने वाले आसनों को करके पूरक, कुम्भक और रेचक प्राणायाम करें इस प्रकार क्रम से नाना प्रकार के आसन, बन्ध, मुद्रा नाना प्रकार के प्राणायाम तथा नाड़ी शुद्धि की क्रियायें नेति, धौति, बस्ति आदि षट्कर्म हठयोग में किये जाते हैं वह करने चाहिये हठयोग का प्रधान अंग प्राणायाम है, हकार नाम सूर्य नाड़ी प्राण का है और सरकार नाम चन्द्र नाड़ी तथा अपान का है प्राण अपान की एकता प्राणायाम ही हठ-योग कहलाता है, यह प्राणायाम की सिद्धि के लिये हठयोग में आसन, बन्ध, मुद्रा तथा नाड़ी शुद्धि की क्रियायें षट्कर्म किये जाते हैं, हठयोग से शरीर की जड़ता का नाश होता है और सब रोग नष्ट होकर प्राण का जय होने से राजयोग की प्राप्ति होती है।

राजयोग

योग स्वरोदय तथा योग शिखोपनिषद्

इदानीं कथयिस्यामि राजयोगस्यलक्षणम् ।
राजयोग कृते पुम्भिः सिद्धि चिह्नं भवेदिति ॥१॥

परिपूर्णं भवेच्चित्तं जगत्स्थोऽपि जगद् बहिः ।
न क्षोभं जन्ममृत्युश्च न सुखं न दुखं तथा ।।२।।

अणिमादि पदं प्राप्य राजते राजयोगतः ।
प्राणापान समायोगो ज्ञेयं योग चतुष्टयम् ।।१३८।।

श्री महेश्वर अब राजयोग को कहते हैं कि राजयोग की प्राप्ति होने से पुरुष सिद्धि सम्पन्न हो जाता है और उसका चित्त परिपूर्ण हो जाता है बाहर और अन्तर ज्ञान से परिपूर्ण पुरुष कभी भी क्षोभ को प्राप्त नहीं होता, न उसका जन्म होता है न मृत्यु होती है और न उसको जगत् के सुख-दुःख होते हैं, वह तो सर्वदा अपने आत्म स्वरूप में निमग्न रहता है, उसको योग के यावतीय ऐश्वर्य अणिमादिक सिद्धियों की प्राप्ति हो जाती है फलस्वरूप वह कृतार्थ हो के जीवनमुक्त होकर रहता है। इस प्रकार यह योग के विषय में जो कुछ कहा गया वह चारों योग में प्राण अपान की एकता को ही योग जानना, क्योंकि प्राण अपान की एकता से ही चारों योग सिद्ध होते हैं इसलिए हरेक योग में प्राण का जय करना आवश्यक है।

विश्व व्यापी प्राण

भगवद्गीता अध्याय ७

भूमि रापोऽनलोवायुः खं मनोबुद्धिरेव च ।
अहंकारं इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।।४।।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीव भूतां महाबाहो ययेदं धारयेत जगत् ।।५।।

जगत् में दो तत्त्व जानने योग्य हैं उनकी क्रियाशक्ति के कारण ही संसार का सारा व्यापार चल रहा है, मन और प्राण के कारण ही तुम जीव कर्त्ता और भोक्ता बनते हो अतएव मेरा ज्ञान लाभ करने के लिये मनस्तत्त्व और प्राण तत्त्व को जानना चाहिये इनके ही ज्ञान से तुम अपने अभीष्ठ की सिद्धि शीघ्र कर सकोगे, मनस्तत्त्व के लिये वेदान्त उपनिषदादि ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिये और प्राण तत्त्व के लिये योगशास्त्र कथित योग साधन करना होगा, मन और प्राण दोनों की क्रिया से तुम्हारी जीवन यात्रा का निर्वाह होता है, इन दोनों में किसी एक का भी अभाव हो जाये तो तुम निर्जीव और निष्क्रिय हो जाओगे।

क्योंकि मेरी अपरा और परा दो प्रकार की प्रकृति है, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश तथा मन, बुद्धि और अहंकार यह अपरा प्रकृति जड़ है इसमें बिना प्राण के चेतना क्रिया नहीं होती इसलिये दूसरी मेरी चेतन परा प्रकृति है कि जिसमें सब जीव धारण होते हैं, सब जीव भूतों को धारण करने वाली प्राण शक्ति परा प्रकृति ही तुम्हें सब कुछ करा रही है, बिना प्राण की सहायता के तुम कोई कार्य नहीं कर सकते, मन रूपी अपरा प्रकृति जड़ है और प्राण रूपी परा प्रकृति चेतन है इसकी सहायता से तुम हम से मिल सकोगे।

प्राण, वायु नहीं है और न श्वास प्रश्वास ही प्राण है

छान्दोग्य तथा कैवल्योपनिषद्

प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः सवायुताज्योतिषाभाति च तपतिच सुप्तेषु वागादिषु प्राणएको हि जागृति प्राण एको।

मृत्युनाऽनाप्तः प्राणः संवर्गो वागदीन् संवृङ्क्ते ।
प्राणइतरान्प्राणन् रक्षति मातेव पुत्रान् ॥

प्राण ही ब्रह्म का चतुर्थ पाद है वह वायु ज्योति द्वारा अभिव्यक्त होता है और तपता है, वेद में प्राण का वायु से पृथक् वर्णन किया है तथा इन्द्रियों की वृत्ति से भी प्राण का पृथक् उपदेश है, जब वाक् आदि इन्द्रियां सुप्त होती हैं तब प्राण अकेला ही जागता है और प्राण ही एक ऐसा है जो मृत्यु को प्राप्त नहीं होता, इसलिए प्राण संवर्ग है वाक् आदि आदि इन्द्रियों का संग्रहण करता है, माता जैसे सन्तानों की रक्षा करती है वैसे ही प्राभ भी अन्यान्य प्राणों का संरक्षण करता है, यह प्राण ही सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त है, प्राण, वायु नहीं है और न श्वास-प्रश्वास ही प्राण है, प्राण प्राणी मात्र की जीवनशक्ति है, श्वास-प्रश्वास के द्वारा मुख्य प्राण की क्रिया प्रकाश पाती है, शरीर में प्राण है और क्रिया कर रहा है यह श्वास-प्रश्वास ही इसका बोधक है।

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्व इन्द्रियाणि च ।
खंवायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥१५॥

जब सृष्टि हुई तो परमात्मा से प्रथम प्राण की उत्पत्ति हुई पश्चात् मन इन्द्रियां, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी आदि हुए यदि प्राण वायु होता तो आकाश के बाद वायु उत्पन्न करने की क्या आवश्यकता थी, इससे समझ लेना चाहिए कि प्राण, वायु नहीं है परन्तु प्राण की क्रिया चञ्चल होने के कारण वायु संज्ञा दी है, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि में जो क्रिया देखने में आती

है वह सब प्राण की ही क्रिया है अर्थात् प्राण विश्व व्यापी है, उस महान् प्राण की क्षुद्र शक्ति तुम्हारे शरीर में क्रिया कर रही है, और उस क्रिया शक्ति के कारण ही प्राणीमात्र में चेष्टा देखने में आती है, परमात्मा ने सब प्राणियों को प्राणशक्ति ग्रहण का अधिकार समान दे रखा है परन्तु प्राणियों को निज-निज कर्मानुसार जैसे शरीर प्राप्त होते हैं उन शरीर के प्रमाण में ही वे प्राण शक्ति ग्रहण करते हैं, जैसे हाथी का शरीर बहुत ही बड़ा होता है इसलिए उसमें प्राणशक्ति भी अधिक होती है और वह अन्य प्राणियों की अपेक्षा बलवान होता है, चींटी का शरीर बहुत ही छोटा होता है इसलिए उनमें प्राण शक्ति भी कम होती है परन्तु आत्मा की शक्ति सब प्राणियों में एक-सी है, मनुष्य से इतर प्राणी विवेक न होने के कारण अपने शरीर की अपेक्षा अधिक शक्ति संग्रह नहीं करते परन्तु मनुष्य में विवेक होने के कारण पुरुषार्थ द्वारा यथेष्ट शक्ति संचय कर कृत्य-कृत्य हो सकते हैं।

प्राण ही महाशक्ति है

प्रधान शक्तयः प्राणस्ते वै संसार रक्षकः ।

वशीकृतेषु प्राणेषु जीयते सर्वमेवही ।।

प्राण की असीम शक्ति संचय करने में अष्टांग योग ही एक मात्र उपाय है, शरीरस्थ प्राण के निरोध किये बिना अन्य किसी उपाय से इस अलौकिक प्राण शक्ति का संग्रह नहीं हो सकता, समुद्र में असीम जल है एक समय में उसका ग्रहण करना असंभव है परन्तु उस अगाध जल में से एक बिन्दु पान करने से

समुद्र के यावत् जल का स्वाद जाना जाता है इसी तरह विश्व व्यापी प्राण का ज्ञान एक समय में होना असम्भव ह तथापि शरीरस्थ क्षुद्र प्राण को जान लेने से विश्व स्थित प्राण का ज्ञान सहज ही हो सकता है क्योंकि प्राण ही महाशक्ति है प्राग ही जगत् का रक्षक हे प्राण के वशीभूत करने से सब कुछ जय होता है अर्थात् जाना जाता है प्राग के अन्तर्गत ब्रह्माण्ड में दृश्य-अदृश्य जो कुछ है वह सब शरीर के प्राण को जानने से जाना जाता है यह वार्ता योगी लोग मुक्त कण्ठ से कहते हैं।

आत्म न एष प्राणो जायते यथैवा।
पुरुषे छायै तस्मिन्ते तद्दाततम् ॥

यह प्राण आत्मा से उत्पन्न होता है और उसकी छाया रूप होकर सर्वदा रहता है जैसे छाया पुरुष से पृथक् नहीं होती तैसे ही आत्मा और प्राण पृथक् नहीं हैं प्राण के साथ पुरुष आत्मा का जितना निकट सम्बन्ध है उतना किसी इन्द्रिय अथवा मन से नहीं है। उपनिषद् में उद्‌गीथ विद्या में प्रणव के साथ प्राण की उपासना कही है, ऋषि लोग उद्‌गीथ स्वरूप प्राण की उपासना करके बहुत काल तक जीवित रहते थे और अलौकिक शक्ति सम्पन्न होकर महान् आश्चर्य तत्त्व का अनुभव करते थे उद्‌गीथ रूप प्राण की उपासना के दो मार्ग हैं पूर्व और पश्चिम, पूर्व मार्गावलम्बी ज्ञानी जन मुक्त कहलाते थे और पश्चिम मार्गावलम्बी योगी लोग सिद्ध कहलाते थे, इन दोनों मार्ग में फल का विशेष तारतम्य नहीं है परन्तु ऐश्वर्य का बड़ा भारी तारतम्य हैं, पूर्व मार्ग से प्रणव की उपासना करने वाले ज्ञानी जनों को योग का ऐश्वर्य अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति सहज में नहीं होती, अष्टांग योग साधन न कर प्रणव के जप ध्यान से मन की एकाग्रता होती है, प्रकृति पर विजय

नहीं होती फलस्वरूप उन्हें शारीरिक क्लेश भी यथेष्ठ होना है इसका शेष फल ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है कि जहां से कल्पान्त में पुनरावृत्त होती है।

योग शिखोपनिषद्

नाकृतं मोक्ष मार्गं स्यात्प्रसिद्धं पश्चिमं बिना।
पश्चिम द्वार मार्गेण जायते त्वरितं फलम् ॥१४२॥

इसलिए श्री महेश्वर कहते हैं कि मोक्ष देने वाला ब्रह्म नाड़ी सुषुम्ना का पश्चिम मार्ग प्रसिद्ध है और मार्ग द्वार से योगसाधन का फल भी सत्वर मिलता है। जब तक सुषुम्ना में होकर प्राण ब्रह्मरन्ध्र सहस्रार में नहीं जाता तब तक मोक्ष नहीं होता मुक्ति प्राप्त करने का केवल यही मार्ग है, परन्तु जो लोग इस मार्ग में नहीं आते और अन्य मार्ग से जाते हैं उनकी मुक्ति कैसे हो सकती है, प्राण की दो अवस्था हैं—स्पन्दन और लय, इसी तरह मन की भी दो अवस्था हैं एकाग्र और निरुद्ध, उद्‌गीथ रूप प्रणव की उपासना से मन एकाग्र होता है, तब प्राण स्पन्दन होता है परन्तु मन निरुद्ध नही होता इसलिए प्राण का भी लय नहीं होता, परन्तु उद्‌गीथ रूप प्राण की उपासना प्राणायाम से मन निरुद्ध होता है तो प्राण का भी लय हो जाता है। मन के निरोण होने से और प्राण के ब्रह्मरन्ध्र में लय होने से ही योग साधन की सफलता होती है और योग का यावातीय ऐश्वर्य प्राप्त होता है इसलिए मन तथा प्राण का जय करना परम आवश्यक है। केवल मात्र मन के जय से प्रकृति पर प्रभुत्व नही हो सकता परन्तु प्राण के जय से मन जय भी सहज ही हो जाता है और प्रकृति भी वशीभूत हो जाती है यही योगशास्त्र का सिद्धान्त है।

सप्तदश प्रकाश

मंत्र की आवश्यकता

भगवद्गीता अध्याय ४

कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धि यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ।।१२।।

हमारे जितने भी धर्म ग्रन्थ हैं वे सब देवता और मन्त्र का ही प्रतिपादन करते हैं इसलिए जितने भी धर्म कर्म हैं वे सभी देवता एवं मन्त्र के साथ संलग्न हैं। बिना देवता और मन्त्र के कोई भी धर्म-कर्म नहीं किये जा सकते। जप, तप, व्रत, सेवा, पाठ, पूजन, यज्ञ, दान, योग, ज्ञान, ध्यान, भक्ति आदि सभी क्रियाकर्म में मन्त्र की आवश्यकता है।

बिना मन्त्र और देवता के चाहे कोई भी सकाम-काम्य कर्म किया जाये वह तामसिक होता है, जैसे बिना मन्त्र बोले अग्नि में हवन करना व्यर्थ है और उसका फल भी दुखरूप अज्ञान ही होता है। धर्मशास्त्र कथनानुसार मन्त्र और देवता के बिना काम्य कर्म करने वालों के सभी कर्म निष्फल होते हैं क्योंकि मन्त्र शक्ति के देवता ही, कर्म कर्त्ता के मन्त्र, क्रिया, कर्मानुसार फल देते हैं।

जो लोग अपने कामनायुक्त धर्म-कर्म के फल की सत्वर सिद्धि चाहते हैं वे मन्त्र द्वारा देवताओं की आराधना करते हैं। क्योंकि इस मनुष्य लोक में केवल मात्र एक ईश्वर के बिना और

अन्यान्य दूसरे सभी देवता मनुष्य के काम्यकर्म, यज्ञ, क्रिया, हवन, जप, बली आदि से संतुष्ट होते हैं और कर्त्ता के क्रिया कर्म से देवता प्रसन्न होकर मनोवांच्छित फल देते हैं। सत् कर्म पुण्य का फल सुखरूप भोग ऐश्वर्य और असत् पाप कर्म का फल दुख रूप रोग, शोक, दीनता, दरिद्रता के देने वाले देवता हैं। देवता कई प्रकार के हैं उनकी उपासना के मंत्र एवं क्रिया कर्म भी नाना प्रकार के हैं जिनका वर्णन धर्मशास्त्र और मंत्रशास्त्र में विस्तार से किया है।

मंत्र शक्ति प्रत्यक्ष है

जैसे निर्वासना वाले निष्काम कर्म योगियों के लिये परम शान्तिदायक आत्म तत्त्व का यथार्थ ज्ञान लाभ करने के लिये योगशास्त्र प्रत्यक्ष दर्शन है, वैसे ही महा अशान्तिदायक भोग ऐश्वर्य की वासना वाले सकामियों के लिये मंत्र शास्त्र भी प्रत्यक्ष फलप्रद है। प्रथम ही कहा गया है कि योगशास्त्र कथित अष्टांगयोग साधन का फल प्रत्यक्ष है। तैसे ही मंत्र शास्त्र कथित पाठ, पूजन, जप, तप, हवन, बली आदि के साधन से मंत्र शक्ति का फल भी प्रत्यक्ष होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। इसलिये चाहे कोई कितना भी नास्तिक क्यों न हो तथापि योग, मंत्र और औषधि की सिद्धि को अस्वीकार नहीं कर सकता। क्योंकि इन तीनों का फल सदा से प्रत्यक्ष होता आया है—प्रत्यक्ष ही है।

वास्तविक मंत्र, औषधि और योग की शक्ति का कार्य सर्वदा प्रत्यक्ष होने पर भी इनके यथार्थ विज्ञान का गुप्त रहस्य

अपनी गुरु परम्परा से होता आया है। इसलिये इनके ग्रन्थों से हरेक को लाभ होना दुर्लभ है इस विषय में इनके ज्ञाता योग्य गुरु से इनकी शिक्षा दीक्षा ले के मंत्र एवं योग का अनुष्ठान करना चाहिये तभी सिद्धि होती है। बहुत से लोग इनकी फल श्रुति के प्रलोभन में पड़कर बिना गुरु के इसके ग्रन्थ देखकर मंत्र का अनुष्ठान और योग-साधना करते हैं जिनका फल प्रायः विपरीत ही देखा गया है। इस प्रकार मंत्र जप करने वाले कितने ही क्षिप्त, पागल, विक्षिप्त चित्त हुए देखे गये हैं। ऐसे ही बिना गुरु के ग्रन्थ देख के योगाभ्यास करने वाले लोग प्रायः रोगी हो जाते हैं और शरीर तथा मन से महा दुखी देखे जाते हैं। इसलिये मंत्र का अनुष्ठान और अष्टांगयोग का साधन समझ कर करने की आवश्यकता है।

मंत्र का अर्थ

कुब्जीका तंत्र, पञ्चम पटल

कथयामि महामंत्रं मंत्रार्थञ्चमहेश्वरि।
येनविज्ञान मात्रेण सर्वसिद्धिश्वरोभवेत् ॥१॥
केवलं भाववुध्याच मंत्रार्थं प्राणवल्लभे।
केवलं ज्ञान योगेन जीवन्मुक्तोभवेद्ध्रुवम् ॥२॥

श्री महेश्वर भगवती पार्वती देवी के प्रति कहते हैं कि अब मैं महामंत्र और मंत्र का अर्थ कथन करता हूं, सुनो! इसका विज्ञान जानने ही मात्र से मनुष्य साधक सर्व प्रकार की सिद्धियों का स्वामी, ईश्वर तुल्य हो जाता है। यह मंत्र के विज्ञान का भावार्थ केवल भाव बुद्धि से ही प्रकाश पाता एवं जाना

जाता है इसलिए केवल इस मत्र के ही भावना युक्त ज्ञान योग से साधक निश्चय जीवनमुक्त हो जाता है।

कुलार्णव तंत्र तथा रुद्रयामल तंत्र

मननं विश्व विज्ञानं त्राणं संसार बन्धनात्।
यतः करोति संसिद्धो मंत्र इत्युच्यते ततः ॥१॥
यमभूतादि सर्वेभ्यो भयेभ्योऽपि सुरेश्वरि।
त्रायते सततञ्चैव तस्मान्मंत्र इतिरितः ॥२॥

जिसका मनन करने से विश्व का विज्ञान होता है अर्थात् विश्व स्थित यावतीय तत्त्व जिससे यथातथ्य जाने जाते हैं जो संसार बन्धन का नाश करके सर्व प्रकार की सिद्धियों को करता है इसीलिए मन्त्र कहा जाता है। रोग, शोक, दु:ख, दैन्य, पाप, ताप आदि सांसारिक सारे भय से एवं महा दुखदायी यम-यातना मृत्यु से सर्वदा रक्षा करता है इसलिए भी इसको मन्त्र कहा है।

मननात्तत्व रूपस्य देवस्यामित तेजसः।
त्रायते सव भयतस्तस्मान्मंत इतीरितः ॥३॥
मननात्प्राणनाच्चैव मदरूपस्याव बोधनात्।
मंत्र इत्युच्यते समयक् मदधिष्ठानतः प्रिये ॥१॥

जिससे दिव्य ज्योतिर्मय अमित तेज स्वरूप आत्म तत्त्व का मनन होता है। जो मनन करने का हेतु एवं सर्व प्रकार के भय से रक्षा करने का कारण है और प्रत्येक अवस्था में साधकों की रक्षा करता है; इसलिए शास्त्र ने इसको मन्त्र कहा है। इसका चिन्तन, मनन तथा ध्यान करने से मेरे शिव-स्वरूप का बोध

होता है। निश्चय इसमें मेरा अधिष्ठान है। इसका अवलम्बन करके ज्ञानीजन मुझसे मिलते हैं और मैं उनसे मिलता हूँ इसलिए इसको मन्त्र कहते हैं।

मंत्र का स्वरूप

मातृका भेदतन्त्र, दशम पटल

नरा कृतिं गुरुं नाथ मंत्र वर्णात्मकं तथा।
ध्यानानुरूपिणं देव मेकत्वं वाकथं भवेत् ॥१॥

श्री महेश्वर से देवी भगवती ने कहा कि हे नाथ ! गुरु तो मनुष्य की आकृति वाले हैं और मंत्र भी वर्णात्मक रूप अक्षर मात्र हैं एवं जो देवता हैं वह भी साधक के ध्यान की अभिरुचि के अनुरूप मूर्तिमान होते हैं। ऐसी अवस्था में मन्त्र जप करने वाले साधक का मन्त्र, देवता, जीवात्मा और परमात्मा के साथ एकत्व कैसे हो सकता है ?

गुरु वक्त्रान्महा मंत्रो लभते साधकोत्तमैः।
यद्देवो जायते बीजस्तस्य मूर्तिर्भवेद्ध्रुवम् ॥२॥
देवतायाः शरीरं हि बीजादुत्पद्यते प्रिये।
गुरोराज्ञानुसारेण वान्य मूर्तिस्तु जायते ॥२॥

श्री महेश्वर बोले कि हे देवी ! जब योग सामर्थ्य वाले मंत्र सिद्ध सद्गुरु के मुख से कहा हुआ महामन्त्र को ग्रहण करके उत्तम साधक जपता है तो जिस देवता का जो बीज मन्त्र है, वह मन्त्र बीज अक्षर ही निश्चय उसी देवता का मूर्तिरूप हो जाता है, क्योंकि देवता का शरीर बीज मन्त्र से ही उत्पन्न होता

है जैसे बीज से वृक्ष होता है। वह बीज मन्त्र अक्षर ही शक्तिमान गुरु की आज्ञानुसार अन्य मूर्ति देवता का रूप बन जाता है जिसको साधक देखता है।

गन्धर्व तन्त्र

सर्वेषामेव देवानां मंत्र माद्य शरीरकम्।
द्वितीयं कथ्यते देव यत्पुनर्ध्यान गोचरम् ॥१॥

मंत्राणां चिन्तनाद् देवि समनुर्देवता स्वयम्।
ध्यानेन दर्शनं दत्वा पुनर्मंत्रेषु लीयते ॥२॥

मन्त्र को बीज कहते हैं। जैसे किसी भी वृक्ष के बीज में अंकुर, पत्र, शाखा, प्रशाखा, पुष्प, फल सहित सारा वृक्ष निहित है एवं वह बीज ही का आदि शरीर प्रथम रूप है, वैसे ही बीज मन्त्र में समग्र ऐश्वर्य युक्त देवता निहित रहते हैं। यह बीज मंत्र वर्ण अक्षर ही देवता का आदि शरीर, प्रथम रूप है जो दृष्टिगोचर है। जैसे भूमि में बीज वपन कर जल सिंचन करते रहने से पत्र, पुष्प, फलयुक्त वृक्ष हो जाता है वह वृक्ष बीज का दूसरा शरीर होता है, वैसे ही शिष्य की हृदय भूमि में गुरु मंत्र बीज-वपन करते हैं, तब शिष्य के जप रूप जल सिंचन से उसी बीज मन्त्र से देवता प्रकट होते हैं। मन्त्र बीज का वह रूप देवता का दूसरा शरीर है जो जप से साधक को ध्यान गोचर होता है।

हे देवी! मंत्र का जप, ध्यान, चिन्तन करने से बीज मंत्र अक्षर ही स्वयं देवता का रूप हो जाता है और ध्यान में साधक को दर्शन देकर जैसे वृक्ष फल रूप होकर पुनः अपने कारण बीज

में समा जाता है ठीक वैसे ही देवता फलप्रद होकर (मनोवांछा पूर्ण करके) पुनः उस बीज मंत्र में ही लीन हो जाते हैं। यह वर्णात्मक बीज मंत्र अक्षर ही देवता का मूल रूप एवं आदि शरीर है।

जपे न देवता नित्यं स्तूयमान प्रसीदति।
प्रसन्ना विपुलान्कामान्दद्यान्मुक्तिञ्च शाश्ववतीम् ॥३॥

साधक के नित्यप्रति मंत्र-जप, ध्यान, स्तुति, पूजादि आराधना से देवता सदा प्रसन्न होते हैं, प्रसन्न होकर साधक को नाना प्रकार के भोग रूप ऐश्वर्य देते हैं एवं अन्त में शाश्वती मुक्ति भी देते हैं।

मातृका भेदतंत्र, दशम पटल

गुरुणांश्चैव मंत्राणां देवानामपि पार्वती।
मनः पवनयोश्चैव मेकत्वेन विभावनात् ॥१॥
गुरवादि भावनात् देवि भावसिद्धि प्रजायते।
अतएव महेशानि चैकत्वं परिकथ्यते ॥२॥

श्री गुरु की कृपा से मंत्र-शक्ति जाग्रत होने से साधकों को चाहिए कि गुरु, मंत्र, देवता में मन एवं प्राण में एकत्व की भावना करें। श्री गुरु से चैतन्य और सिद्ध मंत्र प्राप्त होते हैं। चैतन्य मंत्र से ही कुछ कुण्डलिनी शक्ति जागृत होती है, और देवताओं के दर्शन होते हैं। देवताओं के दर्शन से ही मन-प्राण का लय साधित होता है और मन-प्राण का लय होने से साधक को समाधि होती है। इस प्रकार गुरु, मन्त्र, देवता आदि में एकत्व की भावना करके मंत्र-जप करने से भाव समाधि

होती है। अतएव गुरु, मन्त्र तथा देवता के साथ जप ध्यान में एकत्व और मन-प्राण का लय होने मे समाधि में साधक का आत्मा-परमात्मा के साथ एकत्व हो जाता है।

मन्त्र के गुरु

योगिनी तन्त्र, प्रथम पटल

गुरु को वा महेशान वदमे करुणामय।
तत्तोऽप्यधिकं एवायं गुरुस्त्वया प्रकीर्त्तितः ॥१॥

देवी भगवती ने श्री महेश्वर से कहा कि हे करुणामय! महेशान! आपने अपने से भी अधिक गुरु की महिमा कही है, अतएव इस मन्त्र विषय के सृष्टा, दृष्टा और वक्ता गुरु कौन हैं? कृपया कहिये।

काशी क्षेत्रं निवासोऽस्य जाह्नवी चरणोदकम्।
गुर्विश्वेश्वरः साक्षात्तारक ब्रह्म निश्चितम् ॥२॥
आदिनाथो महादेवि महाकालोहि य स्मृतः।
गुरुः स एव देवेशि सर्व मंत्रेषु नापरः ॥३॥

श्री महेश्वर ने कहा कि हे महादेवी! जिनका काशीक्षेत्र (भ्रूमध्य आज्ञा चक्र) में नित्य निवास है और जिनके चरण में जाह्नवी भगवती गंगा (इड़ानाड़ी) सर्वदा प्रवाहित हो रही है वही शिव विश्वेश्वर साक्षात् तारक ब्रह्म ही निश्चित् सब के गुरु हैं। जो आदिनाथ शिव हैं वही महाकाल के नाम से प्रसिद्ध हैं। अतएव हे देवेशि! सर्व प्रकार के मन्त्र और उनके देवताओं के भी वही गुरु हैं। जगत् में मेरे बिना दूसरा और कोई देव गुरु नहीं है।

वृद्ध पाराशर स्मृति

शिव सूर्यो गणेशश्च शक्तेर्विष्णु यथा क्रमम् ।

उपासनानां पञ्चानां पञ्च तत्त्व विवेकतः ॥

निर्णयो मुनिभिः प्रोक्तः कृतः सूक्ष्मार्थं दर्शिभिः ।

वेद एवं स्मृति आदि धर्म शास्त्र में जो धर्म-कर्म करने को कहे हैं उनकी उपासना के शिव, शक्ति, विष्णु, सूर्य और गणपति-ये देव पंचायतन (पांच देवता) हैं । इनके विषय में सूक्ष्मदर्शी मुनियों ने निर्णय करके कहा है कि यही हमारे प्रधान पांच देवता सर्व प्राणियों के कर्म-फल विधाता हैं । वेद शास्त्र तथा स्मृतियों के कथनानुसार सब लोग सदा से इन के ही निमित्त, इनसे ही फल पाने की इच्छा से धर्म, कर्म करते आये हैं और करते ही रहेंगे । यही देवता हमारे भाग्य के विधाता और कर्म फल प्रदाता हैं । इनका आदि-अन्त कोई नही जानता । यही अनादि देव ब्रह्माण्ड के अधिपति सबको कर्मानुसार फल देने वाले एवं हमारे लिए उपासना करने योग्य परमेश्वर हैं ।

श्रौत (श्रुति युक्त वैदिक) एवं स्मार्त्त (स्मृति कथित) कर्म के यही शिव, शक्ति, विष्णु, सूर्य और गणपति अनादि पंचदेव हैं । इनमें शिव की आराधना करने वाले शैव शक्ति की उपासना करने वाले शाक्त और विष्णु की सेवा-पूजा-शक्ति करने वाले वैष्णव कहलाते हैं । गणपति का पूजन करने वाले गाणपत्य और सूर्य को पूजने वाले सौर कहलाते हैं । परन्तु निर्गुण ब्रह्म की उपासना करने वाले ब्रह्मवादी ज्ञानी योगीजन महाशैव

कहलाते हैं। इनके सम्प्रदाय हैं जिनकी संज्ञायें ये हैं —

शैवे शाक्ते वैष्णवे व गाणपत्ये तथैव च।
महाशैवे च सौरे च सगुरुर्नात्र संशयः॥
मंत्र वक्ता स एव स्यान्नापरः परमेश्वरि॥४॥

अतएव, हे परमेश्वरी! पंचदेव की उपासना करने वाले उपासक शैव, शाक्त, वैष्णव, गणपत्य, सौर और महाशैव इत्यादि सबके शास्त्रों एवं मन्त्रों के गुरु एकमात्र शिव ही हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है क्योंकि स्वयं शिव ने ही सब देवताओं के मंत्र कहे हैं। अतः दूसरा कोई गुरु नहीं है।

शिव रूप गुरु का परिचय

मंत्र प्रदान कालेहि मानुषे गिरिनन्दिनी।
अधिष्ठानं भवेत्तस्य महाकालस्य शंकरी॥५॥
अतो न गुरुता देवि मानुषे नात्र संशयः।
अधिष्ठान वशात्तस्य मानुषस्य महेश्वरि।
महात्म्यं कीर्त्तितं तस्य सर्व शास्त्रेषु शंकरि॥६॥

हे महेश्वरी! मनुष्य के गुरुपने की महानता का परिचय कहता हूँ, सुनो! जिन सद्गुरु के लक्षण नवम प्रकाश में कथन किये हैं वैसे शिव-भावापन्न योग शक्ति सामर्थ्य वाले परम्परागत सिद्धों के शिष्य एवं गुरुद्वारा गुरुपद में प्रतिष्ठित जप' तप, ज्ञान, ध्यान, योग परायण हों—ऐसे गुरु कृपा करके योग्य शिष्य को जब प्रसन्न होकर दीक्षा या चैतन्य सिद्ध मंत्र प्रदान करते हैं अथवा किसी भी देवता का कोई भी मन्त्र देते हैं उस समय

मन्त्र बल से वे अपने शिव गुरु का आवाहन करते हैं। तब उन मनुष्य रूप गुरु में महाकाल शिव का अधिष्ठान हो जाता है और वह मनुष्य गुरु स्वयं शिव रूप हो जाता है। परम गुरु महाकाल शिव के अधिष्ठान का आश्रय करके गुरु शिष्य को जो शक्ति, ज्ञान अथवा कोई भी मन्त्र देते हैं तो उस मन्त्र के साथ शिष्य में शैवी शक्ति संक्रमण होती है। फलस्वरूप चैतन्य मन्त्र जप करने मात्र से शिष्य भावाविष्ट होकर गुरु-शक्ति के मंत्र-बल से इष्ट-देवता के दर्शन करता है अथवा गुरु की पूर्ण कृपा हो तो अष्टांग योग साधन स्वयं करता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यह गुरुता मनुष्य गुरु की नहीं हो सकती क्योंकि यह कार्य मनुष्य की शक्ति का नहीं है। श्री महेश्वर के अधिष्ठान के कारण ही उन मनुष्य गुरु में गुरुत्व आता है। शिव के अधिष्ठान के कारण उनके आश्रय वाला, परम शिव गुरु का प्रतिनिधि मनुष्य गुरु ही मनुष्य मात्र का गुरु है। उन मनुष्य रूप गुरु के द्वारा ही योग्य अधिकारी मनुष्यों को सदा से ज्ञान-ध्यान की शिक्षा-दीक्षा, धर्म-कर्म तथा जप-तप के मंत्र मिलते आये हैं जिनसे उत्तम अधिकारी साधक लोग अपना अभीष्ट धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्राप्त करते रहे हैं। इसीलिए सभी शास्त्रों ने और मैंने भी, उन मनुष्य गुरु की महिमा मेरे ही सदृश तथा मुझ से भी बढ़कर कही है। गुरु भी मेरा ही रूप है। मैं अदृश्य हूँ वह दृश्य है, मैं अपरोक्ष हूँ, वह प्रत्यक्ष है। उनके द्वारा ही साधक मुझे पाते हैं। वही मेरे ज्ञान के प्रकाशक हैं। उनकी पूजा ही मेरी सेवा है परन्तु जो मेरी कृपा (गुरु शक्ति) पाये बिना गुरु बनते हैं। वह गुरु (बैल) पशु हैं।

अतएव महेशानि कुतोहि मानुषोगुरुः ।
मानुषे गुरुता देवि कल्पना न तु मुख्यतः ।।
मोक्षो न जायते देवि मानुषे गुरु भावनात् ।।७।।

अतएव हे महेशानि ! मुझ शिव के अधिष्ठान बिना मनुष्य गुरु कैसे हो सकता है ? हे महादेवी ! मनुष्य में तो गुरुत्व की कल्पनामात्र है। वास्तव में गुरु तो मनुष्य में शिवजी की शक्ति और उनका अधिष्ठान होना ही है। बिना शिव के अधिष्ठान के कोई मनुष्य गुरु नहीं हो सकता। जिन पर वे कृपा करें, जो गुरुपद के योग्य हों उनमें ही शिव का अधिष्ठान होता है। जो लोग मनुष्य को ही गुरु समझते हैं अथवा गुरु में मनुष्यों की भावना करते हैं उनको न तो ज्ञान ही होता है और न मोक्ष ही होता है।

शिव रूप गुरु का परिचय

गुरुरेकः शिवः प्रोक्तः सोऽहं देवि न संशयः ।
गुरुतामपि देवेशि मंत्रोऽपि गुरुरुच्यते ।।
अतो मंत्रे गुरु देवे नहि भेदः प्रजायते ।।८।।

हे देवेशि ! सभी के गुरु केवल एक मात्र शिव ही कहलाते हैं। वह मैं ही स्वयं हूँ, इसमें कोई संदेह नहीं है। परन्तु मंत्र में भी गुरुता है क्योंकि मत्र के आश्रय से मेरे वास्तविक स्वरूप एवं मेरे अधिष्ठान का आश्रय करने वाले मनुष्य में गुरु के गुरुत्व (शक्ति-सामर्थ्य) का परिचय तथा प्रकाश होता है और इससे ही साधक अपना अभीष्ट (मेरी प्राप्ति, ज्ञान एवं मोक्ष) पाते

हैं। इसीलिये मंत्र भी गुरु कहलाता है। मंत्र और मंत्र प्रदाता गुरुदेव में कोई भेद नहीं है, यही शिव ज्ञान है।

कदाचित्स सहस्रारे पद्मे ध्येयो गुरुः सदा।
कदाचिन्हृदयाम्भोजे कदाचिद्दृष्टि गोचरे ॥९॥
मंत्रदाता शिरः पद्मे यद्ध्यानं कुरुते गुरोः।
तद्ध्यानं कुरुते देवि शिष्योऽपि शीर्षं पंकजे।
तद्ध्यानं शिष्य शिरसि चोपदिष्ट न चान्यथा ॥१०॥

अब श्रीमहेश्वर शिव गुरु के ध्यान को कहते हैं कि श्री गुरु शिव का ध्यान कभी सहस्रार में, कभी हृदय कमल में और कभी अपनी दृष्टि के सामने शांभवी मुद्रा से नेत्र के तारे उलटा कर भ्रूमध्य आज्ञा चक्र में करना चाहिये। मंत्र दाता गुरु भी मूर्धा स्थित शिरः पद्म में शिव गुरु का ध्यान करते हैं और वही ध्यान शिष्य भी शीर्ष पंकज सहस्रदल कमल में करता है। इसीलिये इसी शिव के स्थान सहस्रार का ध्यान शिष्य को करने को कहा जाता है। हम सभी के गुरु एकमात्र शिव ही हैं, इसलिये गुरु भी परम गुरु शिव का ही ध्यान करने को कहते है, अपना अथवा अन्य किसी का नहीं।

कुलार्णव तथा गौतमीय तंत्र

यथादेवस्तथा मंत्रो यथा मंत्रस्था गुरुः।
देव मंत्र गुरुणाञ्च पूजायाः सदृशं फलम् ॥१॥
यथा शिवस्तथा विद्या यथा विद्या तथा गुरुः।
शिव विद्या गुरुणाश्च पूजायाः सदृशं फलम् ॥२॥

मंत्र का जप, ध्यान करने वाले साधकों को यह जानना आवश्यक है कि जो देवता है वही मंत्र है और जो मन्त्र है वही गुरु है। इसलिए देवता, मन्त्र और गुरु के पूजन, जप, ध्यान का फल एक समान है। देवता का ध्यान, मंत्र का जप और गुरु का पूजन—ये तीनों नित्य कर्तव्य हैं। शिव देवता हैं, मंत्र एवं योगविद्या ज्ञान है, इनके प्रदाता गुरु हैं इसलिये शिव, मंत्र एवं योग और गुरु सभी एक हैं। इन सबके ध्यान, जप, पूजन और साधन का फल एकसा है।

यथामंत्रे तथा देवे यथा देवे तथा गुरौ।

पश्येदभेदतो मंत्रो एवं भक्ति क्रमोमुने ॥१॥

गुरु से मंत्र मिलते हैं, मंत्र से देवताओं के दर्शन होते हैं, देवताओं के दर्शन से अपने अभीष्ट धर्म, अर्थ और कामना की सिद्धि होती है अथवा आत्म-देव के दर्शन से समाधि होती है, समाधि से ज्ञान होता है और ज्ञान से मुक्ति होती है जिससे सदा के लिये आवागमन मिट कर परम शान्ति मिलती है। इसलिये गुरु का पूजन, मंत्र का जप और देवता का ध्यान करना चाहिये। इस प्रकार क्रम से मंत्र, देवता गुरु को अभेद ज्ञान से देख कर, श्रद्धा भक्ति युक्त होकर साधकों को नियम से गुरु की सेवा, पूजा, मंत्र का जप, देवता का ध्यान तथा नित्यप्रति योग-साधन करते रहना चाहिये।

गुरौ मानुष बुद्धि च मंत्रे चाक्षर बुद्धिकम्।

प्रतिमासु शिला बुद्धि कुर्वाणो नरकं व्रजेत् ॥१॥

देवता गुरु मंत्राणामैक्यं संभावयधिया ।
तदा सिद्धो भवेन्मंत्र प्रकटे हानिरेव च ॥२॥

गुरु प्रकाशयेद्धीमान्मंत्र नैव प्रकाशयेत् ।
अप्रकाश प्रकाशाभ्यां क्षीयते सम्पदायुषः ॥३॥

श्रीमहेश्वर कहते हैं कि जो अज्ञानी निर्बोध साधक गुरु को मनुष्य समझते हैं, मंत्रों को अक्षर मात्र ही जानते हैं और देव-प्रतिमा को पाषाण की मूर्ति मानते हैं, जिसकी बुद्धि में गुरु-मनुष्य है, मंत्र अक्षर है और देव मूर्ति पत्थर प्रतिमा है—ऐसी भावना है उनको पाठ, पूजन, मंत्र, जप, तप, ज्ञान, ध्यान का कोई फल नही मिलता। वे मरकर नरक में जाते हैं। इसलिये पूर्व कथित देवता, गुरु तथा मंत्र को एक समझ कर बुद्धिपूर्वक जप, ध्यान करना चाहिये तभी मंत्र सिद्ध होते हैं। बहुत से अविवेकी और अनभिज्ञ साधक गुरु-प्रदत्त मंत्र एवं दीक्षा जनित ज्ञान के गुप्त विशेष विषय अनुभव को प्रकट कर देते हैं; फलस्वरूप उनका अनिष्ट होता है। इसलिये बुद्धिमान साधकों को चाहिये कि गुरु को प्रकाश करें, किन्तु गुरु-प्रदत्त मंत्र को कदापि प्रकाश न करें क्योंकि जो विषय ज्ञान अपने परम कल्याण का है, प्रकट करने का नहीं है, उसको प्रकाश करने से ऐश्वर्य, सम्पत्ति की हानि होती है और आयु भी क्षीण होती है। फल स्वरूप साधक श्री हीन होकर अकाल में मर जाता है।

समयाचार तंत्र

बिना च समयां देवि मंत्रं जपति नित्यशः ।
अल्पायु सः भवेत्सद्यो देवतां कोपयेद्ध्रुवम् ॥१॥

प्राय: देखा जाता है कि कामना वाले लोग अपनी कामना सिद्धि के लिये तीर्थों में जाकर किसी अनभिज्ञ गुरु से उपदेश लेकर अथवा शास्त्र ग्रन्थों को देखकर अपने इष्ट देवी-देवताओं के मंत्र का अनुष्ठान कर जप करने लग जाते हैं। बहुत से तो उपवास, व्रत, नियम संयम आदि कठोरता करके शरीर को भी महाकष्ट देते हैं शीघ्र मंत्र सिद्धि की आशा में मर मिटते हैं तथापि मंत्र शास्त्र के वास्तविक ज्ञान को नहीं जानते और जहां कहीं भी सर्वदा मन्त्र जप करते रहते हैं, उनके लिये श्री महेश्वर कहते हैं कि जो लोग नित्य बिना समय में देवताओं के मंत्र कामना करके सर्वदा चलते, फिरते, उठते, बैठते, खाते, पीते, सोते, जागते जपते रहते हैं उन पर निश्चय मंत्र देवता कुपित होते हैं जिससे उनकी आयु अल्प हो जाती है और वे शीघ्र मर जाते हैं क्योंकि सभी कर्म सोच समझकर शास्त्र विधि व्यवस्था से समय विशेष में किये जाते हैं तभी उनका फल भी समयानुसार सुख रूप होता है। उनको असमय में मनमाने करते रहने से निश्चय मृत्यु ही होती है।

स्कन्ध पुराण, नागर खण्ड, भावचूड़ामणि, रुद्रयामल तंत्र

न देवो विद्यते काष्ठे पाषाणे मृतिकासु च।
भावेषु विद्यते देवो मंत्र संयोग संयुत ॥१॥
बहु जापात्तथा होमात्कायक्लेशादि विस्तरैः।
न भावेन बिना देवो यंत्र मंत्र फलप्रदाः ॥१॥
भावेन लभते सर्वं भावेन देव दर्शनम्।
भावेन परमं ज्ञानं तस्मात् भावावलम्बनम् ॥१॥

देवता मनुष्यों की बनी हुई धातु पाषाण, काष्ठ एवं मृतिका की मूर्तियों में नहीं हैं, वे तो साधक की परं श्रद्धायुक्त तीव्र भावना में है जो एकाग्र मन से मंत्र जप के संयोग से उन मूर्तियों में आविर्भूत होते हैं। वे सर्वदा काल बहुत जाप करने से, हवन आदि से बहुत क्रिया कर्म करने अथवा शरीर को नाना-प्रकार के कष्ट देने से नहीं मिलते। जब तक साधक के हृदय की सात्विक भावना प्रबल नहीं होती तब तक कोई भी देवी, देवता या मन्त्र-यन्त्र फलदायक नहीं हो सकते। श्रद्धायुक्त हृदय की उत्कट तीव्र इच्छा, प्रबल मन की भावना से ही सब कुछ मिलता है। मन के वैराग्ययुक्त सात्विक भाव तथा तीव्र संवेग से देवताओं के दर्शन होते हैं, और उस परम सात्विक भाव से ही दिव्य ब्रह्मज्ञान होता है। इसलिए साधकों को चाहिए कि सर्वदा सात्विक भाव का ही आश्रय करें।

स्कन्ध पुराण, ब्रह्मखण्ड, नागर खण्ड

श्रद्धैव सर्व धर्मस्य चातीव हितकारिणी।
मूर्खोऽपि पूजितो भक्त्या गुरुर्भवतिसिद्धिदः ॥१॥
देवे तीर्थे द्विजेमंत्रे दैवज्ञे भेषजे गुरौ।
यादृशी भावनायस्य सिद्धिर्भवति तादृशी ॥१॥

गुरु, मन्त्र तथा देवता में श्रद्धा होने से ही सात्विक भाव की प्रबलता होती है इसलिए श्रद्धा ही सब धर्मों का मूल है। धर्म विषय में श्रद्धा ही साधकों को परम हित कारिणी है। श्रद्धा-पूर्वक यदि मूर्ख गुरु की भी भक्तिपूर्वक पूजा की जाये तो वह गुरु, मन्त्र, देवता भी सिद्धिदायक हो जाते हैं। महाभारत

में एकलव्य का उदाहरण प्रसिद्ध है। मूर्ख एकलव्य भील ने श्रद्धा भक्तिपूर्वक गुरु द्रोणाचार्य की मृतिका की मूर्ति बनाकर पूजा की और समग्र धनुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया था, अतएव श्रद्धा ही सिद्धी का कारण है। देवता, तीर्थ, ब्राह्मण, मंत्र, दैवज्ञ (ज्योतिषी), औषधि और गुरुजनों में जो जैसी श्रद्धा, भक्ति भावना करते हैं उन्हें ये सब तद्नुसार ही सिद्धदायक होते हैं।

भगवद् गीता, अध्याय ४

अज्ञश्चा श्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति नापरो न सुखंसंशयात्मनः ॥४०॥
श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शांति मचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

जो अज्ञानी हैं, जिनको श्रद्धा नहीं है, जिनका मन प्रत्येक ज्ञान विषय में संदिग्ध, संशय युक्त है उनका नाश ही होता है। ऐसे अज्ञानी श्रद्धा रहित, संशय आत्मा को न तो इस लोक में सुख मिलता है और न परलोक में ही मिलता है, उनका सर्वनाश होता है। जो श्रद्धावान है, जितेन्द्रिय हैं, जिन्होंने मन-प्राण का जय किया है, ऐसे उत्तम साधक ही बहुत शीघ्र ज्ञान लाभ कर परम शान्ति पाते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।

मन्त्र प्रदाता गुरु के लक्षण

रुद्रयामल तंत्र, पञ्चमपटल

कलौ पाखण्ड बहुला नानावेषधरा नराः ।
ज्ञानहीना लुब्धकाश्च वर्णाश्रम बहिष्कृतः ॥१॥

वैष्णवत्वेन विख्याता शैवत्वेन वरानने ।
शाक्तत्व त्वेन देवेशि सौरत्वेनेतरे जनाः ॥२॥
गाणपत्येन गिरिजे शास्त्रज्ञान वहिष्कृताः ।
गुरुत्वेन समाख्याता विचरन्ति ते भूतले ॥३॥

श्री महेश्वर कहते हैं कि हे देवी ! कलियुग पाखण्ड प्रधान युग है, इसलिये पाखण्डी धूर्त लोग साधु सन्यासी, उदासी, तपस्वी, त्यागी, वैरागी, महात्मा, ज्ञानी, ध्यानी, योगी, यती, ब्रह्मचारी इत्यादिक नाना प्रकार के वेष धारण कर गुरु बनते हैं। वे लोग ज्ञानहीन, लोभी, लालची अपनी मलीन पाप वासनाओं की पूर्ति के लिये जाति आदि वर्णाश्रम धर्म-कर्म का त्याग करके स्वेच्छाचारी हो जाते हैं। उनमें से कोई अपने को वैष्णव भक्त आचार्य के नाम से गुरु बोल कर प्रसिद्ध करते हैं, तो कोई योगी, यती, ज्ञानी, ध्यानी, शैव गुरु कहलाते हैं। कोई अपने को मंत्र, तंत्र, शक्ति-देवी-सिद्ध शाक्त प्रसिद्ध करके ख्याति में आते हैं तो कोई अपने को गणपति सिद्ध गाणपत्य दर्शाते हैं और कोई अपने को सूर्योपासक गायत्रीसिद्ध सौर बताते हैं। हे गिरिजे ! शास्त्र ज्ञान से बहिष्कृत ये सब कलि के पाखण्डी धूर्त लोग इस प्रकार गुरु बनने के लिये प्रसिद्ध होकर जहां-तहां विचरण करते हैं।

ये शिष्य संग्रहं कर्तुमुद्यता यत्र कुत्रचित् ।
मंत्राद्युच्चारण तेषां नास्ति सामर्थ्यमम्बिके ॥४॥

तच्छिष्याणाञ्च गिरिजे तथापि जगतीतले ।

पठन्ति पाठ्यस्यन्ति विप्र द्वेष परासुरा ॥

द्विजदेश पराणादि नरके पतन्ति ध्रुवम् ॥५॥

और शिष्य संग्रह करने को उद्यत रहते हैं। जहां कहीं भी शिष्य बनने सम्भव हों वहां किसी के बिना बुलाये ही पहुँच जाते हैं। भारत में ऐसी महा अधम गुरु के लिये अन्ध श्रद्धालु अज्ञानी शिष्यों का अभाव नही है, सर्वत्र मिलने सुलभ हैं अज्ञानी लोग प्रलोभन के आदी होते हैं, इसलिये ऐसे गुरु लोग देवदर्शन, मंत्र-जप से देवी-देवता की सिद्धि अथवा स्वर्ग-सुख, दान, पुण्य का फल कह कर अन्त में रोग-निवारण के लिये मंत्र उपचार औषध-प्रदान, धन, सन्तान-प्राप्ति आदि नाना प्रकार के प्रलोभन दिखा कर बाध्य करके प्रतिज्ञा बद्ध करते हैं। हे अम्बे ! अन्धविश्वासी, अज्ञानी, धर्मभीरु, शिष्य का धन और धर्म हरने वाले गुरु को मेरे दिव्य दर्शन कराने की शक्ति वाले मंत्र के उच्चारण से कोई फल नहीं होता न उनके मंत्र देने से उनके शिष्यों का ही भला हो सकता है क्योंकि वे लोग धूर्त हैं जो कुछ पढ़ते हैं पढ़ाते हैं वह सब अपने शिष्यों को बाध्य रखने मात्र के लिये वे लोग ब्राह्मणों तथा सद्पुरुषों से द्वेष करते हैं। ऐसे द्विजों से द्वेष करने वाले दुष्ट गुरु और उनके अज्ञानी शिष्यों का निश्चय नरक में ही पतन होता है।

शान्तो दान्तः कुलीनश्च शुद्धातःकरणस्तथा ।

शुद्धाचार सुप्रतिष्ठः शुचिर्दक्षः सुबुद्धिमान् ॥६॥

आश्रमी ध्याननिष्ठश्च मंत्र तंत्र विशारदैः ।
निग्राहनुग्रहे शक्तो वशी मंत्रार्थं जापकः ॥७॥

सिद्धोऽसाविति विख्यातो बन्धुभिशिष्य पालकः ।
चमत्कारी दैव शक्त्या सद्गुरुं कथितं प्रिये ॥८॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्राप्ति की इच्छा से जिन गुरु को तुम अपना तन, मन और धन अर्पण करोगे, जिनसे दिव्य महामन्त्र ग्रहण करके अपने सभी अभीष्ट मनोरथ सिद्ध करोगे, उन परम कल्याणकारक गुरु के लक्षण श्री सदाशिव स्वयं कहते हैं कि जो गुरु शान्त प्रबल विषयवासनाओं से रहित, दान, तपस्या द्वारा अपने मन, प्राण तथा इन्दियों के वेग को दमन करने वाले, अच्छे कुल में उत्पन्न, शुद्ध अन्त:करण वाले, सदाचार सम्पन्न हों एवं जिनकी सभी लोग प्रतिष्ठा करते हों, जो सदा पवित्र, राग द्वेष से रहित, प्रसन्न रहते हों, जो व्यवहारिक और पारमार्थिक सभी कार्यों में दक्ष हों, जिनकी विशाल सुबुद्धि हो, जो आश्रमी गृहस्थ हों, अपने निर्दिष्ट स्थान में सपरिवार वास करते हों एवं ध्यान निष्ठ हों। जो मंत्र, तंत्र शास्त्र के विशारद तत्वज्ञ हों एव जो अनुग्रह और निग्रह करने की सामर्थ्य वाले हों। अनुग्रह (कृपा करने की शक्ति) निग्रह (प्रतिफल देने की शक्ति) इष्ट तथा अनिष्ट करने की शक्ति जिनके वश में हो, जो मंत्र के अर्थ को भली प्रकार जानते हों एवं स्वयं भी मंत्र जापक हों, जो अपने योग या मंत्र शक्ति सामर्थ्य के बल से सिद्धि सम्पन्न सिद्ध पुरुष के नाम से विख्यात हों, जो अपने परिचित बन्धु बांधवों तथा अपने प्रिय शिष्य वर्ग

के प्रतिपालक हों, जो दैवी शक्ति के बल से चमत्कारी हों, जिन्होंने दैवबल प्राप्त कर लिया हो, जिनके चमत्कार की अघट-टन घटना समय विशेष में शिष्य लोग देखते रहते हों, उन्हीं को सद्‌गुरु कहा है।

शारदा तिलक तंत्र, द्वितीय पटल

मातृतः पितृतः शुद्धः शुद्ध भावो जितेन्द्रियः।
सर्वागमानां सारज्ञः सर्वशास्त्रार्थ तत्त्ववित् ॥१४१॥
परोपकार निरतो जप पूजादि तत्परः।
अमोघ वचनः शान्तो वेद वेदाङ्ग पारगः ॥१४२॥
योग मार्गानुसन्धायी देवतां हृदयङ्गमः।
इत्यादि गुण सम्पन्नो गुरुरागम सम्मतः ॥१४३॥

जिनके माता-पिता शुद्ध भाव वाले पवित्र हों, वर्णान्तरित न हों, जो स्वयं भी परम शुद्ध भाव वाले हों, जितेन्द्रिय हों, जो सब आगम मन्त्र तन्त्रादि शास्त्र के सार श्रेष्ठ ज्ञान को जानते हों, जो सभी शास्त्र के अर्थ को तत्त्व से जानते हो एवं जो परोपकार परायण होकर सर्वदा जप पूजादि में लगे रहने वाले हों जो सदा शान्त हों। जिनका वचन कभी वृथा नहीं जाता, जो वेद-वेदाङ्ग शास्त्र के पारगत हैं एवं जो सर्वदा काल योग मार्ग के अनुशीलनकारी देवता सदृश प्रतिभावान् सभी के मन को आकृष्ट करने वाले हों ऐसे दिव्यगुण सम्पन्न पुरुष को आगम शास्त्र में धर्म-अर्थ और कामना सिद्धि के लिए गुरु माना है।

पिच्छिला तंत्र

गुरुस्तु द्विविधः प्रोक्तो दीक्षा शिक्षा प्रभेदतः ।
आदो दीक्षा गुरुः प्रोक्तः शेषे शिक्षा गुरुर्मतः ॥१॥
यन्मुखास्तु महामन्त्रं श्रूयतेऽभ्यस्यतेऽपिवा ।
स गुरुः परोज्ञेयस्तदाज्ञा सिद्धिदायिनी ॥२॥

दीक्षा और शिक्षा के भेद से गुरु दो प्रकार के माने गये हैं। पहले दीक्षा गुरु कहे हैं फिर दूसरे शिक्षा गुरु कहे हैं। दीक्षा के द्वारा जिन गुरु के मुख से साधक, शिष्य महामन्त्र सुने अथवा गुरु की आज्ञानुसार गुरु प्रदत्त मंत्र का जप ध्यान कर अभ्यास करे, उन दीक्षा गुरु को ही श्रेष्ठ गुरु जानना चाहिए और उनकी आज्ञा को ही परम सिद्धिदायक मानना चाहिए। शिक्षा गुरु चाहे जितने किये जा सकते हैं परन्तु सामर्थ्य वाले दीक्षा गुरु एक ही होते हैं कि जिनसे परम मंगल कर दिव्य ब्रह्मज्ञान होता है।

महानिर्वाण तंत्र, दशम उल्लास

शाक्ते शाक्तो गुरुशस्तः शैवेशैवो गुरुर्मतः ।
वैष्णवे वैष्णवः सौरे सौरो गुरुरुदाहृतः ॥१॥
गाणपे गाणपः ख्यातः कौल सर्वत्र सद्गुरु ।
अतः सर्वात्मनाधीमान् कौलाद्दीक्षा समाचरेत् ॥२॥

पूर्व ही कहा गया है कि साधकों को अपने धर्म-कर्म की सत्वर सिद्धि के लिए उपासना में अपनी अभिरुचि के अनुसार उपास्य देवता के भाव वाले गुरु करने चाहिए। इसलिए जो

जिस देवता की उपासना करते हैं, जिनको जिस देवता में आस्था श्रद्धा, भक्ति, प्रेम और निष्ठा है उन्हें उसी भाव वाले उसी देव के उपासक गुरु करने को कहा हैं क्योंकि अपने से विपरीत भाव वाले गुरु करने से अनर्थ घटता है। शिव की उपासना करने वालों को अष्टांगयोग परायण शैव गुरु ही करना चाहिए। महा-माया आद्याशक्ति जगदम्बा भगवती की आराधना करने वालों को पाठ, पूजा, हवन, यन्त्र, मन्त्र, जप, तप, परायण शाक्त गुरु करना चाहिए। विष्णु नारायण, भगवान रामकृष्ण की भक्ति करने वाले को सेवा, पूजा, भोग, राग, अर्चन वंदन, स्तुति, कथा, कीर्त्तन करने वाले भक्त को वैष्णव गुरु करना चाहिए और ऋद्धि, सिद्धि प्रदाता गणेश देव की उपासना करने वालों को गणपति सिद्ध गाणपत्य गुरु करना चाहिए। बल, बुद्धि, तप, तेज एवं सब प्राणियों के जीवनदाता प्रत्यक्ष मूर्तिमान ईश्वर आदित्यदेव की उपासना करने वालों को जप, तप, नियम, व्रत धारी, पुरश्चरण परायण, गायत्री जापक सौर गुरु की शरण में जाना चाहिए। इस प्रकार जो एक ईश्वर, अपने में स्थित आत्मदेव में भेद बुद्धि करते हैं उनके लिए ऐसे गुरु होते हैं परन्तु जो पुरुष अभेद ज्ञान से सर्वत्र ईश्वर को देखना चाहते हैं उनके लिए महाशैव दिव्याचार वाले महायोगी ब्रह्मज्ञानी कौल गुरु को ही सर्वत्र सद्गुरु माना है। इसलिए बुद्धिमान् साधको को चाहिए कि सर्वत: भाव कौल गुरु से मंत्र-दीक्षा ग्रहण करे जिनके अनुग्रह से तत्काल कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होती है और सभी देवताओं के मन्त्र सत्वरसिद्ध होते हैं।

कुल चूड़ामणि तंत्र

उदासीनो ह्यु दासानां वनस्थोवन वासिनाम् ॥
यतिनाञ्चयतिः प्रोक्तो गृहस्थानां गुरुर्गृहो ॥१॥

इस प्रकार प्रत्येक साधक को अपने-अपने वर्णाश्रम धर्मानुसार अपने आश्रम के ही अनुरूप उपयुक्त आश्रम वाले ही गुरु करने चाहिये। सन्यासी को संन्यासी ही गुरु करना चाहिए, उदासी के गुरु उदासी ही होते हैं वानप्रस्थी के गुरु भी वानप्रस्थ होने चाहियें और गृहस्थियों के लिए गृहस्थ ही गुरु होना आवश्यक है। तभी परस्पर के धर्म-कर्म की रक्षा होगी और समधर्मी होने से परस्पर आत्मभाव से मिल भी जायेंगे जिससे सभी को अपने स्वार्थ और परमार्थ की सिद्धि सत्वर होगी। भिन्न आश्रम वाले को गुरु करने से आचार-विचार, अपने-अपने धर्म-कर्म सभी में परस्पर का विरोध रहेगा फलस्वरूप अनर्थ घटेगा। संन्यासी और गृहस्थी का मेल नहीं हो सकता; वैसे ही उदासी एवं वानप्रस्थी का भी मिलना नहीं होगा। गृहस्थी, वानप्रस्थी तथा सन्यासी आश्रम की श्रेणी में एक से एक पर है। हरेक आश्रम के धर्म-कर्म, आचार-विचार, रहन-सहन सभी विभिन्न प्रकार के हैं।

गणेश विमर्षिणी तथा कुलार्णव तंत्र

यतेर्दीक्षा पितृदीक्षा दीक्षा वनवासिनः।
विविक्ताश्रमिणो दीक्षा न सा कल्याणदायिका ॥१॥

व्याधिनो वंश हीनाच्च भार्याहीनात्तथैव च।
मन्त्र क्षिप्तात्तथा मन्त्र न गृहणीयात्कदाचन ॥१॥

यति से, अपने पिता से, वनवासी वानप्रस्थी एवं विरक्त संन्यासी से ग्रहण की हुई दीक्षा सब गृहस्थियों को कल्याण कारक नहीं होती इसलिये विशेष करके धर्म, अर्थ, कामना वाले गृहस्थियों को चाहिये कि विपरीत भाव तथा आश्रम वाले गुरु से दीक्षा ग्रहण न करें। जो गुरु सदा रोग-ग्रस्त हो, सन्तान हीन हों, स्त्री रहित अकेले हों, जिनका योग साधन करने से अथवा मन्त्र-जप से मस्तिष्क विकृत हो गया हो, जिनका चित्त अपने वश में न हो, ऐसे विक्षिप्त मन वाले गुरु से कभी भी दीक्षा या मन्त्र नहीं लेना चाहिये। प्रायः देखा जाता है कि बहुत से लोग चलते-फिरते उपरोक्त प्रकार के साधु संन्यासी को गुरु बना लेते हैं जिनकी जाति, विद्या, बुद्धि, ज्ञान का कोई परिचय नहीं मिलता। जो कभी कहीं निर्दिष्ट एक स्थान में भी नहीं रहते, केवल देशाटन ही करते रहते हैं, जिनसे भविष्य में पुनः मिलने की आशा भी नहीं है चाहे वे बड़े त्यागी, तपस्वी, ज्ञानी, ध्यानी महात्मा ही क्यों न हों तथापि उनसे मन्त्रोपदेश या दीक्षा लेना हितकर नहीं है। उनके तो वचन का आशीर्वाद ही ठीक है। क्योंकि ऐसे महात्माओं से प्रायः लोग योग-साधन सीख लेते हैं, प्राणायाम करते हैं, परन्तु कभी दैवयोग से परिणाम विपरीत हो जाता है तो फलस्वरूप नाना प्रकार के रोगों का भोग बन जाता है जिनका प्रतिकार होना भी सहज नहीं है। ऐसे कई समझदार व्यक्तियों का हमें परिचय है कि जिनकी शारीरिक, मानसिक अवस्था संकटापन्न है। इसमें उपदेश देने वाले गुरुओं का अपना कोई स्वार्थ नहीं हो, यह ठीक हो सकता है, पात्रापात्र का विचार न करके देश,

काल की परिस्थिति देखे बिना संसारासक्त कुटुम्ब में रहने वाले गृहस्थियों के लिये, त्यागियों के लिये सर्वदा करते रहने का साधन हठयोग, नेति, धौति, बस्ति प्राणायामादि बिडम्बना पूर्ण कर्म अनर्थ-कर हैं। इसलिये गृहस्थियों को ऐसे साधन नहीं करने चाहियें।

शान्ति गीता तथा बृहन्नील तंत्र

बिनाचार्यं नहि ज्ञानं न मुक्ति नापि सद्गतिः।
अतः प्रयत्नतो विद्वान् सेवया तोषयेद् गुरुम् ॥
सेवया संप्रसन्नात्मा गुरु शिष्यं प्रबोधयेत् ॥१॥

गुरु किये बिना ज्ञान नहीं होता, ज्ञान के न होने से मुक्ति भी नहीं हो सकती और गुरु नहीं करने से सद्गति भी नहीं होती, इसलिये बुद्धिमान् साधक गुरु की कृपा लाभ करने के लिये प्रयत्नपूर्वक गुरु की हरेक प्रकार की सेवा करके उनके मन का सन्तोष साधन करें। गुरु भी श्रद्धा भक्ति-युक्त शिष्य की सेवा ग्रहण करके परम सन्तुष्ट होकर शिष्य को ब्रह्मज्ञान का उपदेश एवं ज्ञान प्रदान करें अथवा मन्त्र जप की शिक्षा-दीक्षा देके कृतार्थ करें। यह परम्परा का नियम शिव शासन है।

आसनं शयनं वस्त्रं वाहनं भूषणादपि।
साधकेनप्रदातव्यं गुरोः सन्तोष कारणात् ॥१॥
गुरु सन्तोष मात्रेण सिद्धिर्भवति शाश्वती।
अन्यथा नैव सिद्धिः स्यादभिचारायकल्पते ॥२॥

शिष्य का परम कर्तव्य है कि गुरु की प्रसन्नता एवं परम सन्तोष के लिये आसन, शय्या, वस्त्र, वाहन और भूषण आदि

सामग्री श्रद्धा भक्ति-युक्त होकर अपनी सामर्थ्यानुसार गुरु को प्रदान करनी चाहिये क्योंकि गुरु के सन्तोष-मात्र से मन्त्र, जप, तप, योगादि साधन की शाश्वती सिद्धि होती है। दुर्भाग्यवश यदि सामर्थ्य होते हुये भी शिष्य गुरु-दीक्षा लेकर सेवा न करे तो गुरु के कृपा करने पर भी उनके प्रदत्त मन्त्र शिक्षा-दीक्षा आदि की कोई सिद्धि शिष्य को नहीं होती वरन् अविचार के कारण निष्फलता होती है।

कुलार्णव तन्त्र चतुर्दश उल्लास

मुक्तिदाता गुरुवागेका विद्यासर्वं विडम्बका।
काष्टभार श्रमादस्मादैकं सञ्जीवनं परम् ॥१॥
अद्वैतन्तु शिवेनोक्तं क्रियायासादि वर्जितम्।
गुरुवक्रेण लभ्यन्ते नान्याथागम कोटिभिः ॥२॥

शक्तिमान गुरु का तो एक मात्र वाक्य ही मुक्तिदाता है शेष शास्त्र विद्या सब विडम्बना मात्र है। सभी रोग निवारण के लिये काष्ठादि वनौषधिश्रम की अपेक्षा एकमात्र संजीवनी दिव्यौषध ही सर्वोत्तम है। वैसे ही गुरु भी चिन्तामणि सदृश अथवा कल्पवृक्ष, कामधेनु के समान मनोवांछित फल प्रदाता है। श्रीमहेश्वर कथित यह अद्वैत ज्ञान है कि जिसके साधन की योग-क्रिया आयास रहित बिना श्रम के अपने आप होती है और मन्त्र अजपा जप भी स्वयंमेव होता है। यह सब बातें कोटि शास्त्र पाठ करने से भी नहीं बनती परन्तु शक्तिमान गुरु के कृपापूर्वक कह देने मात्र से ही प्राप्त हो जाती है।

श्रीगुरु स्मरणे वापि कीर्त्तने दर्शनेऽपि च।

वन्दने परिचर्यायां आवाहने प्रेषणेप्रिये ॥३॥

आनन्द कम्प रोमाञ्च स्वर नेत्रादि विक्रियाः।

येषांस्युःस्तोत्र योगाश्च दीक्षा संस्कार कर्मणिश्च ॥४॥

श्री सद्गुरु के विषय में पहिले जैसा शिव शासन में कहा है शत प्रतिशत उक्त शुभ लक्षणों वाले साधन मुक्त साक्षात शिव रूप सिद्ध पुरुष योगी गुरु का मिलना दुर्लभ है तथापि क्वचित किसी परम सौभाग्यवान् को दैवयोग से मिल जाते हैं। आधे से अधिक शुभ लक्षण वाले, परमार्थ साधन सम्पन्न, योग साधन, ज्ञान, ध्यान परायण मन्त्रादि के ज्ञाता ज्ञानी गुरु का मिलना कठिन नहीं है। ऐसे गुरु शिवाष्टि रुद्र शक्ति समाविष्ट होंगे तो शिष्य को गुरु करने से पहिले उनका नाम लेने से, उनके शक्ति सामर्थ्य के गुणों की चर्चा करने से, उनका स्मरण करते रहने से, उनके साथ पत्र-व्यवहार करने से अथवा वह बुलावें तो उनके सन्निकट जाने से, उनके दर्शन मात्र से, उनको प्रणाम करते ही आनन्दाश्रु, कम्प, रोमाञ्च, स्वर-भंग, नेत्रादि की विकृति हो जायेगी और मन प्राण उनमें आकृष्ट हो जायेंगे। उनके किसी भी काम में नियुक्त करने से शिष्य को आनन्द आह्लाद, प्रफुल्लता, उत्साह एवं विह्वलता होने लगे और आध्यात्मिक भाव समूह प्रबलता को प्राप्त होकर मन, प्राण, शरीर आवेश पूर्ण आप्लुत हो जायें तो शिक्षार्थी शिष्य को समझ लेना चाहिए गुरुशक्ति सामर्थ्य सम्पन्न शिवादिष्ट हैं।

शिष्योऽपि लक्षणै रेतैः कुर्यात् गुरु परीक्षणम् ।

ग्रानन्दाद्यैर्जपस्तोत्र ध्यान होमार्चनादिभिः ॥५॥

ज्ञानोपदेश सामर्थ्यं मन्त्र सिद्धिमपीश्वरि ।

वेधकत्वं परिज्ञाय शिष्यो भूयान्न चान्यथा ॥६॥

शिष्य को चाहिए कि उक्त लक्षणों से गुरु की परीक्षा करे ग्रौर प्रत्यक्ष देखे कि गुरु सामर्थ्य वाले हैं कि शक्तिहीन। ग्रपने में ये लक्षण होते हैं कि नहीं। यदि शिष्य ने केवल धम, अर्थ ग्रौर कामना सिद्धि के लिए गुरु से पूर्व कथित साधारण दीक्षा ली हो और यदि गुरु ने भी शिष्य की सांसारिक कामना पूर्ण करने के लिए जप, हवन, पूजा, पाठ, स्तोत्र तथा देवार्चन बताया हो तो उसके करने में भी दीक्षा ग्रहण के पूर्व ग्रथवा पश्चात् शक्तिमान गुरु की सामर्थ्य के उक्त लक्षण कम्प. रोमाञ्च आदि होने लगें तो शिष्य को समझ लेना चाहिए कि गुरु शक्ति सामर्थ्य वाले, ज्ञानी, मन्त्र सिद्ध हैं। वहीं मोक्ष के लिए पहिले कही गई निराधारा दीक्षा, षट् चक्र का वेध भी कर सकेंगे। उनके ही द्वारा शिष्य का परम कल्याण होगा। यह जान लेना चाहिए कि जब ऐसा हो तभी शिष्य, शिष्य होगा और गुरु, गुरु होंगे। जहाँ ये बातें नहीं बनती हैं वहाँ शिष्य का शिष्य होना और गुरुका गुरु होना, दोनों का नरक मे जाना है। बुद्धिमान शिष्य को अज्ञानी गुरु नहीं करना चाहिए और यदि कर लिया हो तो उसको त्याग कर ज्ञानी की शरण में जावे। ज्ञानी गुरु को त्यागना और ग्रज्ञानी को गुरु करना पाप है।

शारदा तिलक द्वितीय पटल

शिष्यः कुलीनः शुद्धात्मा पुरुषार्थं परायणः ।

अधीतः वेद कुशलो दूरमुक्त मनोभवः ॥१४५॥

हितैषी प्राणिनां नित्य आस्तिक्यस्त्यक्त नास्तिकः ।

स्वधर्म निरतो भक्त्या पितृमातृ हितोद्यतः ॥१४६॥

वाङ्मन कायवसुभिर्गुरु शुश्रेषणे रतः ।
एतादृशगुणोपेतः शिष्योभवति शंकरि ॥१४७॥

सामर्थ्य वाले गुरु के लिए भी उपयुक्त गुण वाले शिष्य होंगे, तभी योग और मन्त्र की सिद्धि होगी। इसलिए श्री सदाशिव कहते हैं कि हे देवि शंकरि! शिष्य पवित्र उत्तम कुल में और श्रेष्ठ जाति में उत्पन्न हुआ कुलीन हो, यम-नियमादि साधन से शुद्ध पवित्र मन वाला हो, सदा पुरुषार्थ परायण हो जिसने वेद-वेदाङ्ग तथा दर्शनादि शास्त्र पढ़े हों, शास्त्र ज्ञान में कुशल हो, जिसने मन की सब दुर्भावनायें त्याग दी हों, जो नित्य प्राणीमात्र का हितैषी हो एवं जो परम आस्तिक हो, नास्तिक न हो, जो अपने स्वधर्म में लगे रह कर माता-पिता की भक्ति करता हो एवं उनके हित, सेवा में तत्पर हो, जो साधक शरीर, मन, वाणी तथा अर्थ से गुरु की सेवा में लगा रहता हो ऐसा गुणी साधक ऐसे सिद्ध गुरु का शिष्य होता है। उनको ही जप, तप, पाठ, पूजन एवं गुरु के दिये हुए योग साधन तथा मन्त्र की सिद्धि होती है। यह न समझना कि हरेक को मन्त्र सिद्धि हो जायेगी।

गन्धर्व तन्त्र, पटल २०

सर्वे मन्त्राः प्रसिध्यन्ति जीवन्ति च पुनन्ति च ।
प्राणन्ति च महाभागे सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ।।१।।
ऋतंभरा धिया वापि नाना चक्र सहायतः ।
मन्त्रानाशुविनिर्णीय शिष्यानुपदिशन्ति ते ।।२।।

श्री महेश्वर प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं कि वेद, पुराण, आगमादि शास्त्र में मेरे कहे हुये जो सब मन्त्र हैं वे जीवित हैं, जीवन धारण करते हैं, जप करने से वही मनुष्य को पवित्र करते हैं क्योंकि वे सब मन्त्र प्राणवान् हैं, मरे नहीं हैं । इसलिये गुरु को चाहिये कि उपरोक्त लक्षण वाले अधिकारी शिष्य मिलने पर ऋतंभरा प्रज्ञा के सत्य ज्ञान मे साधक के नाम, राशि के अनुसार तिथि, वार, नक्षत्र, योग, करण एवं लग्न देख कर तुरन्त निर्णय करके शिष्य को उनका उपदेश कर देना चाहिये ।

मन्त्र जप का स्थान

शारदा तिलक तन्त्र, द्वितीय पटल

पुण्य क्षेत्रं नदी तीरं गुहा पर्वत मस्तकम् ।
तीर्थं प्रदेशाः सिन्धुनां संगमः पावनंवनम् ।।१३८
उद्यानानि विविक्तानि बिल्वमूलं तटं गिरेः ।
देवतायतनं कुलं समुद्रस्य निजंगृहम् ।।१३९
साधनेषु प्रशस्तानि स्थानान्येतानि मंत्रिणाम् ।
अथवा निवसेत्तत्र यत्रचित्त प्रसीदति ।।१४०

मन्त्र जप के लिये आवश्यक अनुकूल स्थान होना चाहिये। वह स्थान पुण्य-क्षेत्र एवं नदी के तट पर हो, जैसे उत्तराखण्ड, कनखल. हरिद्वार, ऋषिकेश से लेकर बद्री, केदार, गंगोत्री, यमनोत्री तक के सभी गंगा तट के स्थान पुण्य क्षेत्र एवं तीर्थ रुप कहे हैं। वहां पर्वत पर गुहा में, वृक्ष के नीचे, शिलाओं के ऊपर या नीचे, मन्त्र-सिद्धि के लिये पुरश्चरण करना सर्वोत्तम है। तीर्थ प्रदेश, गंगा-नर्मदा का तट, काशी-प्रयाग आदि तीर्थ स्थान सिन्धु नदी का संगम, स्थान अथवा पर्वत की तलहटी में जहां नदी बहती हो, चित्रकूट, अमर कन्टक, त्र्यम्बकेश्वर तथा नासिक आदि के तपोवन में, बिल्व वृक्ष के नीचे जप करना चाहिये। एकान्त बाग बगीचे में देवता के स्थान मन्दिर में, समुद्र के तट पर कहीं भी हो अथवा अपने घर में करना चाहिये। मन्त्र जप के लिये ये सब स्थान प्रशस्त माने गये हैं। इनमें से जहां कहीं भी अपनी अनुकूलता हो, जहाँ चित्त प्रसन्न हो, वहीं निवास करके योग-साधन और मन्त्र-जप करना चाहिय।

नित्य तन्त्र, प्रथम पटल

एकलिङ्ग श्मशाने वा शून्यागारे नदी तटे।
पाताल भवने वापि गिरौ वा दीर्घिकातटे ॥१॥

शक्ति क्षेत्रे महापीठे बिल्वमूले शिवालये।
धात्रीं वृक्ष तलेऽश्वत्थ मूले चैव तरोतले ॥२॥

सत्वर मन्त्र सिद्धि के लिये एकलिंग वह कहलाता है कि जहां से दूर दूर में दूसरा शिवालय न हो। श्मशान में,

शून्यागार जहां कोई रहता न हो, नदी के तट पर, जमीन में बनाई हुई गुहा में, पर्वत प्रदेश में बड़े भारी तालाब के तट पर, देवी के मन्दिर, शक्ति क्षेत्र सिद्ध महापीठ में शिवालय में, बिल्ववृक्ष के मूल में, धात्री वृक्ष के नीचे, अश्वत्थ तले अथवा अन्य वृक्ष के नीचे बैठकर मन्त्र-जाप किये जाते हैं। विभिन्न स्थान में जप करने का फल भी भिन्न-भिन्न प्रकार का है।

वायवीय संहिता, अध्याय १४

गृहेजपः समः प्रोक्तः गोष्ठे शतगुणस्तु सः।
आरामे च तथाऽरण्ये सहस्रगुण उच्यते ॥४२॥
अयुतः पर्वते पुण्ये नद्यालक्षगुणस्तु सः।
कोटि देवालये प्राहुरनन्तं शिव सन्निधौ ॥४३॥

घर में रहकर मन्त्र-जप करने का फल साधारण है और गोष्ठ स्थान में जप का फल घर की अपेक्षा सौगुना अधिक होता है। बाग बगीचे तथा एकान्त वन में वही जप करने का फल हजार गुना कहलाता है। पर्वत पर गुहा में तथा पुण्य क्षेत्र नदी आदि के तट पर वही मन्त्र-जप दश हजार गुना एवं लक्ष गुना फलदायक होता है। देवालय में कोटिगुना फलदायक कहा है। परन्तु प्राणायाम करके अपने अन्तर स्थित शिव की सन्निधि में वही जप अनन्त गुण फल वाला होता है।

सिद्ध पीठ

कुब्जिका तन्त्र, सप्तम पटल

श्रूयतां सावधानेन सिद्ध पीठं पतिव्रते।
यस्मिन् साधन मात्रेण सर्वसिद्धीश्वरो भवेत् ॥१॥

मायावती मधुपुरी काशी गोरक्ष कारिणी ।
हिंगुला च महापीठं तथा जालन्धरं पुनः ॥२॥

ज्वालामुखी महापीठं पीठं नागर संभवम् ।
रामगिरिर्महापीठं तथा गोदावरी प्रिये ॥३॥

श्री महेश्वर भगवती देवी के प्रति कहते हैं कि हे पतिव्रते ! जहां मन्त्र-जप करने से सर्व प्रकार की सिद्धियां सहज में हो जाती हैं, उन सिद्ध पीठों का वर्णन करता हूँ, सुनो ! मायावती कनखल, हरिद्वार, मधुपुरी, काशीक्षेत्र, गोरखपुरी तथा हिंगुला महासिद्ध पीठ हैं । जालन्धर और उसके पास पर्वत में ज्वालामुखी महापीठ है जो मन्त्र सिद्धि के लिये प्रसिद्ध स्थान हैं ऐसे ही हिमालय में रामगिरि महापीठ है और गोदावरी के तट पर त्र्यम्बकेश्वर भी महासिद्ध पीठ है जहां मन्त्र-सिद्धि सत्वर होती हैं ।

नेपालं कर्ण सूत्रञ्च महाकर्णं तथा प्रिये ।
अयोध्या च कुरुक्षेत्रं सिंहनादं मनोहरम् ॥४॥

मणिपुरं हृषीकेशं प्रयागञ्च तपोवनम् ।
बदरी च महापीठं अम्बिका अर्धनालकम् ॥५॥

त्रिवेणी च महापीठं गङ्गा सागर सङ्गमम् ।
नारिकेलञ्च बिरजा उड्डीयानं महेश्वरि ॥६॥

नैपाल काठमांडू में पशुपतिनाथ महासिद्ध पीठ है । ऐसे ही कर्णसूत्र तथा महाकर्ण भी है । अयोध्या और कुरुक्षेत्र भी महासिद्ध पीठ हैं और मनोहरसिंह नाद स्थान भी महासिद्ध

पीठ है। असम में मणिपुर, सुप्रसिद्ध ऋषिकेश, प्रयाग एवं तपोवन भी महासिद्ध पीठ हैं। उत्तराखण्ड हिमालय में बद्रिकाश्रम महासिद्ध पीठ प्रसिद्ध है। गुजरात में अम्बाजी, और जगह अम्बिका अर्धनालक महापीठ और त्रिवेणी तथा गंगा का सागर संगम गंगा सागर भी महासिद्ध पीठ स्थान है। विरजा उड्डीयान स्थान भी महापीठ है।

कमला विमला चैव तथा माहिष्मती पुरी।
वाराही त्रिपुरा चैव वाग्मती नील वाहिनी ॥७॥

गोवरधनं विन्ध्यगिरिः काम रूपं कलौयुगे।
क्षीर ग्रामं वैद्यनाथं जानीयाद्राम लोचने ॥८॥

काम रूपं महापीठं सर्वं काम फल प्रदम्।
कलौ शीघ्र फलं देवि कामरूपे जपस्मृत्ः ॥९॥

जगन्नाथ पुरी में कमला और विमला नामक महासिद्ध पीठ हैं और नर्मदा तट पर माहिष्मति पुरी, वाराही क्षेत्र और त्रिपुरा में त्रिपुरा सुन्दरी देवी का स्थान भी महासिद्ध पीठ है। वागमती नील वाहिनी का, ब्रज में गिरि गोवर्धन तथा विन्ध्यांचल में विन्ध्यवासिनी देवी का स्थान सिद्ध महापीठ हैं। क्षीर ग्राम तथा वैद्यनाथ धाम में भी प्रसिद्ध महासिद्ध पीठ हैं। कलियुग में तो सभी प्रकार की मन्त्र-सिद्धि के लिए असम में काम-रूप कामाक्षा देवी का स्थान महासिद्ध पीठ सर्वोपरि है। वहां साधक की समस्त कामनायें पूर्ण होती हैं इसलिए कलियुग में प्रत्यक्ष और शीघ्र मन्त्र-सिद्धि के लिए कामरूप महासिद्ध

पीठ मे मन्त्र-जप करने को कहा है। इन ५१ और १०१ सिद्ध पीठों का विशेष विवरण प्राण तोषणी तन्त्र के द्वितीय परिच्छेद में है।

मंत्र जप में भोजन

शारदा तिलक तथा कुलार्णव तन्त्र, पञ्चदश उल्लास

अथ भक्ष्यं प्रवक्ष्यामि शृणष्वकमलानने।
अन्नं दुग्धं तथा तक्रं पायसं पूप सूपकम् ।।१।।
नवनीतं फलान्येव गुड पायस संयुतम्।
सर्वाणि फलपुष्पाणि विविधानिविधानवित् ।।२।।
भक्ष्यं हविष्य शाकादि विहितानिफलं पयः।
मूलं शक्तुर्यंवोत्पन्नोभक्ष्याण्येतानि मंत्रिणाम् ।।३।।

अब श्री महेश्वर सत्वर मन्त्र सिद्धि के लिये साधकों के भोजन को कहते हैं अन्न, चावल, गेहूँ, दूध, दही, मक्खन, छाछ, खीर, पूरी, हलवा, पुवे इत्यादि सात्विक पुष्टि कर भोजन तथा सभी प्रकार के अच्छे मीठे फल, शकरकन्दी, आलू, रतालू, सूरण इत्यादि कन्द मूल का फलाहार कर सकते हैं। हविष्यान्न दाल, भात, रोटी, परवल, तोरई आदि का शाक अथवा जौ के सत्तू, गुड़, घी, दूध के साथ अपनी शारीरिक, मानसिक अवस्थानुसार विचार करके आहार का निर्णय कर लेना चाहिए। नाना प्रकार के देवता हैं, उनके अनेक प्रकार के मंत्र हैं और उनके भक्त भी नाना प्रकार की कामना वाले हैं इसलिए हरेक प्रकार के मन्त्र अनुष्ठान करने वालों का नियम,

संयम, रहन-सहन, खाना-पीना एक सा नहीं है। निरामिष सात्विक भोजन और आमिष राजसिक; तामसिक भोजन करने वाले सभी मन्त्र जपते हैं और सभी के देवता एक हैं। परन्तु कामना का फल दूसरा है, इसलिए जिनका जैसा विधान है वैसा करें। सात्विक भावात्पन्न साधकों को यदि मन्त्र की सिद्धि करनी है तो दूसरों का अन्न कभी नहीं खाना चाहिए।

यस्मान्न पानमश्नाति कुरुते धर्म सञ्चयम् ।
अन्नंदातुः फलंचार्धं कर्त्तुश्चार्धं न संशयः ॥१॥

तस्मात्सर्वं प्रयत्नेन परान्नं वर्जयेत्सुधीः ।
पुरश्चरणकाले च काम्यकर्म स्वपीश्वरि ॥२॥

जिह्वादग्धा परान्नेन करौदग्धौप्रति ग्रहात् ।
मनोदग्धं पर स्त्रीभिः कार्यं सिद्धिः कथं भवेत् ॥३॥

जो लोग दूसरों का अन्न खाकर मन्त्र, जप, पुरश्चरण करके धर्म संचय करना चाहते हैं उनको समझ लेना चाहिए कि अन्न दाता को उनके जप, तप, पुण्य कर्म का आधा फल मिलता है। करने वाले को आधा फल ही रह जाता है। उसमें भी दीनता, दरिद्रता दिखाने से अथवा मिथ्या व्यवहार प्रतारणा करने से सभी चला जाता है और उल्टा पाप होता है। इसलिए बुद्धिमान साधकों को चाहिए कि प्रयत्न करके सर्वतोभावेन दूसरों का अन्नादि कुछ न लेवें। विशेष करके कामना सिद्धि के लिए पुरश्चरण करने वालों को तो किसी का भी अन्न या दान कभी भी नहीं लेना चाहिए, अपनी सात्त्विक कमाई का खाना चाहिये, तभी मंत्र की सिद्धि होगी। जिनकी

जिह्वा दूसरों का अन्न खाकर दग्ध हो गई दूसरों के दान के परिग्रह से जिनके हाथ भी दग्ध हो गये हैं और जिनका मन पर स्त्री भोग की इच्छा से जल रहा है उनको कार्य सिद्धि कैसे हो सकती है अर्थात् नहीं हो सकती।

वादार्थं पठ्यते विद्या परार्थं क्रियते जपः।
ख्यात्यार्थं दीयते दानं कथं सिद्धि वरानने ॥४॥
धनार्थ गम्यते तीर्थं दम्भार्थं क्रियते तपः।
अमेध्येन तु देहेन न्यासं देवार्चनं जपः।
होमंकुर्वन्तिये मूढ़ास्तत्सर्वं निष्फलं भवेत् ॥५॥

जो लोग वाद विवाद के लिए विद्या पढ़ते हैं, दूसरों की कामनार्थ मन्त्र जप करते हैं और अपनी ख्याति के लिए दान देते हैं उनको मन्त्र की सिद्धि कैसे हो सकती है? ऐसे ही जो लोग धन के लिए तीर्थ में जाते हैं एवं वहां जाकर दम्भ करके दूसरों को दिखाने के लिए या धन पाने की इच्छा से तप करते हैं ऐसे पाखण्डी पापी शरीर वाले मूढ़ मनुष्य अपने मृत देह से अंग न्यास देवार्चन तथा जप, तप, होम इत्यादि जो कुछ करते हैं वह सब उनका निष्फल होता है।

मंत्र जप के लिये आसन

योगासार

काम्यार्थं कम्बलं प्रोक्तं श्रेष्ठं स्याद्रक्त कम्बलम्।
कुशासने मन्त्र सिद्धिर्नात्र कार्या विचारणा ॥१॥

पद्मस्वस्तिक वीरादिष्वासनेषूपविश्य च ।
जपार्चनादिकं कुर्यादन्यथा निष्फलं भवेत् ॥२॥
लोम्नि चैव यदासीन स्तदा सर्वं विनश्यति ।
लोमस्पर्श मात्रेन सिद्धि हानिः प्रजायते ॥३॥

काम्यकर्म की सिद्धि के लिए मंत्र-जप तथा पुरश्चरण करने को रक्त कम्बल का आसन श्रेष्ठ माना है और कुशासन पर जप करने से निश्चय मन्त्र सिद्धि होती है उसमें कोई विचार ही नहीं करना। इसलिए कुशासन और उस पर रक्त वण कम्बल बिछा कर पद्मासन, स्वस्तिकासन अथवा वीरासन में बैठकर मंत्र, जप, पूजन, अर्चनादि कार्य करने चाहिए अन्यथा निष्फल होंगे। यदि लोम के आसन पर बैठकर जपादि किये जायें तो सर्वनाश होगा क्योंकि मंत्र साधन में लोम आसन के स्पश से सिद्धि की हानि होती है।

मंत्र के प्रकार

कुलार्णव तंत्र पञ्चदश उल्लास

मन्त्रार्थं मन्त्र चैतन्यं योनिमुद्रां न वेत्तियः ।
शत कोटि जपेनापि तस्य सिद्धिर्नजायते ॥१॥
गुप्त वीर्याश्च ये मंत्रा न दास्यन्ति फलं प्रिये ।
मन्त्राश्चैतन्य सहिताः सर्वसिद्धिकराः स्मृताः ॥२॥
चैतन्य रहिता मन्त्राः प्रोक्तावर्णस्तु केवलम् ।
फलंनैव प्रयच्छन्ति लक्षकोटि जपादपि ॥३॥

श्री महेश्वर कहते हैं कि जो साधक मंत्र का अर्थ मंत्र चैतन्य तथा योनि मुद्रा को नहीं जानते शत कोटि मन्त्र जप करने पर भी उनको मन्त्र की सिद्धि नहीं हो सकती। यह मन्त्र पहले साधकों के हृदय में गुप्त रहते थे, वह अब कह कर, लिखकर, छपकर सर्वत्र प्रकाश हो जाने से संस्कार रहित, असंस्कृत, प्रभाव रहित, हीनवीर्य हो गये हैं और उनका वास्तविक बल भी छिप गया है इसलिए ये शास्त्रोक्त वेद, पुराण और तंत्र में कहे हुए प्रकाश्य मन्त्र फलदायक नहीं होते। यही मन्त्र पुनः संस्कार करके जपने पर कुण्डलिनी शक्ति के जागरण से चैतन्य होकर सिद्धिदायक हो जाते हैं शास्त्र ग्रन्थो में कहे हुए सब मन्त्र चैतन्य रहित केवल अक्षर मात्र ही हैं, इसलिए उनका लक्ष कोटि जप करने पर भी वे फलदायक नहीं हो सकते।

मन्त्रार्थं मन्त्र चैतन्यं यो न जानासि साधकः।

शतलक्षप्रजप्तोऽपि तस्य मन्त्रो न सिध्यतिः ॥४॥

मन्त्रोच्चार कृतेयादृक् स्वरूपं प्रथमं भवेत्।

शतैः सहस्रैर्लक्षैर्वा कोटि जपेन तत्फलम् ॥५॥

मन्त्र सिद्धि न होने का प्रधान कारण यह है कि जो साधक मन्त्र का वास्तविक अर्थ, मन्त्र चैतन्य का भाव तथा मन्त्र प्रतिपाद्य कुण्डलिनी महाशक्ति के जागरण को नहीं जानते और मंत्र का जप ही करते रहते हैं, उनके कोटि मन्त्र जप करने पर भी मन्त्र सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि मन्त्र सिद्धि के लिए मन्त्र का अर्थ मन्त्र चैतन्य तथा कुण्डलिनी महाशक्ति का जागरण जानना और होना आवश्यक है। जब मन्त्र चैतन्य हो जाता है तो वह

चैतन्य मंत्र प्रथम एक बार जपने से जो फल दर्शाता है व‌ी फल पुनः शत, सहस्र, लक्ष और कोटि बार जपने से भी वही फल होता है। मत्र चैतन्य होने से कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत हो जाती है इसलिये फिर बारम्बार मन्त्र जपने की आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि मंत्र जप से कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होना ही परम फल की प्राप्ति है।

हृदये ग्रन्थि भेदश्च सर्वावयववर्धनम् ।
आनन्दाश्रु च पुलको देहावेशः कुलेश्वरि ॥६॥
गद्गदोक्तिश्च सहसा जायते नात्र संशयः ।
सकृदुच्चारितेऽप्येवं मंत्रे चैतन्य संज्ञके ॥७॥
दृश्यन्ते प्रत्ययायत्र पारंपर्यन्तदुच्यते ।

श्री महेश्वर कहते हैं कि गुरु की कृपा से अथवा विधिपूर्वक मंत्र का पुरश्चरण करके पाठ, पूजन, जप, तप, हवन करने से जब मंत्र चैतन्य होता है तब हृदय की ग्रन्थी का भेदन होता है और साधक को अन्तर में नाना प्रकार की ज्योतियों के प्रकाश अथवा अपने उपास्य देवी देवताओं के दर्शन होते हैं। तब साधक के आनन्दाश्रु बहने लगते हैं और रोमाञ्च हो जाते हैं एवं शरीर में आवेश आता है। वाणी गद्गद हो जाती है। अन्तर शक्ति कुण्डलिनी के जागने से निस्सन्देह सहसा ये सब सात्विक भक्तिभाव के लक्षण मंत्र उच्चारण मात्र से होने लगते हैं। इस प्रकार के निदर्शन, मंत्र चैतन्य के लक्षण शिव गुरु परम्परा में सर्वदा होते आये हैं इसलिये मंत्र शास्त्र में इसको गुरु परम्परा कहते हैं।

ये मंत्र शास्त्रोक्त, चैतन्य और सिद्ध तीन प्रकार के माने गये हैं। वेद, स्मृति पुराण तथा आगम शास्त्र में कहे हुए सब मंत्र शास्त्रोक्त कहलाते हैं, और इनके दोष का संशोधन, संस्कार, पुरश्चरण करके वाचिक, उपांसु, मानस और ध्यायिक जप वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ति और परावाणी में जपने से चैतन्य होते हैं। वाचिक जप वैखरी, बाणी में उपांसु, मध्यमा में मानस जप पश्यन्ति में किये जाते हैं। ध्यायिक जप परावाणी में स्वतः होता है। इसको चैतन्य मंत्र कहते हैं। तीसरे जो गुरु परंपरा सिद्ध गुरु से मिलते आयें हैं वे मंत्र सिद्ध कहलाते हैं। "नध्यातोनार्चित मंत्रः सुसिद्धोऽपि प्रसीदति। ना जप्तः सिद्धि दानेच्छुर्नाहुतः फल दो भवेत्" परंपरा गुरुओं के द्वारा मिलते आये सिद्ध मंत्र को जपने या संस्कार करने की आवश्यकता नहीं होती। वह तो चारों वाणी में, चारों जप सिद्ध हैं, ग्रहण मात्र से ही फलते हैं। जिनके पास यह सिद्ध मंत्र हो वह गुरु भी सिद्ध ही होते हैं।

मंत्र के दोष और नाम

बहू कूटाक्षरोमुग्धो बद्धः क्रुद्धश्च भेदितः।
बालः कुमारोयुवको वृद्धः प्रौढश्च गर्वितः ॥८॥

स्तंभितोमूर्छितः कष्टः संवीतः खण्डितः प्रिये।
मंत्रः पराङ्मुखच्छिन्नो बधिरोऽन्धस्त्व चेतनः ॥९॥

केकरः क्षुधितः क्लृप्तः स्थान दुष्टश्च पीड़ितः।
निस्नेहो विकलः स्तब्धो निर्जीवः खण्डितारिकः ॥१०

श्री महेश्वर दोषयुक्त मन्त्र के नाम कहते हैं बहुकूटाक्षर, मुग्ध, बद्ध, क्रुद्ध तथा भेदित, बाल, कुमार, युवा, वृद्ध, प्रौढ़ और गर्वित, स्तंभित, मूर्च्छित, कष्ट, संवीत एवं खण्डित मन्त्र दोष वाले हैं। पराङ्मुख, छिन्न, बधिर, अन्ध, अचेतन, केकर, क्षुधित, क्लृप्त, स्थान, दुष्ट, पीड़ित, निस्नेह, विकल, स्तब्ध निर्जीव और खण्डीतारिक इत्यादि मन्त्र निर्दोष नहीं होने से सुखदायक नहीं हैं।

सुप्तस्तिरस्कृतो लीढो मलिनश्चदुरासद्‌: ।
नि:सत्वोनिर्दयोदग्ध इचपलश्च भयङ्कर: ।।११।।
निस्त्रिशोविकृताचार: फलहीनो निकृन्तन: ।
निर्बीजोभूमित: शप्तो रूक्ष: कृष्टोऽङ्गहीनत: ।।१२
जडोरिपुरुदासीनो लज्जितो मोहित: प्रिये ।
मन्येतान्मंत्रदोषांश्च ज्ञात्वापश्चाज्जपेन्मनुम्‌ ।।१३
सिद्धिर्नजायते तस्य लक्ष कोटि जपादपि ।

सुप्त, तिरस्कृत, लीढ़, मलिन, दुरासद, निसत्व, निर्दय, दग्ध, भयंकर, निस्त्रिशक, विकृताचार, फलहीन, विकृन्तन, निर्जीव, भूमित, शप्त, रुक्ष, कृष्ट, अंगहीन, जड़, रिपु उदासीन लज्जित और मोहित इत्यादि सब मन्त्र दोषयुक्त कहे गये हैं। इनके दोषों को तथा उनके प्रतिकार को जानकर मन्त्र जपने चाहिये अन्यथा इन दोषों वाले मन्त्र का लक्ष और कोटि जप करने पर भी साधकों को मन्त्र की सिद्धि नहीं होगी वरं अनर्थ होगा। इसका विशेष वर्णन प्राणतोषिणीतन्त्र के दशम परिच्छेद में देखना चाहिये।

मन्त्र के संस्कार

शारदातिलक तन्त्र, द्वितीय पटल

कथ्यन्ते दश संस्कारा मन्त्रदोष हराः प्रिये ।
जननं जीवनं पश्चात्ताडनं बोधनं ततः ॥११२
अभिषेकोऽथ विमलीकरणाप्यायने तथा ।
तर्पण दीपनं गुप्तिः संस्कारा कुल नायिके ॥११३
शाणोल्लीढा निशस्त्राणि यथास्युर्निशितानिवै ।
मंत्राश्च स्फूर्त्तिमायान्ति संस्कारैर्दशभिस्तथा ॥११४

श्री महेश्वर ने कहा कि हे देवी ! जो मन्त्र के दोष मैंने कहे उनके नाश करने वाले दश संस्कार कहता हूँ, सुनो ! जनन, जीवन, ताड़न, बोधन, अभिषेक, विमलीकरण, आप्यायन, तर्पण, दीपन और गुप्ति—यह दश संस्कार हैं। इनके कर लेने से सब मन्त्र शुद्ध, स्वच्छ, प्रकाशमान, प्रभावशाली कार्य-कर एवं चैतन्य हो जाते हैं। जैसे जंग लगे हुये अस्त्र, शस्त्र, शाण पर धार लगाने से तीक्षण, तेजस्वी और कार्यकर हो जाते हैं, वैसे ही मन्त्र के दश संस्कार हो जाने से मन्त्र भी स्फूर्तिवान् होकर सिद्धिदायक हो जाते हैं।

मंत्राणां मातृकामध्यादुद्धारो जननं स्मृतम् ॥११४
प्राणवान्तरितान्कृत्वा मन्त्र वर्णान् जपेत्सुधीः ।
एतज्जीवन मित्याहुर्मन्त्र तन्त्र विशारदाः ॥११५
मन्त्र वर्णान्समालिख्य ताडयेच्चन्दनाभसा ।
प्रत्येकं वायुनामन्त्री ताडनं तदुराहृतम् ॥११६

विलिख्य मन्त्रतंमन्त्री प्रसूनैः करवीरजैः ।
तन्मन्त्राक्षरसंख्यातैर्हन्याद्यान्तेन बोधनम् ॥११७॥

बुद्धिमान् साधकों को चाहिए कि जिस मन्त्र का जप या अनुष्ठान करना हो उसको भोजपत्र पर अष्टकोण में अष्टदल कमल मातृ का यन्त्र बनाकर केशर अथवा गोरोचन से लिखकर फिर पर्याय क्रम से मातृ का यन्त्र लिखित मन्त्र का उद्धार करके जपने का नाम जनन कहलाता है। इस प्रकार उद्धृत मन्त्राक्षरों को प्रणव के साथ एक-एक सौ बार जपने का नाम मन्त्र-तन्त्र विशारद ऋषि-मुनियों ने जीवन कहा है। मन्त्र के प्रत्येक अक्षर को पृथक्-पृथक् लिखकर वायु बीज 'यं' द्वारा चन्दन के जल से हरेक मन्त्राक्षर को शतबार प्रोक्षण करने से ताड़न होता है पुनः उस मन्त्र को लिख के उसके प्रत्येक अक्षर को उतने ही लाल कनेर के पुष्पों से अग्नि बीज 'रं' द्वारा हनन करने से बोधन संस्कार होता है।

स्वतन्त्रोक्त विधानेन मंत्रीमंत्रार्ण संख्यया ।
अश्वत्थपल्लवैर्मन्त्र मनिषिञ्चयेद् विशुद्धये ॥११८॥

सञ्चिन्त्य मनसामंत्रं ज्यौतिर्मन्त्रेणनिर्दहेत् ।
मन्त्रे मल त्रयं मंत्री विमली करणन्त्विदम् ॥११९॥

तारंव्योमाग्नि मनुयुग्दंण्डि ज्योतिर्मनुमतः ।
कुशोदकेन जप्तेनप्रत्यर्णं प्रोक्षणं मनोः ॥१२०॥

तेन मन्त्रेण विधिवदेतदाप्यायनं मत्तम् ।
मंत्रेणवारिणा मन्त्रे तर्पणं तर्पणं स्मृतम् ॥१२१॥

फिर अपने उपास्य देवी-देवता, शिव, शक्ति, विष्णु इत्यादिक में शिव मन्त्र के लिये शिव तन्त्रानुसार, शक्ति मन्त्र में शक्ति तन्त्रानुसार और विष्णु मन्त्र को वैष्णव तन्त्रानुसार अपने इष्ट-मन्त्र को पूर्वकथित भोजपत्र पर लिखकर उनके प्रत्येक वर्णाक्षर संख्यानुसार पीपल के पत्ते से ज्योतिर्मन्त्र प्रणव द्वारा अभिसिंचन करे और साथ ही मन से जप कर आधार स्थित कुण्डलिनी महाशक्ति का उत्थान भी करे। इस प्रकार करने से मन्त्र के आणव, कार्मण मायिक (सहज, आगन्तुक और कार्मण) इन मलत्रय की निवृत्ति होती है और मन्त्र निर्मल हो जाते हैं इसको विमलीकरण कहते हैं । ज्योतिर्मन्त्र तारः, प्रणवः, व्योमहकारः, अग्निरेफः, मनु, दण्डी और अनुस्वार बिन्दुः इन सब का योग मन्त्र "ॐ ह्रीं" है। पूर्व कथित मन्त्र वर्ण सभी को स्वर्ण जल, कुशोदक, पुष्पोदक द्वारा ज्योतिर्मन्त्र ॐ से आप्यायन तृप्त करने का नाम आप्यायन है। पुनः उक्त ज्योतिर्मन्त्र द्वारा मन्त्राक्षरों को १०८ बार जप कर जल से तर्पण करने का नाम तर्पण कहलाता है। शक्ति के मन्त्र को मधु से, विष्णु मन्त्र को कर्पूर मिश्रित जल द्वारा और शिव मन्त्र को घृत, दुग्ध से शतवार अभिषेक करने का नाम अभिषेक है।

तारमायारमायोगे मनोर्दीपनमुच्यते।
जप्यमानस्यमंत्रस्य गोपनन्त्वप्रकाशनम् ॥१२२
संस्कारादश सं प्रोक्ताः सर्वं तंत्रेषु गोपिताः।
बध्वा च योनि मुद्रां तां संकोचाधार पंकजम् ॥१२३

तदुत्पन्नान्मंत्रवर्णान्कुर्वंतश्च गतागतम् ।
ब्रह्मरंध्रावधिध्यात्वा वायुमापूर्य कुम्भयेत् ॥
सहस्रं प्रजपेन्मन्त्री मन्त्रदोषा प्रशान्तये ॥१२४

इष्टं मन्त्र को ब्रह्म बीज "ॐ" तथा माया शक्ति बीज "ह्रीं श्रीं" का सम्पुट देकर आधार स्थित शक्ति का उद्बोधन कर कुम्भक प्राणायाम में १०८ बार जपने से मन्त्र की शक्ति प्रदीप्त होती है—इसको दीप्ति कहते हैं। इष्ट मन्त्र का जप करते-करते सुषुम्ना विवर में मन प्राण का लय कर देने का नाम गुप्ति संस्कार है जो प्रकाश करने योग्य नहीं है। गुरु मंत्र अप्रकाश्य है इसलिये यह दश संस्कार भी सब तन्त्र ग्रन्थों में गुप्त रखे हैं। इनका भेद अपने गुरु से जान लेना चाहिये। महाबन्ध आसन में बैठकर, योनि मुद्रा करके आधार चक्र का संकोच कर, कुम्भक प्राणायाम करके, कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत, कर शक्ति के साथ मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त इष्टमंत्र के गमनागमन में मन लगाकर सहस्र बार मंत्र जपने से मंत्रों के सभों प्रकार के दोषों का प्रशमन हो जाता है और मंत्र की सिद्धि भी सत्वर हो जाती है।

गौतमश्च भारद्वाजो विश्वामित्र ऋषिस्तथा ।
जमदग्निर्वशिष्ठश्च कश्यपोऽत्रिश्च कुम्भजः ॥१॥
गायत्र्युष्णिगनुष्टुप च बृहती पंक्तिरेव च ।
त्रिष्टुब्जगत्यौ च विराट् वसवोऽष्टो च देवता ॥२॥
पूजा ध्यानं जपोहोमं तस्मात्कर्म चतुष्टयम् ।
प्रत्यहं साधकः कुर्यात्स्वयं चेत्सिद्धि मिच्छति ॥३॥

जपः श्रान्तः शिवं ध्यायेत् ध्यान श्रान्तः पुनर्जयेत् ।
जप ध्यान समायुक्तः शीघ्रं सिद्धति मन्तवित् ॥४॥

गौतम, भारद्वाज, विश्वामित्र, जमदग्नि, वशिष्ठ, कश्यप, अत्रि और कुम्भज—ये आठ मंत्र के ऋषि हैं और गायत्री, अनुष्टुप, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप, जगती, विराट् और वसु—ये मंत्र छंद के अष्ट देवता हैं। मंत्र पुरश्चरण काल में इनका जानना आवश्यक है। यदि साधक को अपने इष्ट-मंत्र की सिद्धि की इच्छा है तो पूजा, ध्यान, जप और हवन—ये चार कर्म नित्य नियम से प्रत्यह करने चाहिये। जब ध्यान से मन थक जाये तो पुनः जप करना चाहिये। इस प्रकार पुनः पुनः जप, ध्यान में लगे रहने से साधकों को शीघ्र मंत्र की सिद्धि हो जाती है।

मंत्र चैतन्य और कुंडलिनी जागरण

रुद्रयामल तथा गौतमीय तंत्र

शृणुदेवि प्रवक्ष्यामि सर्वं ज्ञानोत्तमौत्तमम् ।
येन विज्ञान मात्रेण क्षिप्रं विद्या प्रसिद्धयति ॥१॥
मूल कन्दे च या शक्तिर्भुजंगाकार रूपिणी ।
तद्भ्रमावर्त वातो यः प्राण इत्युच्यते बुधैः ॥२॥
झिञ्जी वाव्यक्त मधुरा कूजन्ती सततोत्थिता ।
गच्छन्ती ब्रह्मरन्ध्रेतु प्रविशन्ती स्व केतने ॥३॥

श्री महेश्वर देवी भगवती के प्रति कहते हैं कि अब मैं मंत्र विद्या का परम श्रेष्ठ ज्ञान कहता हूं जो प्रत्यक्ष फलप्रद है और

सब ज्ञानों में सर्वोत्तम है। जिसके विशेष ज्ञान से अपने इष्ट मंत्र की सिद्धि सत्वर हो जाती है। मूलाधार में जो सर्पाकार कुण्डलिनी महाशक्ति है उसका ध्यान करके कुम्भक प्राणायाम से प्राण का भ्रमण, संचालन करने से प्राण वायु सुषुम्ना में घूमने लगता है तब वह शक्ति झिञ्जी कीट की तरह झिन्-झिन् चिन्-चिन् इत्यादि नाना प्रकार के अव्यक्त, श्रुति मधुर शब्द करते-करते उत्थित होकर सुषुम्ना विवर में जाती है और सहस्रार में प्रवेश करती है एवं पुनः अपने स्थान मूलाधार में आ जाती है।

यातायात क्रमेणैव तत्र कुर्यान्मनोलयम्।
तेन मंत्र शिखाजाता सर्व मंत्र प्रदीपिका ॥४॥
तमः पूर्णगृहे यद्वत् नकिञ्चित्प्रतिभासते।
शिखाहीनास्तथा मंत्रा न सिध्यन्ति कदाचन् ॥५॥

इस प्रकार कुण्डलिनी शक्ति के मूलाधार से ऊपर ब्रह्मरन्ध्र जाने में और ब्रह्मरन्ध्र से नीचे मूलाधार में आने में बारंबार मन लगा के इष्ट मंत्र जपते रहने से मंत्र की शक्ति का प्रकाश हो जाता है एवं मन का लय होने से मंत्र शिखा प्रदीप्त हो जाती है फल स्वरूप मंत्र शक्ति के प्रकाश से साधक को अन्तर में नाना प्रकार के दृश्य तथा देवी देवताओं के दर्शन होते हैं और साधक के सभी प्रकार के मंत्र चैतन्य हो जाते हैं। परन्तु जैसे अन्धकार गृह में प्रदीप के बिना कुछ भी नहीं दीखता वैसे ही शिखाहीन, चैतन्य रहित मंत्र से अन्तर आगार में कुछ भी नहीं दीखता और कभी किसी मंत्र की सिद्धि भी नहीं होती है।

पशुभावे स्थिता मंत्राः प्रोक्तवर्णास्तु केवलः ।
सौषुम्णध्वन्युच्चारिता प्रभुत्वं प्राप्नुवन्तिते ॥१॥
मंत्राक्षराणिचित्शक्तौ प्रोतानिपरिभावयेत् ।
तमेतत्परम व्योम्नि परमामृत वृन्हिते ॥
दर्शयत्यात्म संभावं पूजा होमादिभिर्विना ॥२॥
मूल मंत्रं प्राणबुध्या सुषुम्ना मूल देशके ॥
मंत्रार्थं तस्य चैतन्यं जीवं ध्यात्वा पुनः पुनः ॥३॥

जो मंत्र संस्कार किये बिना जपे जाते हैं वे सब पशु भाव वाले, शुद्धि रहित केवल अक्षर मात्र ही कहे गये हैं। उनको चैतन्य करने के लिये पूर्व कथित मन, प्राण का रोध करके वे कुण्डलिनी शक्ति सह सुषुम्ना में उच्चारित करने होते हैं। अतएव मंत्राक्षर को चैतन्य स्वरूपिणी शक्ति के साथ ग्रथित करके चिन्ता करनी चाहिये। चिन्मयी शक्ति और परमा-मृत-मय पर शिव की भावना मूलाधार से सुषुम्ना विवरस्थ ब्रह्म-रन्ध्र, अन्तर आकाश, पर व्योम में करनी चाहिये। इस प्रकार कुल कुण्डलिनी शक्ति के साथ सुषुम्ना में अध. ऊर्ध्व मन लगा कर मन्त्र जपने से मन्त्र की चैतन्य शक्ति जाग्रत होती है और अपने सामर्थ्य को दर्शाती है। यह बात बिना पूजा होम के ही मन्त्र चैतन्य होने से बन जाती है इसलिये प्राणायाम द्वारा प्राण का निरोध कर, मूलाधार सुषुम्ना में प्राण शक्ति कुण्डलिनी का ध्यान करके बुद्धिपूर्वक मन की दृढ़ता से मूल मन्त्र को बारम्बार जपते रहने से साधक का मन्त्र चैतन्य हो जाता है। फल-स्वरूप मन्त्रार्थ एवं मन्त्र प्रतिपाद्य कुण्डलिनी

शक्ति का परिज्ञान होकर साधक को परमार्थ की परम सिद्धि हो जा ी है।

मंत्र के साथ योग साधन

रुद्रयामल तंत्र

मूलत्वात्सर्वं मंत्राणां मूलाधार समुद्भवम्।
मूल स्वरूप लिङ्गत्वात् मूल मंत्र इतिस्मृतः ॥१॥

योगशास्त्र और मंत्र शास्त्र के ज्ञान का संपूर्ण विषय कुल-कुण्डलिनी शक्ति पर निर्भर करता है। जब तक कुण्डलिनी शक्ति नहीं जागती तब तक न तो किसी मंत्र की सिद्धि होती है और न किसी भी प्रकार के योग की सिद्धि हो सकती है। इसलिये श्री महेश्वर ने उस परमा शक्ति के जागने का उपाय तन्त्र मन्त्र ग्रन्थों में और योग शास्त्र में बारम्बार कहा है। सब मन्त्रों का मूल मूलाधार स्थित कुण्डलिनी शक्ति है इससे ही सब मंत्रों का उद्भव होता है। यही सब ज्ञान का मूल स्वरूप है इसलियें इसको मूल मंत्र कहा गया है।

तंत्रोक्त कथिता मंत्राः सर्वेसिद्ध्यन्ति नान्यथा।
स्वयं सिद्धि भवेत्क्षिप्रंयोगे हि प्राणवल्लभः ॥२॥
मंत्र सिद्धिरिच्छुको यो सवैयोगं सदाभ्यसेत्।
एतत् योग प्रसादेन चैतन्या कुण्डलिनी भवेत् ॥३॥
न योगेन बिना मंत्रो न मंत्रेण बिना हि सः।
द्वयोरभ्यासयोगेन ब्रह्म संसिद्धि कारकम् ॥४॥

शास्त्र कथित वे सब मंत्र वैसे ही जपने से सिद्ध और चैतन्य

नहीं हो सकते जैसे कि प्रायः लोग जपा करते हैं । उन मन्त्रों की अपने आप और सत्वर सिद्धि तो योगाभ्यास से ही होती है। इसलिये यदि तुम्हें अपने इष्ट-मन्त्र की सिद्धि की इच्छा है तो सदा योग साधन करते रहना चाहिये क्योंकि तुम्हारे नित्य-प्रति के योगाभ्यास से ही कुलकुण्डलिनी महाशक्ति जागेगी एवं उसके जागने से ही तुम्हारा मंत्र भी चैतन्य और सिद्ध हो जायेगा। तभी तुम्हें मन्त्र जप का वास्तविक फल सिद्धि मिलेगी जिससे तुम कृतार्थ हो जाओगे। श्री महेश्वर के बारम्बार कहने से तुम्हें निश्चय जान लेना चाहिये कि योग साधन किये बिना मत्रों की सिद्धि नहीं हो सकती, और बिना मंत्र जप किये सत्वर योग की सिद्धि नहीं होती। मन्त्र-जप एवं योग-साधन दोनों के एक साथ अभ्यास से ही परम-शान्तिदायक ब्रह्मज्ञान की महासिद्धि होती है।

प्राणयोग

सरस्वती तन्त्र षष्ठ पटल

अथ वक्ष्यामि देवेशि प्राणयोगं शृणुष्वमे ।
बिना प्राणं यथादेहः सर्वकर्मसुनक्षमः ।।
बिना प्राणं तथा मंत्राः पुरश्चर्याशतैरपि ।
मायया पुटितो मंत्रः सप्तधा जपतः पुनः ।।
सप्राणो जायते देवि सर्वत्रायं विधि स्मृतः ।

अब श्री महेश्वर मंत्र को प्राणवान, क्रियाशील बनाने का विधान कहते हैं कि जैसे बिना प्राण के यह शरीर सभी कार्य करने में अक्षम होता है, कोई काम नहीं कर सकता वैसे ही ये

मत्र भी सौ पुरश्चरण करने पर भी बिना प्राण के कार्यकर नहीं होते । इसलिये इन मंत्रों को, जैसा पहिले कहा, पुरुष मत्र ब्रह्म बीज के साथ शक्ति मंत्र माया बीज का और स्त्री मन्त्र शक्ति बीज के साथ पुरुष मंत्र ब्रह्म बीज का पुट लगा के सुषुम्ना में मन-प्राण का रोध करके शतवार या सप्तवार पुनः पुनः जपने से सब मन्त्र प्राणवान् और चैतन्य हो जाते हैं मन्त्र चैतन्य और प्राणवान् करने की सर्वत्र शास्त्र विधि यही है ।

निर्वाण तंत्र तथा निरुत्तर तंत्र, पञ्चम पटल

ईश्वरः सर्व कर्ता च निर्गुणश्चाचलः शिवः ।
भुवनेशीबिना देवि स्पन्दितुं नैव शक्यते ।।१।।
पङ्गु प्रायः सदाचेशो गमितुं नहिशक्यते ।
भुवनेशीं समासाद्य सर्व स्वामी च ईश्वर ।।२।।

शक्ति बिना महेशानि सदाहं शव रूपकः ।
शक्तियुक्तो सदा देवि शिवोऽहं सर्वकामदः ।।
शक्ति युक्तं जपेन्मंत्रं न मंत्रं केवलं जपेत् ।।१।।

श्री महेश्वर कहते हैं कि जो ईश्वर सर्वकर्ता, निर्गुण और अचल शिव हैं वह भी बिना शक्ति के कोई क्रिया नहीं कर सकते क्योंकि ईश्वर अपनी शक्ति माया के बिना प्रायः सदा पंगु और कार्य करने में असमर्थ है । वही शिव माया शक्ति से संयुक्त होने से सृष्टि आदि कर्म करके सबका स्वामी ईश्वर होता है । इसलिये शिवजी पुनः पुनः कहते हैं कि हे देवी ! तुम्हारे बिना, बिना शक्ति के मैं शिव सदा मृतवत् निष्क्रिय हूँ । तुम्हारी शक्ति से शक्ति युक्त होकर ही मैं सभी को भोग और मोक्ष देता

हूँ। अतएव अकेला ब्रह्म मन्त्र, शक्ति बीज के बिना कार्य करने में अक्षम है। जैसे माया के बिना ब्रह्म और ब्रह्म के बिना माया, स्त्री के बिना पुरुष और पुरुष के बिना स्त्री कुछ भी नहीं कर सकते। जो कुछ होता है वह दोनों के संयोग से ही होता है। इसलिये ब्रह्म बीज मन्त्र के साथ माया बीज लगाकर मन्त्र-जप करना चाहिये। केवल मन्त्र नहीं जपना चाहिये। माया रहित निराकार निर्गुण ब्रह्म शिव साधकों को भोग और मोक्ष नहीं दे सकते। वे बिना शक्ति के कुछ भी नहीं कर सकते।

सावित्री सहितो ब्रह्मा सिद्धोभून्नगनन्दिनी।
द्वारा वत्यांकृष्णदेवः सिद्धोऽभूत्सत्ययासह ॥२॥
तथा कोच वधुसङ्गान्मम सिद्धि वरानने।
ईश्वरोऽहंमहा देवि केवलं शक्ति योगतः ॥३॥
शक्ति योगेन देवेशि यदि सिद्धिर्नजायते।
तदैव परमेशानि मम वाक्यं वृथा भवेत् ॥४॥
न शिवेन बिना शक्तिर्न शक्ति रहितः शिवः।
न तत्त्वतस्तयोर्भेदश्चन्द्र चन्द्रिकयोरिव ॥५॥

हे देवी पार्वती ! पुरुष और प्रकृति के संयोग से ही जगत् के सब कार्य संपादन होते हैं। सावित्री के सहित ही ब्रह्मा सिद्ध माने गये हैं और ब्रह्माण्ड की रचना करने में समर्थ हुये हैं। विष्णु भी लक्ष्मी सहित जगत् का पालन करते हैं। द्वारिका में श्री कृष्ण भी अपनी स्त्री शक्ति सत्यभामा के साथ ही सिद्धि को प्राप्त हुये थे। श्री राम भी सीता के सहयोग से प्रसिद्ध

हुये। वैसे ही, हे महादेवी ! तुम्हारे संग से ही ईश्वर पार्वती, शिव शक्ति के नाम से मेरी प्रसिद्धि और सिद्धि है। मैं सभी का स्वामी ईश्वर कहलाता हूँ, वह भी एक मात्र तुम्हारे ही संयोग से। अतएव, हे देवी ! स्त्री के बिना पुरुष धर्म, अर्थ, काम, भोग नहीं कर सकता। इस मर्त्यलोक में भुक्ति और मुक्ति का साधन स्त्री के संग से ही होता है, इसलिये स्त्री के साथ रहकर भी मन्त्र सिद्धि न हो तो मेरा वाक्य वृथा समझना। शिव के बिना शक्ति नहीं और न शक्ति के बिना शिव है। तत्वतः दोनों में कोई भेद नहीं है। जैसे चन्द्रमा और ज्योत्स्ना पृथक् नहीं है वैसे ही शिव और शक्ति दोनों एक हैं। इसलिये भेद बुद्धि त्याग कर शिव और शक्ति, ब्रह्म और माया को एक जानकर मन्त्र साधन करना चाहिये।

मन्त्र सिद्ध योग

मालिनी विजयोत्तर तन्त्र, विंशोऽधिकार

इतिपिण्डादि भेदेन शिव ज्ञानमुदाहृतम्।
योगाभ्यास विधानेन मन्त्र विद्या गणंश्रृणु ॥१॥

पूर्वोक्त विधि संनद्धः प्रदेशे पूर्व चोदिते।
नाभ्यादि यञ्चदेशानां पराणं क्वापि चिन्तयत् ॥२॥

स्वस्वरूपेण प्रभाभार प्रकाशित तनूदरम्।
दीप्तिभिस्तस्य तीव्राभिराब्रह्म भुवनं ततः ॥३॥

एवं संस्मरतस्तस्य दिवसैः सप्तभिः प्रिये।
रुद्र शक्ति समावेश सुमहान्सां प्रजायते ॥४॥

अब श्री महेश्वर पूर्व कथित शरीर के भेद से शिव ज्ञान को कहकर योगाभ्यास के विधान से मन्त्र शक्ति की महिमा कहते हैं। जैसा पहिले कहा कि विधिपूर्वक मन्त्र-जप के अभ्यास में लग जाने से अन्तर शक्ति का जागरण होता है। तब साधक को दिव्यभाव की प्राप्ति होती है। फलस्वरूप मंत्र चिन्तवन करने मात्र से स्वयमेव योग साधन होने लगता है और अपने आत्मा की प्रभा से सर्वत्र प्रकाशमय तीव्र दीप्ति के कारण अन्तर के भुवन का ज्ञान प्रकाशित होता है। इस प्रकार क्रिया शक्ति का तीव्र वेग निरन्तर सात दिन चलते रहने से साधक में रुद्र शक्ति का समावेश होता है तब महानता आ जाती है।

आविष्टो बहु वाक्यानि संस्कृतादिनि जल्पति ।
महाहास्यं तथागेयं शिवारुदित मेव च ।।५।।

करोत्याविष्ट चित्तस्तु नतुजानाति किञ्चन ।
मासे नैवं यदा मुक्तो यत्र यत्राव लोकयेत् ।।६।।

तत्र तत्र दिशः सर्वा ईक्षते किरणाकुलाः ।
यां यामेव दिशं षड्भिर्मासैयुक्तस्तु वीक्षते ।।७।।

रुद्र शक्ति समाविष्ट साधक शक्ति के आवेश में नाना प्रकार के वाक्य तथा संस्कृत आदि भाषायें बोलने लगता है। नाना प्रकार से हँसता है, गाता है और शृगाल के रोने के सदृश विकट, श्रवण-कटु शब्द बोलता है। ये सब क्रियायें मन में शक्ति का आवेश होने के कारण स्वयमेव हो जाती हैं, परन्तु साधक अपने आप कुछ नहीं जानता। इस प्रकार मासावधि

क्रियाशक्ति का तीव्र वेग चलता है जो इच्छा करने पर भी रोका नहीं जा सकता । वेग के शान्त होने पर जहां-जहां साधक की दृष्टि पड़ती है वहीं-वहीं सर्वत्र सब दिशा में अपने आत्मा की प्रभा से व्याप्त किरणों के प्रकाश को देखता है। इस अवस्था को प्राप्त हुआ साधक छः मास तक जिस-जिस दिशा को देखता है ।

नानाकाराणि रूपाणि तस्यां तस्यां प्रपश्यति ।
नतेषु संदधेच्चेतः नचाभ्यासं परित्यजेत् ।।८।।
कुर्वन्नेतद्विधं योगी भीरुरुन्मत्त को भवेत् ।
वीरः शक्ति पुनर्याति प्रमादात्तद् गतोऽपिसन् ।।९।।
वत्सराद्योग संसिद्धि प्राप्नोति मनसेप्सिताम् ।
परापरामथै तस्या अपरां व यथेच्छया ।।१०।।

वहां वहां नाना प्रकार के आत्म ज्योतियों के रूप उसको दिखाई पड़ते हैं परन्तु उन रूपों में न उनका चित्त ठहरता है और न उन रूपों को साधक देखना ही छोड़ता है। इस प्रकार क्रिया शक्ति के आवेश को प्राप्त हुआ योगी आनन्द से उत्फुल्ल भयभीत और आनन्दोन्मत्त होता है। यदि साधक को प्रमाद से इस स्थिति में कोई बाधा पड़े तो भी साधक पुनः शक्ति सम्पन्न हो जाता है और समुचित स्थिति में आ जाता है। इस प्रकार तीव्र संवेग से एक वर्ष तक योगाभ्यास करते रहने से यथेच्छ योग सिद्धि को प्राप्त करता है और इस योग सिद्धि के कारण योगी अपनी इच्छानुसार चाहे जैसी स्थिति में रह सकता है ।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—यह चतुर्वर्ग प्राप्त करने के लिए ही इस लोक में मनुष्य जन्म की प्राप्ति हुई हैं और इस जन्म में ही इन चारों पदार्थ की सिद्धि कराने वाला एक मात्र उपाय योग साधन एवं मंत्र-साधन है। मंत्र और योग-साधन से ही मनुष्य भुक्ति-मुक्ति शीघ्र पा सकता है। इसके बिना और किसी उपाय से साधक भोग और मोक्ष दोनों नहीं पा सकता। इन चार की प्राप्ति के लिये शास्त्र ने ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—यह चार आश्रम की विधि व्यवस्था की है। ब्रह्मचर्य अवस्था में विद्या पढ़कर धर्म उपार्जन करना, गृहस्थाश्रम में धर्म-संगत उपाय से अर्थ उपार्जन करके अपनी भोग-वासना का उपभोग करके कामना पूरी करना, वानप्रस्थावस्था में भोगों को त्याग कर तपस्या करना, एवं अन्त में संन्यास लेकर मोक्ष पा लेना। यह शास्त्र-विधि मनुष्य की शत वर्ष आयु के हिसाब से इस प्रकार से है कि २५ वर्ष ब्रह्मचर्य, २५ वर्ष गृहस्थ एवं २५ वर्ष वानप्रस्थ में रहकर शेष समय में संन्यास लेकर देह त्याग करना ताकि संसार में मनुष्य जन्म लेना सार्थक हो जायें।

कृष्णोभोगो सुकस्त्यागी राज्ञां जनक राघवौ।
वशिष्ठः कर्मकर्त्ता च पञ्चैते ज्ञानिनः स्मृताः ॥

बुद्धिमान् विवेकी के लिये भोग का साधन केवल एक मात्र गृहस्थाश्रम ही है जो स्त्री सह होता है। बाकी तीन आश्रम तो केवल तपस्या और भोग त्यागने के लिये हैं। उनमें तो भोगत्याग से ही मुक्ति होती है। दुर्भाग्यवश यदि ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी, संन्यासी, त्यागी होकर भोगी बने तो निश्चय नरक में जायेंगे।

अतएव एक मात्र गृहस्थाश्रम ही ऐसा है कि जिसमें भोग और मोक्ष दोनों का साधन किया जाता है एवं होना भी है और आश्रमों में भोग नहीं है, केवल मुक्ति का साधन त्याग है। अन्य आश्रमों में जो भोग करते हैं वे महा पापी हैं। उनका जीवन वृथा है, ऐसा धर्म-शास्त्र का कथन है। इसलिये धर्म शास्त्रानुसार मंत्र, औषध, योग, ज्ञान, ध्यान की सिद्धि का भौतिक फल भोग ऐश्वर्य स्त्री सह गृहस्थाश्रम में ही भोगा जाता है, वह भोगना चाहिये। प्रसिद्ध गीता वक्ता भगवान श्री कृष्ण महा भोगी थे तथापि वही योगेश्वर, परम ज्ञानी कहलाते हैं। वैसे ही राजाओं में जनक तथा भगवान श्री रामचन्द्र भी गृहस्थाश्रम में सब विषयों के स्वभावतः ही भोक्ता होने पर भी श्रेष्ठ ज्ञानी माने जाते हैं। मंत्र, योग, ज्ञान तथा ध्यान के पारंगत रघुवंश के परम श्रेष्ठ गुरु ब्रह्मर्षि वशिष्ठ मुनि सभी प्रकार के कर्म के कर्त्ता होने पर भी महाज्ञानी प्रसिद्ध हैं। याज्ञवलक्य, व्यास, पाराशर आदि बहुत से ऋषि, मुनि, योगी, ज्ञानी, ध्यानी, राजर्षि, महर्षि, ब्रह्मर्षि इत्यादि सभी लोग गृहस्थाश्रम में ही सिद्धियों का उपभोग करते कराते थे। इसके विपरीत शुकदेव परम त्यागी थे। यदि त्याग ही करना है तो शुकदेव का ही अनुकरण करना चाहिये। इस प्रकार परम और चरम भोग ऐश्वर्य सम्पन्न जीवनमुक्त श्री कृष्ण, श्री राम, जनक राजा, वशिष्ठ मुनि एवं सर्व त्यागी शुकदेव—ये पांच पुरुष महाज्ञानी, भोग और मोक्ष की प्रति मूर्ति, जीवनमुक्त और विदेही प्रसिद्ध हैं। अतएव गृहस्थाश्रम ही परम श्रेष्ठ आश्रम है।

अष्टादश प्रकाश

तन्त्र शास्त्र में तत्त्वज्ञान

भारत में बौद्ध धर्म के प्रचार से पहले किसी समय तन्त्र सम्प्रदाय बड़ा प्रबल था। इस तन्त्र सम्प्रदाय के अनुयायी लोग सभी देशों में थोड़े बहुत थे। विशेष करके भारत में बंगाल, आसाम, उत्कल, मैथिल, नैपाल, काश्मीर में अभी तक हैं। बर्मा, स्याम, जापान, चीन, जावा, सुमात्रा, बाली आदि द्वीपों मे तन्त्र कथित देवताओं की मूर्तियां अभी तक वर्तमान हैं। इससे जाना जाता है कि उस समय सभी देशों में तन्त्र धर्म का प्रचार था। भागवत के एकादश स्कन्ध में तन्त्र विधि के अनुसार पूजा का विधान कहा है। प्रसिद्ध पुरुष भगवान रामचन्द्र जी ने रावण के वध के लिये दुर्गादेवी की पूजा की थी और देवी से वरदान पाया था। इससे ज्ञात होता है कि यह तन्त्र शास्त्र की विधि व्यवस्था भी वेद-विधि की तरह बहुत ही प्राचीन व्यवस्था है। तन्त्र सम्प्रदाय वाले तन्त्र शास्त्र को पंचम वेद भी कहते हैं अर्थात् उनके मत में तन्त्र शास्त्र पांचवां वेद है।

विष्णु क्रान्ता, रथ क्रान्ता और अश्व क्रान्ता नाम से तंत्र ग्रन्थ तीन भाग में विभक्त माने गये हैं, जो पृथ्वी के सभी देशों के लिये पृथक् पृथक् हैं। विष्णु क्रान्ता के ६४, रथ क्रान्ता के ६४ और अश्व क्रान्ता के ६४ तंत्र ग्रन्थ हैं। सब मिलकर १९२ तन्त्र ग्रन्थों के नाम प्राण तोषणी में दिये हैं जो सब शिव ने कहे हैं। इन १९२ के अतिरिक्त और भी तन्त्र

ग्रन्थों के नाम प्राण तोषणी में दिये हैं। जो सब मिलाकर ३०० के करीब होते हैं, परन्तु वर्तमान में बहुत ही थोड़े तन्त्र ग्रन्थ मिलते हैं। श्रीनगर काश्मीर सीरीज नाम से काश्मीर राज्य की ओर से ५०-६० तन्त्र ग्रन्थ छापे हैं जो देखने ही योग्य हैं और कहीं सब तन्त्र ग्रन्थ एकत्र मिलते नहीं हैं।

यह तंत्र शाक्त, शैव और वैष्णव नाम से तीन प्रकार के हैं। पद्म-पादाचार्य का प्रपञ्चसार वैष्णव तंत्र प्रसिद्ध है। तंत्र शास्त्र में प्रकृति के सात्विक, राजसिक और तामसिक तीनों गुणों की उपासना का विधान है और उसका फल धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नरक गमन भी कहा है। प्रकृति के सत्वगुण की सात्विक उपासना से धर्म एवं मोक्ष की प्राप्ति होती है, प्रकृति के रजोगुण की राजसिक उपासना से अर्थ और कामना की सिद्धि होती है, प्रकृति के तमोगुण की तामसिक उपासना से नरक गमन भी होता है। इस प्रकार उपासक अधिकारी के भेद से तंत्र शास्त्र में सात्विक, राजसिक, तामसिक तीन मार्ग बतलाये हैं। दिव्याचार, वीराचार और पशवाचार—इन तीनों मार्गों में ही शिव-शक्ति की उपासना है, परन्तु तन्त्र शास्त्र में अपनी कामना सिद्धि और अधिकारी के भेद से देवता भी कई प्रकार के हैं और उनके मंत्र तथा क्रिया-कर्म भी नाना प्रकार के हैं।

कुलार्णव तंत्र, दशम उल्लास

मद्य मांसञ्चमत्स्यञ्च मुद्रामैथुन मेव च।
मकार पञ्चमं देवि देवता प्रीति कारणम् ॥

प्रकृति के तमोगुण की उपासना करने वाले तांत्रिक वाम मार्गी पशवाचारी तामसिक लोग मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन—इन पांच को 'पञ्च मकार' कहते हैं और इनका सेवन करना देवता की प्रीति का कारण कहते हैं। इनके सेवन से उनके देवता उन पर प्रसन्न होते हैं और मनोवाञ्छित फल देते हैं। वे लोग अपनी मलीन वासना, कामना की सिद्धि के लिये महाजघन्य घोर कर्म करते हैं। सम्मोहन, वशीकरण, उच्चाटन स्तंभन, विद्वेषण और मारण आदि के प्रयोग के लिये मन्त्र-जप, देवताओं की पूजा, पशु-पक्षी का बलिदान और हवन आदि क्रिया करके देवता को प्रसन्न कर अपना अभीष्ट सिद्ध करते हैं। कोई माने या न माने, परन्तु अभी भीं कहीं-कहीं ऐसा होता हुआ देखा और सुना गया है। तंत्र ग्रन्थों में इस विषय का नाना प्रकार से वर्णन है और इस घोर महापाप कर्म का फल अन्त में नरक भोग ही बतलाया है।

दूसरा वीराचार भाव है। वीराचार मार्ग वाले प्रकृति के रजः और सत्वगुण की उपासना करते हैं। ये लोग पशवाचारी वाम मार्गी की तरह पञ्चमकार या बलि-हिंसादि कर्म से उपासना नहीं करते। उपासना में जहां बलि और मद्य की पूजा का विधान है वहां ये लोग बकरे की बलि के बदले में कुष्माण्ड, पेठा की बलि देते हैं और मद्य के बदले में ताम्र पात्र में दूध में गुड़ डाल के देवता को भोग लगाते हैं। मन्त्र-जप, हवन और देवी की पूजा का विधान दोनों का प्रायः एक सा ही है। जीव हिंसा और मद्य निषेध, द्रव्य का व्यवहार वीराचारी भाव वाले नहीं करते। ये लोग वाम मार्ग वाले पशवा-

चारी को बुरा समझते व कहते हैं। वास्तव में अज्ञानी वाम-मार्गी तांत्रिक लोग निन्दनीय हैं।

अब विचारने की बात यह है कि तांत्रिक उपासना में वाम मार्गी तामसिक उपासना का प्रकरण बड़ा गर्हित है। इससे लोग घृणा करते हैं, परन्तु इससे तन्त्र शास्त्र के वास्तविक महत् ज्ञान की कोई हानि नहीं होती क्योंकि गुणों के अनुसार कर्म का फल होना सभी शास्त्रों ने माना है। वेद में भी अविद्या की उपासना करने वालों को अन्धकार में पड़े हुये और नरक गामी कहा है। अतएव जिस से अनर्थ हो ऐसे कर्म मनुष्य न करें, यही सभी शास्त्रों का उपदेश है। शास्त्र में सभी भौतिक विषयों के गुण-दोष बतलाये हैं। वैद्यक शास्त्र में मांस, मल, मूत्र और विष सभी के दोष गुण बतायें हैं। मांस, मल, मूत्र और विष कोई खाने की चीजें नहीं हैं, फिर भी उनके दोष तथा गुण का वर्णन किया है, तथापि वैद्यक शास्त्र का त्याग नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसमें और हितकर कल्याणकारक अन्य विषय बहुत हैं जिससे मनुष्यों का मंगल होता है। वैसे ही तन्त्र शास्त्र में भी परम कल्याण का उपदेश बहुत ही सुन्दर है, उसको कैसे त्याग सकते हैं। शास्त्र में से सद् विषय को ग्रहण करना और असद् विषय को त्यागना कहा है। ऐसा करने का नाम ही विवेक ज्ञान है।

हमारे जितने भी धर्म-कर्म, पाठ-पूजन, जप, तप, हवन, पुरश्चरण, ज्ञान-ध्यान, योग साधन, तीर्थ, उपवास आदि सभी कर्म तांत्रिक हैं और तन्त्र ग्रन्थों में ही उनके क्रिया कर्म का विस्तार से वर्णन है। हमारे जितने भी देवी-देवता हैं उन सब

का और उनके सब मंत्रों का वर्णन भी तन्त्र मन्त्रों में ही है । हम जो भी स्वार्थ और परमार्थ, स्वर्ग और अपवर्ग क लिए क्रिया कर्म करते हैं, वे सब तांत्रिक हों हैं इस लिए हम भी तांत्रिक ही हैं, परन्तु वाम-मार्गी नहीं हैं। पुराणो में जो सब धर्म-कर्म और देवी देवता का विषय है वह सब तंत्र ग्रन्थों का ही है । योग के उपनिषदों में जो योग-साधन का विषय है वह भी तन्त्र ग्रन्थों का ही है। वेद के कर्म-काण्ड में यज्ञ-कर्म ही प्रधान है, परन्तु वर्तमान में क्वचित कोई यज्ञ-कर्म करते होंगे। उपासना काण्ड में दश उपनिषद् में कुछ विषय ऐसे हैं जो तंत्र-ग्रन्थों मों वैसे नहीं हैं, परन्तु और उपनिषदों के उपासना और ज्ञान के विषय प्रायः तंत्र-ग्रन्थों के विषय के ही सदृश हैं इससे ही समझ लेना चाहिये कि वेद, उपनिषद्, पुराण, धर्म-शास्त्र और दर्शन-शास्त्र का ज्ञान तन्त्र-शास्त्र के ज्ञान से कोई पृथक् ज्ञान नहीं है। सभी का एक ही ज्ञान है।

दिव्य कुलाचार

गुप्त साधन तथा कुलार्णव तंत्र, पञ्चम उल्लास

कुलः शक्तिः समाख्याता अकुलः शिव उच्यते ।
तस्यां लीनोभवेद् यस्तु सकुलीनः प्रकीर्त्तितः ॥१॥
अकुलं शिव इत्युक्तः कुलंशक्तिः प्रकीर्तिता ।
कुलाकुलानुसन्धानात् निपुणाः कौलिकाःप्रिये ॥२॥
अप्रबुद्धाः पशोशक्तिः प्रबुद्धा कौलिकस्य च ।
शक्तित्वां सेवयेत् यस्तु सभवेत् शक्ति साधकः ॥३॥

अब तंत्र-शास्त्र कथित दिव्याचार कहते हैं। दिव्याचार मार्ग वाले योगी लोग प्रकृति के सात्विक गुण की उपासना करते हैं। वे लोग पशवाचारी वाम मार्गी के वाह्य स्थूल साधन पञ्चमकार को व्यभिचार और जघन्य पाप कर्म कहते हैं एवं उनका आध्यात्मिक अर्थ दर्शाते हैं। कुल नाम शक्ति का है और अकुल नाम शिव का है जो शिव शक्ति के संयोग में लीन रहते हैं वही दिव्याचार वाले योगी साधक कुलीन हैं। जो कुल और अकुल (शिव और शक्ति) के साधन में निपुण हैं वही कौलिक कहलाते है। अज्ञानी पशवाचारी पशु की कुण्डलिनी शक्ति जागृत नहीं है, सुप्त है—परन्तु दिव्याचारी कौल की शक्ति जागृत है। इसलिये जो जागृता शक्ति कुल कुण्डलिनी देवी महामाया की आराधना एवं सेवन करते हैं वही कौलिक योगी सच्चे शक्ति सेवक हैं।

सुरा शक्तिः शिवो मांसं तद्भोक्ता भैरवः स्वयम्।

तयोरैक्यं समुत्पन्नं आनन्दो मोक्ष उच्यते ॥४॥

आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्चदेहे व्यवस्थितम्।

तस्याभिव्यञ्जकं द्रव्यं योगिभिस्तेन पीयते ॥५॥

श्री महेश्वर कहते हैं कि दिव्याचार में कुण्डलिनी शक्ति ही सुरा है, पर शिव परब्रह्म ही मांस है और स्वयं भैरव शिव ही उनके भोक्ता हैं। शिव और शक्ति दोनों की एकता के योग से जो आनन्द प्रकाशित होता है। उसी को मोक्ष कहते हैं। आनन्द ही ब्रह्म का रूप है, और वह साधक के शरीर में ही अवस्थान करता है, इसलिये उसके अभिव्यञ्जक द्रव्य अमृत

को योगी लोग पान करते हैं। इसका ही नाम दिव्य 'पञ्चमकार' है।

लिङ्गत्रय विशेषज्ञः षट्चक्र पद्म भेदकः।
पीठस्थानानि चागत्य महापद्म वनं व्रजेत् ॥७॥

आमूलाधारमाब्रह्मरन्ध्रंगत्वा पुनः पुनः।
चिच्चन्द्र कुण्डली शक्ति सामरस्य महोदयः ॥८॥

व्योमपङ्कज निस्यन्द सुधापान रतो नरः।
मधुपान मिदं देवि चेतरन्मद्य पानकम् ॥९॥

जो योगी स्वयंभूलिंग, बाणलिंग और इतरलिंग इन तीनों लिंगों को अन्दर में विशेष रूप से जानता है वही षट्चक्र भेदन करने में समर्थ होता है। जो सब पीठ स्थान में आकर महापद्म बन सहस्रार में परशिव में जा सकता है और जो मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त पुनः पुनः गमन करके चिन्मय परशिव के सहित कुण्डलिनी शक्ति की एकता करके सहस्रदल कमल मध्यस्थ चन्द्रमण्डल से स्रवित सुधारस अमृत का पान करता है वही मधुपान करने वाला योगी है। बाकी अन्य तो मदिरा पीने वाले महा अज्ञानी है।

योगिनी तंत्र, गन्धर्व तन्त्र तथा रुद्रयामल तंत्र

कुण्डल्या मिलानाद् बिन्दोः स्रवतेयत्परामृतम्।
पिवेद् योगीमहेशानि सत्यं सत्यं वरानने॥
कुलयोगे महादेवी महापानमिदं स्मृतम् ॥१॥

जिह्वागल संयोगात् पिबेत्तदमृतं तदा ।
योगिभिः पीयते तत्तु नमद्यं गौड़ पैष्टिकम् ।।१।।

विजयारस सारेण बिना बाह्यासवेन च ।
वायव्यानन्द संयुक्तं ब्रह्मज्ञानी प्रकीर्त्तितः ।।१।।

जब कुण्डलिनी शक्ति सहस्रार में परशिव से मिलती है तब सहस्रदल कमल सहस्रार से अमृत का क्षरण होता है, उसको योगी लोग पान करते हैं। इसका ही नाम दिव्याचार कुल योग में महापान, मधुपान और मदिरा पान कहा है । योगी लोग जिह्वा को उलटा के, गले में लगाकर, खेचरी मुद्रा करके, ऊपर सहस्रार से स्रवित सुधारस अमृत पान करते हैं । वे लोग गुड़ और चावल की सुरा नहीं पीते और न भांग पीते हैं। भांग के रस का माजूम तथा आसव आदि बाह्य किसी मादक वस्तु का सेवन भी नहीं करते हैं। वह तो वायवीय शक्ति, कुण्डलिनी शक्ति के आनन्द की मादकता का उपभोग करते हैं। वही योगी लोग ब्रह्मज्ञानी हैं।

मेरुतन्त्र तथा कुलार्णव तंत्र, पञ्चम उल्लास

देहबन्ध करं यत्तु तन्मांसं परिकीर्त्तितम् ।
अज्ञानेन यतो जीवो देहपाशेन बध्यते ।।
अज्ञानभक्षणंप्रोक्तं एतन्मांसस्य भक्षणम् ।।१।।

पुन्यापुन्यपशुं हत्वा ज्ञानखड्गेन योगवित् ।
परे लयं नयेच्चित्तं पलाशीति निगद्यते ।।१०।।

मनसादीन्द्रियगणं संयम्यात्मनियोजयेत् ।
मांसाशी स भवेत् देवि इतरे प्राणि घातकाः ।।११

जीव का शरीर मांस से बन्धा हुआ है और जीव अज्ञान-वश देह में आबद्ध होता है। सुतरां मांस और अज्ञान दोनों जीव के बन्धन हैं, जो योगी इस अज्ञान रूप मांस का भक्षण करता है वही मांसाशी है इसलिये योग विद्या के पारदर्शी योगी लोग ज्ञान रूप खड्ग से पुण्य-पाप रूप पशु का बध कर बलि-दान देकर पर-ब्रह्म में चित्त का लय करने में समर्थ होते हैं। वही लोग वास्तविक मांसाशी हैं। अथवा, हे देवी ! जो मन-प्राण और इन्द्रियों की शक्ति को संयत कर आत्मा में बलिदान करते हैं और स्वयं आत्म-सुख का उपभोग करते हैं, वही मांसाशी हैं जो वैसा नहीं कर सकते वे प्राणी-घातक पापी लोग हैं जो अपनी जिह्वा के स्वाद के लिए और पुष्ट होने की इच्छा से देवताओं को निमित्त बना कर पशुओं की बलि देकर मांस खाते हैं। वे पापी लोग नरक में जाते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

मनसा चेन्द्रियगणं संयोज्यात्मनियोगवित् ।
मत्स्याशी भवेद्देवि शेषाधीवर वृत्तयः ।।१।।
आत्मना जायतेमोदस्तामुद्रा परिकीर्त्तिताः ।
ता ज्ञेया धारणा ध्यान समाध्याख्यास्तु मोक्षदाः ।।२।।

मन द्वारा इन्द्रिय समूह को आत्मा में संयुक्त करना योगी का मत्स्य भक्षण करना कहलाता है। परन्तु ऐसा न कर सकना

तो धीवर (मच्छीमार) की वृत्ति है, आत्मा से ही सर्वदा आनन्द का प्रकाश पाने का नाम मुद्रा है वह मुद्रा धारणा, ध्यान और समाधी के नाम से प्रसिद्ध है। इनके साधन से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। बाहर के विषय सेवन से मुक्ति नहीं हो सकती।

कुलार्णवतंत्र तथा योगिनी तन्त्र

परशक्त्यात्ममिथुन संयोगानन्द निर्भराः ।
मुक्तास्ते मैथुनं तत्स्यादितरे स्त्रीनिसेवकाः ।।१२
सहस्रारोपरि बिन्दौ कुण्डल्या मेलनं शिवे ।
मैथुनं शयनंदिव्यं यतिनां परिकीर्त्तितम् ।।१।।

जो योगी लोग पराशक्ति कुण्डलिनी देवी के साथ परशिव में मिल कर मैथुन-संयोग संपादन कर आनन्द उपभोग करते हैं उस परमानन्द के फल-स्वरूप जन्म-मरण के बन्धनों से मुक्त होते हैं, वही दिव्य मैथुन करने वाले योगी वास्तविक भोगी हैं। अन्य लोग तो स्त्री सेवन करने वाले स्त्री के सेवक हैं। शिव-शक्ति के सम्मिलन का नाम संयोग है। सहस्रार में बिन्दु रूप शिव के साथ कुण्डलिनी शक्ति का मिलन करना योगियों का दिव्य मैथुन और शयन कहलाता है।

मेरु तंत्र

इड़ा पिंगलयोः प्राणान्सुषुम्नायां प्रवर्त्तयेत् ।
सुषुम्ना शक्तिरुद्दिष्टा जीवोऽयं तु परः शिवः ।।१।।
तयोस्तु सङ्गमोदेवाः सुरतं नाम कीर्त्तितम् ।
वीर्यपातस्य समये सुषुम्नासन्न मारुते ।।२।।

उत्पद्यते तु यत्सौख्यं तस्मात्कोटिगुणं तुतत् ।
एतदेवरतं प्रोक्तं अन्यस्यात् रासभं रतम् ।।३।।

इड़ा और पिंगला नाड़ी में से प्राण समूह को सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश कराना चाहिये। सुषुम्ना को शक्ति कहते हैं और प्राण रूप जीव को शिव कहते हैं, अतएव सुषुम्ना और प्राण के संगम को सुरत अथवा मैथुन कहते हैं। योगियों को जो कुछ दिव्य सुख होता है। वह सुषुम्ना विवर में मन तथा प्राण के जाने से होता है वीर्यपात के समय जो सुख होता है उससे कोटि गुणा सुख सुषुम्ना में प्राण वायु के स्थिर होने से होता है। साधारणतः मैथुन से तेज, और बल का क्षय एवं अवसाद होता है, परन्तु इस दिव्य मैथुन से तेज, बल और उत्साह की वृद्धि होती है। इसी का नाम वास्तविक रमण है, बाकी और मैथुन तो गर्दभ का रमण है।

कुलार्णव तंत्र, द्वितीय उल्लास

मद्यपानेन मनुजो यदि सिद्धिं लभते वै ।
मद्यपान रताः सर्वे सिद्धिं गच्छन्तु पामराः ।।१।।
मांस भक्षण मात्रेण यदि पुण्य गतिर्भवेत् ।
लोके मांसाशिन सर्वे पुण्य भाजो भवन्ति हि ।।२।।
स्त्री संभोगेन देवेशि यदि मोक्षो भवेत् वै ।
सर्वेऽपि जन्तवोलोके मुक्ताः स्युः स्त्रीनिषेवणात् ।।३।।

पञ्च मकार का आध्यात्मिक अर्थ कहकर अब श्री महेश्वर कहते हैं कि यदि मद्यपान करने से मनुष्य सिद्धि को प्राप्त

हो जाये तो सभी लोग मद्य पीने लगें और मद्य पान करने वाले पामर जीव सभी मुक्त हो जायें। ऐसे ही यदि मांस भक्षण करने से मनुष्यों को पुण्य गति, स्वर्ग या मोक्ष मिल जाये तो फिर सभी लोग मांस हीं भक्षण किया करें तथा पुण्य के भागी बन जायें और यदि स्त्री के संभोग से ही मोक्ष हो जाये तो इस लोक में सभी प्राणी संभोग करते हैं वे सब मुक्त हो जाने चाहियें। अतएव मेरे वास्तविक ज्ञान को न समझ कर जो अज्ञानी लोग स्वेच्छाचारी होकर वर्त्तते हैं और अपने को धार्मिक समझते हैं, वे लोग मरने के बाद घोर नरक में जाते हैं।

अष्टादश विद्या

विष्णु पुराण, अध्याय ६

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसान्याय विस्तरः।
पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्याह्येताश्चतुर्दश ॥२८

आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चैव ते त्रयः।
अर्थशास्त्रं चतुर्थं तु विद्याह्यष्टादशैवताः ॥२९

ऋगवेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—यह चार वेद और शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष—यह छः वेदाङ्ग तथा मीमांसा, न्याय आदि षड्दर्शन और १०८ उपनिषद् एवं पुराण, इतिहास और धर्मशास्त्र तथा आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद, अर्थवेद—यह चार उपवेद मिलाकर अष्टादश विद्या होती हैं। ऋगवेद का उपवेद आयुर्वेद (वैद्यक शास्त्र)

है, यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद (युद्ध विद्या) है, सामवेद का उपवेद गन्धर्ववेद (संगीत शास्त्र) है और अथर्ववेद का उपवेद अर्थशास्त्र (स्थापत्य. शिल्प कला कौशल आदि) है। पुराण अठारह हैं । उनके नाम क्रमश: ब्रह्मपुराण, पद्म, वैष्णव (विष्णु-पुराण), शैव, भागवत, नारदीय, मार्कण्डेय, आग्नेय, भविष्यत्, ब्रह्म वैवर्त्त, लिङ्ग, वराह, स्कन्ध, वामन, कौर्म, मत्स्य, गरुड़ और ब्रह्माण्ड पुराण हैं । इनके अतिरिक्त कई एक उपपुराण भी हैं । धर्मशास्त्र में तंत्र-ग्रन्थ समूह और अष्टादश स्मृतियाँ हैं। उनमें पाराशर, याज्ञवल्क्य और मनु स्मृति को ही लोग विशेष करके मानते हैं। इस प्रकार हमारे धर्म-कर्म के ग्रन्थ समूह भौतिक, आध्यात्मिक विषय का ज्ञान कराते हैं।

अब विचारने की बात है कि हमारे धर्म-कर्म के जो अष्टादश विद्या के शास्त्र ग्रन्थ कहे हैं वे सब अनुभवी और सर्वज्ञ ज्ञानी पुरुषों के लिखे हुये हैं अथवा भ्रान्तचित्त, अल्पज्ञ, अज्ञानियों के लिखे हैं—यह कैसे जाना जाये ? इस विषय का निर्णय आज पर्यन्त हुआ नहीं है और हो भी नहीं सकता क्योंकि हमारे उक्त शास्त्र वंशानुक्रम से गुरु शिष्य परम्परा श्रवण करके, काल में लिपिबद्ध हुये थे । उन सब में सभी लेखकों के नाम या उनकी विद्या-बुद्धि की योग्यता का परिचय नहीं मिलता। उनमें न समय का निर्देश है और न सभी शास्त्रों का एक ही मत है। भिन्न-भिन्न काल में विभिन्न प्रकार के विषय लेकर सभी ने अपने-अपने विषय की महानता दिखाई है। ऐसी अवस्था में इसकी मीमांसा करना सहज नहीं है। विशेष कर के पुराणों का

विषय ऐसा विवादास्पद है कि उनका विचार करके संशोधन होना आवश्यक है। पुराण शास्त्र में रोचक, भयानक और यथार्थ—इन तीन विषयों का वर्णन ही अधिक है। तत्त्व-ज्ञान का विषय भी विस्तार से है और कितने विषय ऐसे भी हैं जिनका कोई अर्थ नहीं। वर्तमान में हम जो कुछ मूर्ति पूजा, जप, व्रत, दान, पुण्य, तीर्थ यात्रादि करते हैं—वह सब पुराण कथित रोचक विषय हैं। वैसे तो कहा जाता है कि सब पुराण कृष्ण द्वैपायन भगवान वेदव्यास ने लिखे हैं, परन्तु पुराणों में कुछ विषय काल्पनिक, अतिरंजित और अज्ञान के भी हैं। जो भगवान वेदव्यास त्रिकालदर्शी ज्ञानी थे तो अज्ञान की बात लिख नहीं सकते थे। वेद, उपनिषद्, षड्दर्शन और धर्म शास्त्र, स्मृति निभ्रान्त सत्य हैं। उनमें किसी को सन्देह नहीं है। पुराणों के सभी विषयों का ज्ञान निभ्रान्त एवं सत्य प्रतीत नहीं होता। उसमें लोगों को सन्देह भी है, फिर भी सब लोग उनके ही कथनानुसार सब धर्म-कर्म करते हैं।

ज्ञानी पुरुष के शास्त्र

गन्धर्व तंत्र

प्रथम हिमया प्रोक्तं शैवं पाशुपतादिकम्।
मच्छक्त्यावेशितैर्विप्रैः संप्रोक्तानि ततः परम् ॥१॥
कणादेन च संप्रोक्तं शास्त्रं वैशेषिकं महत्।
गौतमेन तथा न्यायं सांख्यन्तु कपिलेनतु ॥२॥
धिषणेन तथा प्रोक्तं चार्वाकमति गर्हितम्।
दैत्यानां नाशनार्थाय विष्णुना बुद्ध रूपिणा ॥३॥

इस बिषय में श्री महेश्वर कहते हैं कि पहले मैंने शैव पाशुपत महादर्शनादि शास्त्र कहे हैं कि जिनकी साधना से ज्ञान लाभ करके शक्ति सम्पन्न होकर, मेरी शक्ति के आवेश में आकर फिर पीछे से ब्राह्मणों ने अन्य शास्त्रों की रचना की है। महर्षि कणाद ने वैशेषिक दर्शन बनाया, गौतम महर्षि ने न्याय दर्शन लिखा, कपिल देव ने सांख्य दर्शन कहा, धिषण ऋषि ने चारवाक नास्तिक दर्शन लिखा जो अति गर्हित है और जिसको समझने-समझाने वाले भी चक्कर में पड़ जायें। मेरी शक्ति के आवेश में आकर भगवान विष्णु के नवम अवतार महाज्ञानी बुद्धदेव ने दैत्यों की बुद्धि नाशार्थ कार्य किया—

बौद्ध शास्त्र तथा प्रोक्तं नग्न नीलपाटादिकम्।
आपत्त्यं श्रुति वाक्यानां दर्शयन् लोक गर्हितम् ॥४॥
कर्मस्वरूप त्याज्यत्व मत्र वै प्रतिपाद्यते।
सर्व कर्म परिभ्रष्टं कल्मषन्तु तदुच्यते ॥५॥
गौतम प्रोक्त शास्त्रार्थ निरताः सर्व एवहि।
शार्गाली योनिमापनाः सन्दिग्धाः सर्व कर्मसु ॥६॥

और नग्न नील पाटादि बौद्ध शास्त्र की रचना की जिसमें वेद वाक्यों का खण्डन और बौद्ध मत का मण्डन है। विधि वाक्य वेद को न मानने से और वेदमत से विरुद्ध होने से बौद्ध धर्म यहां लोगों में निन्दित है, क्योंकि बुद्ध देव ने मेरे ईश्वर रूप शक्ति सामर्थ्य की महानता न कह कर अपने ज्ञान की उदारता और सब के व्यवहार की सरलता दिखाई जिससे

लोग सब कर्म त्याग करके शून्य, निरीश्वरवादी हो गये। कर्तव्य कर्म का त्याग और वेद तथा ईश्वर को न मानना ही पाप कहलाता है। गौतम के कहे न्यायशास्त्र के तर्क, युक्ति और वितण्डावाद में लगे तार्किक लोग, सब कर्म में संदिग्ध बुद्धि होने के कारण, शृगाली योनि को प्राप्त होते हैं। इन सब के द्वारा रचित शास्त्र मेरी शक्ति के समावेश के बल से लिखे गये हैं अतः इनको समझने के लिये भी मेरी शक्ति की आवश्यकता है। शक्तिहीन लोग इन्हें समझ नहीं सकते, इसलिये सब कर्म-भ्रष्ट हो जाते हैं, कर्म नहीं करते।

जिस धर्म में कोई व्यवहारिक कर्म न करना पड़े, उसमें अज्ञानी लोग आसानी से ही आकृष्ट हो जाते हैं। बौद्ध धर्म में सब बाह्य कर्मों का त्याग करके, भिक्षुक बनकर भ्रमण करना और बुद्ध धर्मशास्त्र कथनानुसार वर्तना कहा है, फलस्वरूप पुरुष, स्त्री, बालक हज़ारों लाखों की संख्या में भिक्षुक बन गये थे और सारे भारत में छा गये थे। कई एक राजा महाराजा भी बौद्ध धर्मावलम्बी हो गये थे। उस समय जगत् गुरु आद्य शंकराचार्य ने बौद्ध मत का खण्डन करके वेद मत सनातन धर्म की स्थापना की थी, जिससे बौद्ध धर्म यहां लोगों में निन्दित हो गया और प्रायः निःशेष भी हो गया था। परन्तु अन्य देशों में भी बौद्ध धर्म फैल गया था जिससे अभी तक बौद्ध मत के लोग बड़ी संख्या में हैं। सन् १९२१ में सब देशों की जनगणना की रिपोर्ट थी। उस समय सारी पृथ्वी में एक अरब तिरेसठ करोड़ मनुष्य थे। उनमें से सौ में ५० बुद्ध धर्मावलम्बी, २६ ईसाई, १३ इस्लाम धर्मी मुसलमान

और ११ सनातन धर्मी हिन्दू थे। इससे ही समझा जा सकता है कि बौद्ध धर्म कितना प्रबल है कि पृथ्वी के आधे लोग बौद्ध धर्म का पालन करते हैं। सीलोन, बर्मा, तिब्बत, स्याम, चीन, जापान, जावा, सुमात्रा और बाली आदि देशों में प्रायः सभी लोग बौद्ध धर्मावलम्बी हैं, किन्तु भारत में बुद्ध धर्म की संख्या नाम मात्र ही है।

पुराणों में भगवान का नवां अवतार बुद्ध कहा है और कहा है कि कलियुग में इनका ही ज्ञान, धर्म सारी पृथ्वी में व्याप्त होगा, इसलिये अब भारत में भी लोग बौद्ध मत का अनुकरण करने लगे हैं। जाति-पांति का बन्धन टूटने लगा है और वैदिक धर्म-कर्म का भी त्याग होने लगा है। वर्णाश्रम धर्म-कर्म की व्यवस्था भी छिन्न-भिन्न होती जा रही है। लोग स्वेच्छाचारी एवं तार्किक होकर वैदिक धर्म का त्याग करने लगे हैं। भारत के राज्य चिह्न भी बुद्ध मतानुसार अशोक चक्र, स्तम्भ, सिंह आदि विनिमय मुद्रा में लग के प्रचलित हो गये हैं। भारत के प्रजा सत्ता वाले राज्य शासन में धर्म का कोई भी स्थान नहीं रक्खा है। यह धर्म निरपेक्ष राज्य माना गया है जो जिसको माने वही उसका धर्म है। फलस्वरूप लोगों में अनाचार, अत्याचार और व्यभिचार बढ़ जाने से लोग चरित्रहीन हो गये हैं। जहां जाति, समाज और धर्म का कोई बन्धन न हो वहां सब दुर्गुण सहज ही आ जाते हैं, अतएव सत्य सनातन धर्म को न मानने के फलस्वरूप मनुष्यों की यह पाप बुद्धि हुई है, जो सबका सर्वनाश करेगी।

श्री महेश्वर के कथन से स्पष्ट सिद्ध होता है कि हमारे

धर्म कर्म के शास्त्र ग्रन्थ शिव जी की शक्ति के आवेश में आकर ज्ञानी पुरुषों ने ही लिखे हैं। उनमें शंका करना अथवा उनको न मानना ही पाप है। परन्तु अज्ञानियों के लिखे ग्रन्थों को मानना भी पाप है। अज्ञानियों का कोई अलग शास्त्र नहीं है। इन ज्ञानियों के ग्रन्थों में ही अज्ञानियों ने अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये अज्ञान की और अधर्म की बहुत सी बातें लिख दी हैं जो कि गर्हित हैं। जो बातें धर्म-संगत न हों, जिनसे इहलोक और परलोक की हानि होती हो, ऐसी बातें अज्ञानियों की लिखी समझना और उनका त्याग करना चाहिये। शास्त्र ग्रन्थों में अधिकारी के भेद से हरेक प्रकार के विषय कहे हैं और उनके दोष गुण भी कह दिये हैं। हरेक मनुष्य की प्रकृति और प्रवृत्ति एक प्रकार की नहीं हैं। नाना प्रकार के प्रयोजन के लिये विधि-विधान भी नाना प्रकार के हैं। जो अधिकारी जिस विषय को चाहता है, वह उसी को ग्रहण करे। शास्त्र का उद्देश्य यह है कि मनुष्य अपने स्वधर्म में स्थित रहकर अपना अभीष्ट धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्राप्त कर सके जिससे उसका मनुष्य जन्म सफल हो जाये। शास्त्र का अपना कोई प्रयोजन नहीं होता, प्रयोजन मनुष्य जीवन के साधन का है, वह हर एक मनुष्य को विचार लेना चाहिये।

देवता के दर्शन

पुराण, इतिहास और महाभारत को देखने से मालूम होता है कि आज से पांच हजार वर्ष पूर्व मनुष्यों और देवताओं का सम्बन्ध बना हुआ था। देवता मनुष्यों की सहा-

यता करते थे। मनुष्य देवता के उद्देश्य से यज्ञ करते थे और देवताओं से वरदान प्राप्त करने के लिये कठोर तपस्या भी करते थे। इस प्रकार देवता की आराधना करके उस समय के लोग अपने अभीष्ट की सिद्धि करते थे। महाभारत में ऐसी कथायें अनेक हैं। स्वयं पाण्डवों की उत्पत्ति भी कुन्ती देवी के मन्त्र-जप करने से देवता के वरदान से हुई थी। अर्जुन ने भी तपस्या करके शिवजी से वरदान पाया था और इन्द्र की सहायता ली थी। महाराज युधिष्ठिर ने भी तपस्या करके सूर्य नारायण को प्रसन्न कर उनसे अक्षय अन्न-पात्र प्राप्त किया था। इसी प्रकार सैकड़ों कथायें पुराणों में हैं। भगवान श्री कृष्ण ने भी तपस्या करके श्री शिव और अम्बा से कई वरदान पाये थे। यह बातें पांच हजार वर्ष की हैं जब कि सभी जाति के मनुष्य तपस्या करके देवताओं से इच्छित वरदान पाते थे और परम सुखी होकर अपने को कृतार्थ समझते थे।

परन्तु वर्तमान में लोग इन बातों का न कोई मूल्य समझते हैं और न विश्वास करते हैं, वरं वाद-विवाद करके इन बातों को काल्पनिक और मिथ्या समझते हैं। बहुत से लोग तो देवताओं को ही नहीं मानते और जो लोग मानते हैं वे भी पूर्व काल जैसी तपस्या नहीं करते, इसलिये उन्हें देवता के दर्शन भी नहीं होते और वरदान भी नहीं मिलता। विधि-विधान से नियम-पूर्वक तपस्या की जाये तो देवता के दर्शन होते हैं और वरदान मिलता है। यह तो पांच हजार वर्ष पूर्व की बातें हैं, परन्तु वर्तमान भक्तमाल ग्रन्थ में भक्तों के

चरित्र लिखे हैं जो गत तीन सौ वर्ष की बातें हैं, बहुत पुरानी बातें नही हैं। लिखा है महारानी मीरा बाई को भगवान के दर्शन होते थे, सन्त तुलसीदास को भी भगवान के दर्शन हुये थे तथा भक्त नरसिंह मेहता के बहुत से काम भगवान स्वयं करते थे। ऐसे ही नामदेव, तुकाराम, हरिदास स्वामी आदि सैकड़ों भक्तों की कथायें है कि जिनको भगवान के और देवताओं के दर्शन होते थे। भगवान और देवता के दर्शन से वे लोग सर्वदा काल भगवान के ध्यान भजन में तन्मय होकर रहते थे। सर्वत्र उन्हें भगवान ही दीखता था। संसार और सांसारिक विषयों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था, वह तो केवल अपने आराध्य देव भगवान को ही जानते थे और उसी का गुणगान करते थे।

जब तीन सौ वर्ष पूर्व भक्तों को भगवान के दर्शन होते थे तो अब भी हो सकते हैं। उन भक्तों की तरह हम भी वैसी अनन्य भक्ति कर सकें तो हमें भी भगवान के दर्शन अवश्य होंगे, ऐसा शास्त्रों और महात्माओं का कथन है, जो सत्य है। भगवान के दर्शन के लिये शास्त्र कथनानुसार शरीर, मन, प्राण और इन्द्रियों का संयम करके तन्मय होकर सर्वदा काल भगवद्भजन करते रहने से पाप क्षय होने पर भगवान के दर्शन होते हैं। भगवान के दर्शनों के लिये बड़ा भारी आत्म-त्याग कठोर तपस्या योगसाधन करने की आवश्यकता है। जब तक संसार को भूला नहीं जाता, योग, ज्ञान, ध्यान, भक्ति करने में तन्मयता नहीं आती और पापों का नाश नहीं होता, तब तक भगवान के दर्शन किसी को भी नहीं हो सकते। जब योगसाधना करके ज्ञान से भगवान के दर्शन होते हैं तो साधक

के रोग, शोक, दुःख, दैन्य, पाप, ताप, जन्म-मरण, आना-जाना और लेना-देना, सभी सदा के लिये छूट जाते हैं और साधक जीवन-मुक्त हो जाता है, ऐसा योगशास्त्र का कथन है।

पहले ही कहा गया है कि जप, तप, पाठ, सेवा, पूजा, योग, ज्ञान, ध्यान, परायण, सत्कर्म करने वाले श्रद्धावान सात्विक साधकों को देवता के दर्शन होते हैं और समय विशेष में अन्तरात्मा का आदेश भी मिलता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। वैराग्य द्वारा अपनी साधना का उत्कर्ष साधित होने से सत्वगुण बढ़ता है, चित्त शुद्ध होता है। तब शरीर, मन, प्राण, इन्द्रियां पवित्र, प्रसन्न और शान्त होती हैं, आत्म तुष्टि होती है एवं साथ ही विवेक ज्ञान की वृद्धि होकर अन्तर में ध्यान में देवता के दर्शन होते हैं और अन्तरात्मा से आदेश मिलता है ऐसा ही देखा गया है। साधन करने वालों को ऐसा दिव्य दर्शन होने से किसी-किसी साधक को चित्त भ्रम भी हो जाता है, और वह विक्षिप्त चित्त, पागल होते हुये भी देखा गया है। उसका अपने मन पर कोई काबू नहीं होता, वह उन्मत्त की तरह ज्ञान, ध्यान, दर्शन तथा आदेश के विषय की बातों का प्रलाप करता रहता है। कोई तो इन आदेशों की बातों को सत्य मानकर ग्रन्थ लिख के प्रचार भी करते हैं। उनकी वे सब बातें सत्य नहीं होतीं, फिर भी वह उनको ही सत्य मानकर चलते हैं और लोगों से कहते हैं कि देवता की यह बातें सच्चे हैं।

बहुत से पाखण्डी, धूर्त्त लोग अपनी महानता दिखाने और पूजा पाने के लिये लोगों को कहते रहते हैं कि हमें भगवान

के दर्शन होते हैं, देवताओं से हमारी बातें होती हैं और वे हमें हानि-लाभ बता देते हैं। मूर्ख, अज्ञानी लोग इनकी बातों में विश्वास कर उनकी सेवा पूजा करते हैं, उन्हें गुरु करते हैं और दक्षिणा देत हैं। जब अपनी कामना पूरी नहीं होतीं, अनर्थ होता है और लोगों में अपनी निन्दा होती है तब वे लोग महादुःखी होते हैं एवं ज्ञान-ध्यान के विषय को पाखण्ड और धूर्तों का धन्धा कहने लगते हैं तथापि अपनी मूर्खता और अज्ञानता का विचार ही नहीं करते।

भगवान श्री कृष्ण की तपस्या

शिव पुराण, उमा संहिता, अध्याय १, ३

पुरा पुत्रार्थमगमत्कैलासं शङ्करालयम्।
वसुदेव सुतः कृष्णस्तपस्तप्तं शिवस्य हि ॥७॥

अत्रोपमन्युं संदृष्ट्वा तपन्तं शृङ्ग उत्तमे।
प्रणम्य भक्त्या समुनिः पर्यपृच्छत्कृताञ्जलिः ॥८॥

पहिले वासुदेव के पुत्र श्री कृष्ण पुत्र-प्राप्ति के निमित्त श्री शिव जी का तप करने के लिये हिमालय में कैलास पर्वत पर गये। वहां पर्वत के उत्तम शृंग पर उपमन्यु महर्षि को तप करते हुये देख कर, उनको हाथ जोड़ कर प्रणाम करके श्री कृष्ण पूछने लगे—

उपमन्यो महाप्राज्ञ शैव प्रवर सन्मते।
पुत्रार्थमगमन्तप्तुं तपोऽत्रगिरिशस्यहि ॥९॥

ब्रूहि शङ्कर माहात्म्यं सदानन्द करं मुने ।
यत् श्रुत्वाभक्तितः कुर्यां तपऐश्वर मुत्तमम् ।।१०

हे महाज्ञानी शैवों में श्रेष्ठ महर्षि उपमन्यो ! मैं पुत्र के निमित्त इस पर्वत पर श्री शंकर का तप करने आया हूँ। अतएव, हे मुने ! आप सदा आनन्द करने वाले श्री शिवजी के माहात्म्य को कहिये जिसको सुनकर मैं भक्ति से श्री शंकर का उत्तम तप करूँ।

इति श्रुत्वा वचस्तस्य वासुदेवस्य धीमतः ।
प्रत्युवाच प्रसन्नात्मा ह्युपमन्युस्स्मरञ्छिवम् ।।११

शृणु कृष्ण महाशैव महिमानं महेशितुः ।
यमद्राक्षमहं शम्भोर्भक्ति वर्द्धनमुत्तमम् ।।१२

बुद्धिमान् श्री कृष्ण के ऐसे बचन सुनकर प्रसन्नात्मा उपमन्यु ऋषि भगवान शंकर का स्मरण करते हुये बोले कि हे कृष्ण ! हे महाशैव ! तुम शिव जी की महिमा को सुनो ! भक्ति को बढ़ाने वाली जिस महिमा को मैंने देखा है सो कहता हूँ, ऐसा कह कर श्री महेश्वर आशुतोष भगवान शंकर को दयालुता, कृपालुता और महानता का माहात्म्य ऋषि ने विस्तार से सुनाया।

एतत् श्रुत्वा वचस्तस्य सोऽब्रवीत महामुनिम् ।
विस्मयं परमं गत्वोपमन्युं शान्त मानसम् ।।१।।

धन्यत्वमसि विप्रेन्द्र कस्त्वां स्तोतुमलंकृती ।
यस्य देवाधिदेवस्ते सान्निध्यं कुरुतेऽऽश्रमे ॥२॥
दर्शन मुनिशार्दूल दद्यात्स भगवाञ्छिवः ।
अपितावन्ममाप्येवं प्रसादं वा करोत्वसौ ॥३॥

ऐसा उत्तम पवित्र श्री शिव जी के माहात्म्य का कथन ऋषि से सुनके भगवान श्री कृष्ण विस्मित होकर, शान्त चित्त महामुनि से कहने लगे कि हे विप्रेन्द्र ! आप धन्य हैं, कृतार्थ हैं, आपकी स्तुति करने में कोई समर्थ नहीं हो सकता। आपके आश्रम के समीप आदि देव महादेव निवास करते हैं। हे मुनिश्रेष्ठ ! वे भगवान शिव मुझे भी दर्शन देवें तथा मुझ पर भी प्रसन्न होकर कृपा करें।

अचिरेणैव कालेन महादेवं न संशयः ।
तस्यैव कृपया त्वं व द्रक्ष्यसे पुरुषोत्तम ॥४॥
षोडशेमासि सुवरान्प्राप्स्यसि त्वं महेश्वरात् ।
सपत्निकात्कथं नो दास्यते देवोवरान्हरे ॥५॥
पूज्योसि देवतैस्सवैः श्लाघनीयस्सदागुणैः ।
जाप्यं तेऽहं प्रवक्ष्यामी श्रद्दधानायचाच्युत ॥६॥
तेन जप प्रभावेण सत्यं द्रक्ष्यसि शङ्करम् ।
आत्मतुल्यबलं पुत्रं लभिष्यसि महेश्वरात् ॥७॥
जपोनमश्शिवायेति मंत्रराजमिमंहरे ।
सर्वकाम प्रदं दिव्यं भुक्ति मुक्ति प्रदायकम् ॥८॥

तब महाप्राज्ञ उपमन्यु ऋषि बोले कि हे पुरुषोत्तम ! थोड़ ही समय में उनकी कृपा से तुम महादेव का दर्शन कर लोगे, इसमें कोई सन्देह नहीं है। हे हरे ! सोलह मास में तुम पार्वती समेत शिवजी से श्रेष्ठ वरदान पाओगे। वह शिव तुम्हें वरदान क्यों नहीं देंगे ? अवश्य देंगे। हे अच्युत ! तुम सब देवताओं से पूजने योग्य तथा गुणों में प्रशंसनीय हो। मैं श्रद्धायुक्त तुमसे जपने योग्य मंत्र कहता हूँ। उस मंत्र-जप के प्रभाव से सत्य ही तुम शिव जी का दर्शन कर लोगे तथा शिव जी से अपने बल के समान पुत्र प्राप्त करोगे। हे हरे ! 'ॐ नम शिवाय' यह जपने योग्य, संपूर्ण कामनाओं का देने वाला, भुक्ति और मुक्ति का देने वाला, समस्त दिव्य मंत्रों में श्रेष्ठ महामन्त्र है।

एवं कथयतस्तस्य महादेवाश्रिताः कथाः।
दिनान्यष्टौ प्रयातानि मुहूर्त्तमिव तापस ॥६॥
नवमे तु दिने प्राप्ते मुनिना स च दीक्षितः।
मंत्र मध्यापितं शार्व माथार्व शिरसं महत् ॥१०॥
जटीमुण्डी च सद्योऽसौ बभूव सुसमाहितः।
पादांगुष्टोद्धृत तनु स्तेपेचोद्ध्र्वभुजस्तथा ॥११॥
सम्प्राप्ते षोडशे मासि सन्तुष्टः परमेश्वरः।
पार्वत्या सहितश्शाम्भुर्ददौ कृष्णाय दर्शनम् ॥१२॥

इस प्रकार महादेव संबन्धी कथा कहते-कहते उनको आठ दिन मुहूर्त्त के समान बीत गये। फिर नवें दिन उन मुनि ने भगवान श्री कृष्ण को दीक्षा दी, शक्तिपात किया, तपस्या का

सब विधान बताया एवं अथर्वशीर्षस्थ शिव पंचाक्षर महामंत्र का उपदेश दिया। भगवान श्री कृष्ण जटाधारी, योगी, सावधान चित्त होकर ऊपर को भुजा उठाये हुए पैर के अंगूठे पर शरीर का सब भार रखकर उग्र तप करने लगे। इस प्रकार भगवान के उग्र कठोर तपस्या करने से सोलहवें मास में पार्वती के सहित साक्षात् देवाधिदेव महादेव ने भगवान श्री कृष्ण को दर्शन दिये। तीन नेत्र वाले, चन्द्रशेखर, ब्रह्मादि देवताओं से स्तूयमान, कोटि सिद्धों से पूजित, पार्वती सहित देव को सुन्दर माला तथा वस्त्र-धारी भक्ति से नम्र हुए, देव असुरों से विशेषतापूर्वक नमस्कृत तथा आभूषणों से शोभायमान, संपूर्ण आश्चर्य वाले कान्त महेश, अविनाशी, अनेक गणों से व्याप्त, सन्तुष्ट, दोनों पुत्रों के सहित, शंकर को देख कर, विस्मय से विकसित नेत्र वाले श्री कृष्ण जी ने दोनों हाथ जोड़, प्रसन्न हो कर, कन्धे झुकाकर अनेक प्रकार की स्तुतियों से वाङ्मय सहस्र नाम से देवताओं के स्वामी श्री शिव को संतुष्ट किया। पश्चात् गन्धर्व, विद्याधर आदि देवताओं ने स्तुति की एवं दिव्य पुष्पों की वृष्टि की।

पार्वत्याश्च मुखं दृष्ट्वा भगवान्भक्तवत्सलः।
उवाच केशवं तुष्टो रुद्रश्चाय विडौजसा ॥१९॥
कृष्णं जानामि भक्तं त्वां मयिनित्यं दृढ व्रतम्।
वृणीष्व त्वं वरान्मत्तः पुण्यांस्त्रैलोक्य दुर्लभान् ॥२०॥

तब पार्वती जी के मुख को देख के भक्त वत्सल भगवान रुद्र प्रसन्न होकर श्री कृष्ण जी से बोले कि हे कृष्ण मैं तुमको

अपना भक्त जानता हूँ। तुम मेरे दृढ़ व्रत के धारण करने वाले हो मैं तुम्हारे तप से आत्यन्तिक प्रसन्न हूँ, अतएव तीनों लोकों में दुर्लभ पवित्र वर को मुझसे ग्रहण करो।

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा कृष्णः प्राञ्जलिरादरात् ।
प्राह सर्वश्वरं शम्भुं सुप्रणम्य पुनः पुनः ॥२१॥
देव देव महादेव याचेऽहं ह्युत्तमान्वरान् ।
त्वत्तोऽष्ट प्रमितान्नाथ त्वयोद्दिष्टान्महेश्वर ॥२२॥

ऐसा श्री शिवजी का वचन सुनके श्रीकृष्ण जी आदरपूर्वक हाथ जोड़ कर सबके स्वामी शिव को बारम्बार प्रणाम करके यह बोले कि हे देवों के देव ! हे महादेव ! हे नाथ ! हे महेश्वर ! मैं आपसे प्रतिज्ञा किये हुए आठ उत्तम वरों को मांगता हूँ।

तवधर्मे मतिर्नित्यं यशश्चाप्रचलंमहत् ।
त्वत्स्वामीप्यं स्थिराभक्तिस्त्वयिनित्यं ममास्त्विति ।२३।
पुत्राणि च दशाद्यानां पुत्राणां मम सन्तु वै ।
वध्याश्चरिपवस्सर्वे संग्रामे बलदर्पिताः ॥२४॥
अपमानो भवेन्नैव क्वचिन्मे शत्रुतः प्रभो ।
योगिनामपि सर्वेषां भवेयमति वल्लभः ॥२५॥
इत्यष्टौवरान्देहि देवदेव नमोस्तुते ।
सर्वेश्वरस्त्वमेवासि मत्प्रभुश्च विशेषतः ॥२६॥

नित्य आपके धर्म में मति, अटल यश, आपकी समीपता और आप में सदा स्थिर भक्ति हो। मेरे दश पुत्र हों तथा संसार

में बल से अभिमानी हमारे शत्रुओं का नाश हो। हे प्रभो! शत्रुओं से मेरा कहीं भी तिरस्कार न हो और मैं सब योगियों में अति प्रिय होऊँ। हे देवों के स्वामी! यह आठ वर आप मुझे प्रदान करो। आपको नमस्कार है। आप सबके ईश्वर हो, विशेष करके मेरे प्रभु हो, आपको बारम्बार प्रणाम है।

तस्य वचनं श्रुत्वा तमाह भगवान्भवः।
सर्वं भविष्यतीत्येवं पुनस्सप्राह शूलधृक् ॥२७॥

श्री कृष्ण का ऐसा वचन सुन के भगवान शिव उनसे यह बोले कि सब वर पूर्ण होंगे। पुनः त्रिशूलधारी शंकर ने कहा कि साम्ब नाम वाला बड़ा वली, महा पराक्रमी तुम्हारा पुत्र होगा। संवर्तक नाम वाला सूर्य ही मुनियों के शाप से मनुष्य होगा वही सूर्य तुम्हारा पुत्र होगा और तुमने जो कुछ इच्छा की है वह सब मेरे वर से प्राप्त होगें।

एवं लब्ध्वा वरान्सर्वान् श्रीकृष्णः परमेश्वरात्।
नाना विधाभिर्वह्वीभिस्स्तुतिभिस्समतोषयत् ॥३०॥

तमाहाथ शिवातुष्टा पार्वती भक्त वत्सला।
वासुदेवं महात्मानं शम्भुभक्तं तपस्विनम् ॥३१॥

वासुदेव महाबुद्धे कृष्ण तुष्टास्मितेऽनघ।
गृहाण मतश्चवरान्मनोज्ञान्भुविदुर्लभान् ॥३२॥

इस प्रकार महादेव से संपूर्ण वरों को पाकर श्री कृष्ण ने अनेक प्रकार की बड़ी स्तुतियों से शिव को सन्तुष्ट किया। तब

उन महात्मा शिव के भक्त तपस्वी श्रीकृष्ण से सन्तुष्ट हुई भक्त वत्सला पार्वती बोली कि हे महाबुद्धे ! हे वासुदेव ! हे निष्पाप कृष्ण ! मैं तुमसे प्रसन्न हूँ। अतएव पृथ्वी में दुर्लभ मुझ से दिये हुए मनोवाञ्छित सुन्दर वरों को ग्रहण करो।

इत्याकर्ण्य वचस्तस्याः पार्वत्यास्सयदूद्वहः ।
उवाच सुप्रसन्नात्मा भक्तियुक्तेन चेतसा ॥३३॥

देवित्वं परितुष्टासि चेद्ददासि वरान्हिमे ।
तपसाऽनेन सत्येन ब्राह्मणान्प्रतिमास्मभूत ॥३४॥

द्वेषः कदाचिद्भद्रंतु पूजयेयं द्विजान्सदा ।
तुष्टौ च मातापितरौ भवेतां मम सर्वदा ॥३५॥

सर्वं भूतेष्वानुकूल्यं भजेयं यत्र तत्रगाः ।
कुलेप्रसूतिरुचिता ममास्तु तव दर्शनात् ॥३६॥

ऐसे पार्वती जी का वचन सुन कर वह श्रीकृष्ण जी प्रसन्न होकर भक्ति युक्त चित्त से बोले कि हे देवी ! यदि तुम मुझसे प्रसन्न हो और इस मेरे तप और सत्य से मुझे वरदान देती हो तो मेरा ब्राह्मणों से कदापि द्वेष न हो। मैं सदा ब्राह्मणों को पूजता रहूँ। सदा मुझसे माता पिता संतुष्ट रहें। तुम्हारे दर्शन से जहाँ कहीं भी जाने पर सब प्राणियों में मेरी अनुकूलता रहे और मेरे योग्य कुल में उत्पत्ति हो।

तर्पयेयं सुरेन्द्रादीन्देवान् यज्ञशतेन तु ।
यतीनामतिथीनां च सहस्राण्यथ सर्वदा ॥३७॥

भोजये यं सदा गेहे श्रद्धा पूतं तु भोजनम् ।
बांधवैस्सह प्रीतिस्तु नित्यमस्तु सुनिर्वृतिः ॥३८॥

देवि भार्य्या सहस्राणां भवेयं प्राण वल्लभः ।
अक्षीणा काम्यता तासु प्रसादात्तव शाङ्करि ॥३९॥

आसां च पितरो लोके भवेयुः सत्य वादिनः ।
इत्याद्याः सुवरासन्तु प्रसादात्तव पार्वति ॥४०॥

मैं सदा सुरेन्द्र आदि देवताओं को तथा हजारों संन्यासी और अतिथियों को सैकड़ों यज्ञों से तृप्त करूँ। सदा उसी श्रद्धा से पवित्र भोजन करूँ। एवं नित्य कुटुम्बियों के साथ मेरी प्रीति बनी रहे। हे देवि शंकरि ! तुम्हारे कृपा-प्रसाद से मैं हजारों स्त्रियों का प्राण प्रिय भोक्ता होऊँ तथा उनमें मेरी अटल प्रीति हो और इनके पिता लोक में सत्यवादी हों इत्यादि सब वरदान तुम्हारी परम कृपा प्रसाद से मुझे प्राप्त हों।

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा देवी तं चाह विस्मिता ।
एव मस्त्विति भद्रं ते शाश्वती सर्व कामदा ॥४१॥

तस्मिन्तांश्च वरान्दत्वा पार्वती परमेश्वरौ ।
तत्रैवांतश्च दधतुः कृत्वा कृष्णस्य सत्कृपाम् ॥४२॥

श्री कृष्ण के उन वचनों को सुनकर देवी सनातनी विस्मित हुई तथा सब कामनाओं की देने वाली भगवती पार्वती ने प्रसन्न होकर श्री कृष्ण से "तथास्तु" (ऐसा ही हो) कहा। भगवान

श्री कृष्ण पर कृपा कर, उनको सम्पूर्ण वरदान देकर वह पार्वती और शिव वहीं अन्तंध्यान हो गये। पश्चात् भगवान श्री कृष्ण गुरु उपमन्यु ऋषि के आश्रम में गये और गुरु को प्रणाम कर श्री महेश्वर की कृपा का वृतान्त कहा। यह कथा शिव पुराण की उमा संहिता में विस्तार से है। भगवान श्रीकृष्ण का अपना कोई राज्य नहीं था, परन्तु तपस्या करके उमा-महेश्वर से वरदान प्राप्त कर सब कुछ पा लिया था ॥ इति ॐ ॥

योगेन्द्र विज्ञानी लिखित महायोग विज्ञान, (अष्टादश प्रकाश सम्पूर्ण) समाप्त—श्री शिवार्पणमस्तु।

गुरुवार, आषाढ़ शुक्ला गुरुपूर्णिमा, सम्वत् २०१४
११ जौलाई सन् १९५७।

★

शुद्धि—पत्र

पृष्ठ	लाईन	अशुद्ध	शुद्ध
१७	१२	तमको	तुमको
१८	१८	तुम्ह	तुम्हें
२०	१६-१७	जन्म मरण रूप दुःख की भावना नहीं करते और बाहर तीर्थों	जन्म मरण रूप दुःख की भावना नहीं करते और बाहर तीर्थों में अर्न्तयामी ईश्वर को खोजते हैं। अन्तर के तीर्थों को
३२	३	बहतो	बहती
३२	११	छुट	छूट
३३	६	अतएव जैसा पहले कहा इड़ा नाड़ी का नाम	अतएव जैसा पहले कह इड़ा नाड़ी का नाम गंग और पिंगला नाड़ी का नाम सूर्य पुत्री यमुना है। दोनों के मध्य में सुषुम्णा नाड़ी का नाम सरस्वती
३३	१५	शिव	शिव
४१	२४	वसे	वैसे
४४	४	व्यथ	व्यर्थ
५८	५	दार	दान
६२	३	कम	कर्म
६६	१८	सग	संग
६६	८	वणन	वर्णन
७६	४	य	ये
८२	४	अधिदव	अधिदैव

पृष्ठ	लाईन	अशुद्ध	शुद्ध
८२	१५	प्रकश	प्रकाश
८६	१०	अहकार	अहंकार
९५	१७	क्रियाक्रम	क्रियाकर्म
९५	२५	तमोगण	तमोगुण
९६	७	सयय	समय
९७	५	म	में
९८	१६	वथित	कथित
१००	१७	सर्वोपार	सर्वोपरि
१०२	१२	क	के
१०५	२२	जसा	जैसा
१०८	१२	नहा	नहीं
१०९	२०	तता	ततो
११३	२१	याग	योग
११७	८	जाओग	जाओगे
११८	११	पाप्त	प्राप्त
१२०	३	परिदृप्ट	परिदृष्ट
१३१	२०	यागिन्द्रः	योगिन्द्रः
१३५	६	महश्वर	महेश्वरः
१४१	२३	तारम्यता	तारतम्यता-
१५१	१३	पापा	पापों
१५५	१८	मालम	मालूम
१५७	११	शिया शील	क्रियाशील
१५८	२	छुते	छूते
१६७	२१	माग	मार्ग
१७२	१५	स्पश	स्पर्श
१७९	२०	प्रवहित	प्रवाहित
१७९	२२	मुषुम्ना	सुषुम्ना

पृष्ठ	लाईन	अशुद्ध	शुद्ध
१८१	३	ह	है
१८७	१५	श्रेशठा:	श्रेष्ठा:
१६०	३	घर्णा हिक्का	घूर्णा हिक्का
१६७	६	कुण्ठली	कुण्डली
२०६	१६	आत्ममात्र	आत्मभाव
२०७	७	शक्तिसिद्धमसिद्धार्थं	शक्तिसिद्धिमसिद्धार्थं
२११	२२	आधकारी	अधिकारी
२२०	११	के	को
२२३	६	—	हो गया
२३२	२३	समुदव:	समुद्भव:
२३८	२०	ब्राह्य	बाह्य
२५१	६	भ्रान्ति	भ्रान्ति
२५६	४	निर्दिष्ठ	निर्दिष्ट
२५८	८	विनिश्यम्	विनिश्चयम्
२६६	८	पुण्य	पुष्प
२७०	२३	सुद्रा	मुद्रा
२७२	२३	सथा	तथा
२८४	२०	औह	और
२८७	३	जप्पमेतत्सर्वं	जप्यमेतत्सर्वं
२६२	६	महाश्रेष्ट	महाश्रेष्ठ
२६२	१२	साथना	साधना
२६३	१७	वेदिक	वैदिक
२६६	५	धवत	धैवत
३००	६	सफद	सफेद
३०२	२०	साघना	साधना
३०६	८	चतन्य	चैतन्य
३१५	१७	षरब्रह्म	परब्रह्म

पृष्ठ	लाईन	अशुद्ध	शुद्ध
३१६	१२	द्वतभावना	द्वैतभावना
३२०	७	नांई	नाईं
३२०	२१	स्थल	स्थूल
३२२	७	भूचक्र	भ्रूचक्र
३२३	२३	दश्य	दृश्य
३२६	१५	उपयोग	उपभोग
३३२	१	ण्डित दोनों ही प्रदान करता है। इसलिए योग का फल भोग और	मंत्र सिद्धि होती है। क्योंकि एक मात्र योग ही भुक्ति और मुक्ति प्रदान करता है।
३३५	१०	भषेजम्	भेषजम्
३३६	२	भेजने	भजने
३४६	३	जो	दो
३५६	१	सिद्धाऽस्ति	सिद्धोऽस्ति
३६५	१६	में	से
३७२	३	म	में
३८०	२४	धारण	धारणा
३८३	७	शूय	शून्य
३८४	१	अभ्पान्तर	अभ्यान्तर
३८४	१	ध्रूमाकारन्तु	धूम्राकारन्तु
३८७	५	—	भगवान
३८७	५	—	कहिए
३८७	६	पराकश	पराकाश
३८७	१	—	बाह्यास्याभ्यान्तरे
३८७	१०	—	सबाह्यस्याभ्यान्तरे
३८६	१८	सम	समय
३६०	२२	दिवयोषधः	दिव्योषधः

पृष्ठ	लाईन	अशुद्ध	शुद्ध
४०३	१२	योंगिनः	योगिनः
४०३	१३	म	तम
४०३	२१	ब्रह्मण्ड	ब्रह्माण्ड
४०३	२२	कहाँ	जहाँ
४०३	२२	नम	नाम
४०३	२२	—	यह
४०७	१५	ब्रह्मणिसयि	ब्रह्मणिमयि
४०६	१२	रे	मेरे
४१३	३	जाबाव	जाबाल
४१३	४	नियमश्चव	नियमश्चैव
४१३	६	दैत्य	दैन्य
४१६	११	नष्ठिक	नैष्ठिक
४१३	५	विधितोक्तेन	विधिनोक्तेन
४३३	१६	वषम्य	वैषम्य
४३७	१०	धारणाय	धारणायें
४३८	१६	करत	करते
४४०	१०	धृत्तियों	वृत्तियों
४४४	६	नाड़ा	नाड़ी
४५७	६	ज्ञय	ज्ञेय
४५८	१३	न्द्र	चन्द्र
४५८	१३	सरकार	सकार
४६१	१०	प्राभ	प्राण
४६२	३	—	के
४६३	५	रने	करने
४६४	३	पुनरावृत्त	पुनरावृत्ति
४६४	१८	निरोण	निरोध

पृष्ठ	लाईन	अशुद्ध	अशुद्ध
४६०	१	विक्त	विरक्त
५०६	१५	तीक्षण	तीक्ष्ण
५१८	२	जसा	जैसा
५१८	७	चतन्य	चैतन्य
५४८	४	देत	देते

अध्यात्म योग विज्ञान ग्रन्थ माला

१. महायोग विज्ञान

ऋषिकेश स्वर्गाश्रम उत्तराखण्ड (हिमालय) के सुप्रसिद्ध पुरुष श्री १०८ योगानन्द ब्रह्मचारी जी महाराज (श्री योगेन्द्र विज्ञानी) लिखित योग, ज्ञान-ध्यान, जप-तप, पाठ-पूजन और मन्त्र-चैतन्य तथा कुण्डलिनी शक्ति जागरण से धर्म-कर्म की सत्वर सिद्धि तथा अन्तर्जगत् के अलौकिक ऐश्वर्य और दिव्य ब्रह्मज्ञान को दर्शाने वाला अध्यात्म योग विज्ञान का हिन्दी भाषा में यह अद्वितीय प्रथम ग्रन्थ है।

चतुर्थावृत्ति सम्पूर्ण १८ प्रकाश में प्रकाशित हो गई है। अच्छे कागज अच्छे टाइप में मूल्य ४०.००) रुपये।

ब्रह्मलीन श्री १०८ स्वामी विष्णुतीर्थ महाराज

(पूर्वनाम प० मुनिलाल स्वामी, B.A., LL B. वकील) द्वारा लिखित अन्य पुस्तकें—

१—शक्तिपात (तृतीयावृत्ति)

यह सूत्रात्मक ग्रन्थ परम्परागत शैवी शक्ति-सम्पात के विधान एवं योग-विज्ञान के दार्शनिक सिद्धान्तों का अपूर्व ग्रन्थ है। मूल्य ७-००।

२—शिवसूत्र-प्रबोधिनी (शक्तिपात भाग २)

'बन्धन क्या है, ज्ञान क्या है, और मुक्ति क्या है ?' आदि विषयों पर बड़ा सारगर्भित एवं संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है। स्वयं श्री स्वामी जी महाराज ने ही टीका लिखी है।

मूल्य १०-००

३—साधन-संकेत (द्वितीयावृत्ति)

यह साधन सम्बन्धी ग्रन्थ महायोग का साधन करने वाले साधकों के हितार्थ लिखा गया है। इसमें साधन-सम्बन्धी नियमों का उल्लेख है। मूल्य ३-०० रुपये।

४–DEVATMA SHAKTI (ENGLISH)

यह अपूर्व ग्रन्थ योग-शास्त्र कथिता आधारभूता कुण्डलिनी महाशक्ति के विशेष विज्ञान का है। जो लोग साधन-परायण हैं एवं अपनी साधना का उत्कर्ष करना चाहते हैं, ऐसे योग से अनभिज्ञ परमार्थ परायण आंग्ल भाषा पढ़े जिज्ञासुओं के लिए यह पुस्तक परम उपकारी है केवल अंग्रेजी भाषा में संशोधित, परिवर्धित द्वितीय संस्करण का मूल्य ३०-०० रुपये।

५—सौंदर्य लहरी (तृतीयावृत्ति)

पूज्यपाद श्री शङ्कराचार्य प्रणोत भगवती महामाया जगदम्बा की स्तुति का स्तोत्र-ग्रन्थ है जो अतीव गूढ़ एवं आध्यात्मिक भावों से परिपूर्ण है। श्री स्वामी जी महाराज ने इसकी हिन्दी में आध्यात्मिक व्याख्या की है। इसमें महामाया आद्याशक्ति कुल-कुण्डलिनी देवी के वास्तविक रूप का वर्णन किया है और मन्त्र-शास्त्र कथिता श्री विद्या के रहस्य को अच्छी तरह समझाया है। यह शक्ति-साधन का अपूर्व ग्रन्थ है। मूल्य २५) रु.

६—आत्म-प्रबोध

यह पुस्तक श्री स्वामी जी के समय-समय पर लिखे गये विविध लेखों का संकलन है। इन लेखों में साधकों के लिए मनोनिग्रह, आत्म-शान्ति, आत्म-दर्शन आदि जैसे आवश्वक तथा जटिल विषयों पर अत्यन्त सरल एव हृदयग्राही ढङ्ग से प्रकाश डाला गया है। पुस्तक साधकवर्ग के लिए पथ-प्रदर्शक का काम करती है और अतीव उपयोगी है। मू० १२-००) रुपये।

७. आत्म प्रबोध	—	१२.००
८. अध्यात्म विकास	—	८.००
९. वैदिक योग परिचय	—	१०.००
१०. प्राण तत्व	—	५.००
११. पातञ्जल योग दर्शन	—	८.००
१२. गीता तत्वा मृतम	—	३०.००
१३. प्रत्यभिज्ञा हृदयम्	—	३.००
१४. शक्तिपात प्रश्नोत्तरी	—	५.००
१५. साधन पथ	—	५.००
१६. नारायण उपदेशामृतम	—	८.००
१७. गुरु परम्परा	—	६.००
१८. योगविभूति	—	८.००
१९. सौभग्योदम्	—	८.००
२०. योगवाणी	—	१५:००
२१. गुरुवाणी	—	१०.००
२२. जपसाधना	—	१०.००
२३. षटचक्र निरूपण	—	६.००

पुस्तक प्राप्ति स्थान—

१—अध्यक्षा-विज्ञान-भवन, ४-महन्त परशुराम मार्ग, ऋषिकेश (जि० देहरादून)

२—विज्ञान प्रेस, ऋषिकेश (जि० देहरादून)

३—नारायण कुटी, देवास (मध्य प्रदेश)

४—योग श्री पीठ, मुनिकोरेती, ऋषिकेश

५—अध्यात्म निकेतन, कोटेश्वर रोड़ लश्कर (ग्वालियर) म. प्र.

मुद्रक—अजन्ता प्रिन्टर्स, लाजपतराय मार्ग, ऋषिकेश-फोन ६१६